—सस्ता साहित्य मण्डल का छठा ग्रन्थ—

भारत के स्त्री-रत्न

[रामायण और महाभारत-काल]

दूसरा भाग

अनुवादक

रामचन्द्र वर्मा : शंकरलाल वर्मा

तीसरी बार } मूल्य एक रुपया { अगस्त १९३७

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री।
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

मुद्रक,
लाला अमरनाथ गुप्त
अमरसागर प्रेस देहली।

प्रकाशक की ओर से—

'भारत के स्त्री-रत्न' का तीसरा भाग जिस सुलझे हुए ढङ्ग से और काल-क्रमानुसार निकला है, उस पर से सहज ही यह प्रेरणा हुई कि पहले के दोनों भागों को भी इसी प्रकार परिष्कृत कर दिया जाय तो ठीक होगा। अतः इस बार पहले और दूसरे भाग भी उसी ढङ्ग पर और काल-क्रमानुसार कर दिया गया है। पहले भाग में वैदिक-काल के स्त्री-रत्नों को रक्खा गया है और दूसरे में रामायण, महाभारत तथा पौराणिक-काल के विविध स्त्री-रत्नों को। इस प्रकार शुरू के तीन भागों में वैदिक-काल से जैन काल तक के चुने हुए स्त्री-रत्नों का क्रमबद्ध समावेश होगया है और अब चौथा भाग तैयार हो रहा है, जिसमें इसके बाद के चरित्रों का समावेश किया जायगा।

'भारत के स्त्री-रत्न' मण्डल की लोकप्रिय पुस्तक है, यह इसी से स्पष्ट है कि इसके पहले और दूसरे भाग का यह क्रमशः पांचवां और तीसरा संस्करण है। आज भी इसकी काफी माँग है। इसी से प्रोत्साहित होकर इस बार इन भागों को इस प्रकार परिवर्द्धित और संशोधित रूप में निकाला जा रहा है, जिससे हमें आशा है कि इनकी लोकप्रियता और माँग और भी बढ़ेगी और हमारी बहनें इनसे अपने जीवन-निर्माण में ज्यादा-से ज्यादा लाभ उठायेंगी।

मन्त्री
सस्ता साहित्य मण्डल

विषय सूची

रामायण-काल

महाभारत-काल

विविध

भारत के स्त्री-रत्न

[दूसरा भाग]

(रामायण-काल)

१

राम की माता

कौशल्या

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र की जननी कौशल्यादेवी के नाम को भारतवर्ष में कौन नहीं जानता ? यह कौशल देश के राजा की पुत्री और अयोध्या के महाराज दशरथ की पटरानी थीं। स्त्रियों के लिए पति का प्रेम सबसे बढ़कर सुख का कारण होता है, लेकिन कौशल्या को सम्पूर्ण रूप में यह सुख प्राप्त नहीं था। पतिव्रता होने के कारण इस बारे में पति से इन्होंने कभी कोई शिकायत नहीं कि, न दूसरों के आगे कभी पति की निन्दा ही की। हां, रामचन्द्र के वनवास के समय हृदय के इस दुःख का उबाल सहज ही बाहर निकल आया। था। उस समय अकस्मात् इनके मुँह से निकल पड़ा था, कि महाराज की ओर से मुझे कोई सुख नहीं मिला !

इनकी सौत कैकेयी के नौकर-चाकर इन्हें बड़ा तंग करते थे। इस सम्बन्ध में एक बार इन्होंने यहांतक कह डाला था, कि 'स्वामी प्रतिकूल हैं, इससे कैकेयी के नौकर मुझे बड़ा सताते हैं। स्त्रियों के लिए अपनी सौत के तानों और अपमान से बढ़कर भला और क्या दुःख हो सकता है ? फिर जो मेरी सेवा करती हैं उन्हें हमेशा कैकयीके गुस्से से भयभीत रहना पड़ता है। मैं तो कैकेयी की

बाँदी-सरीखी हो रही हूँ—नहीं-नहीं, उससे भी गई-गुजरी हूँ।'
निश्चय ही माता कौशल्या ने ये बातें बड़े दुःख के साथ कही थीं।

परन्तु इस दुःख में उन्हें यदि कोई सुख प्राप्त था तो वह रामचन्द्रजी सरीखे उत्तम पुत्र की प्राप्ति का था। यह सुख भी सहज ही नहीं मिल गया था। पुत्र के लिए इन्होंने बड़ी तपस्या की थी और अनेक शारीरिक कष्ट सहे थे। रामायण के आदि-काण्ड (बालकाण्ड) से मालूम होता है कि पुत्र-प्राप्ति के लिए एक बार सारी रात इन्होंने इष्टदेव की सेवा में जागते हुए ही बिता दी थी। रात-दिन तप और उपवास में रहने वाली इस विदुषी का स्वभाव शान्त, नम्र, मधुर और कोमल था। बहन की भांति बर्त्ताव रखकर नादान कैकेयी की निष्ठुरता को इन्होंने बहुत-कुछ दूर कर दिया था। क्षमाशील कौशल्या ने कैकेयी के अनेक अत्याचारों को सहा था—और, सबसे बड़ी बात तो यह थी कि स्वामी के ऊपर कैकेयी ने जो एकाधिपत्य कर रक्खा था उसे भी चुपचाप बरदाश्त करके कैकेयी के प्रति इन्होंने छोटी बहन जैसा ही प्रेम रक्खा था। इनका सारा समय पूजा-पाठ और व्रत-उपवास में ही व्यतीत होता था। स्वामी का आदर प्राप्त न होने से परम-पिता जगदीश्वर के चरणों में ही इन्हें शान्ति मिलती थी। जगत् में इनके लिए शान्ति नहीं थी; पर जो अनाथों का नाथ अपने स्नेह-रूपी कोमल बाहु से दुःखियों को छाती से लगाता है, कौशल्या ने उस परम-करुणामय भगवान् का ही आश्रय लिया था। यही कारण था कि संसार के अनेक दुःख पड़ने पर भी इनके स्वभाव में कठोरता-कटुता नहीं आई थी। रामायण में कौशल्या को रात-दिन देवताओं की सेवा में ही लगी रहते देखकर यही

प्रतीत होता है मानों संसार के दुःखों से बचने ही के लिए यह भगवान की आराधना में अपना समय बिताती थीं।

इस दुखिया माता के लिए यही एकमात्र सुख था कि इन्हें रामचन्द्रजी जैसा पुत्र मिला था। जिस दिन रामचन्द्रजी ने इन्हें अपने राज्याभिषेक की खबर सुनाई उस दिन इन्होंने बड़े प्रेम से देवताओं की पूजा की थी। उस दिन इन्होंने सोचा, कि आज मेरा पूजा-पाठ सार्थक हुआ है। रामचन्द्र में दूसरे बहुतसे गुण होने पर भी यह तो उनके इसी गुण को सबसे बढ़कर समझती थीं कि पिता उन्हें (राम को) चाहने लगे हैं। इस गुण को याद करके ही इन्होंने रामचन्द्रजी से कहा था - "पुत्र ! तूने बड़े शुभ समय में जन्म लिया है जो अपने गुणों से महाराज दशरथ को अपने पर प्रसन्न कर लिया।" राजा दशरथ का प्रेम प्राप्त करना कितना अलभ्य था, इसका अनुभव कौशल्या अपनी जन्म-भर की तपस्या से कर चुकी थीं; इसीलिए वही इसका पूरा मूल्य जान सकती थीं। इसीलिए शुभ अभिषेक की खबर पाकर खुशी के मारे जो आंसू निकले उन्हें पोंछकर इन्होंने पुत्र को आशीर्वाद दिया।

आज राम के राज्याभिषेक का दिन है। अनेक वर्षों में आज प्रेमपूर्वक इस उत्सव में उपस्थित होने का निमंत्रण मिला है। पर गम्भीर कौशल्यादेवी इससे उछल न पड़ीं, खुशी के मारे ओत-प्रोत नहीं हो गईं, प्रत्युत इस दिन भी उन्होंने मामूली गहने-कपड़े पहन कर ही अपने हृदय की खुशी को जाहिर किया। ग़रीबों, ब्राह्मणों और भिखारियों को इन्होंने दान दिया और पुत्र के मंगल के लिए पवित्र पीताम्बर धारण करके अग्नि में आहुति देने लगीं।

देवताओं की पूजा करने से धर्मिष्ठा कौशल्या की सब मनोकामना पूर्ण हुई और अब वह और भी जोरों से देवार्चन में लग रही थीं।

परन्तु युवराज्याभिषेक के शुभ दिन ही पिता ने रामचन्द्रजी को अयोध्या से चले जाने की आज्ञा दी! तब, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर, माता से अन्तिम विदा लेने के लिए रामचन्द्रजी अन्तःपुर में गये। पुत्र-वत्सल कौशल्या सारी रात जागरण करके प्रातःकाल पुत्र के कल्याण के लिए विष्णु-पूजा कर रही थीं। इस समय वह सादे कपड़े पहने हुए थी और मंगलाचरण करके हवन कराने में निमग्न थीं। जिस वक्त राम ने प्रवेश किया,वह अग्नि में आहुतियाँ दे रही थीं। दही, दूध, अक्षत, घी, शकर, तिल, जौ आदि पूजा की सब चीजें तैयार रक्खी हुई थीं। रामचन्द्र ने माता को सफेद कपड़े पहने, दुर्बल शरीर और तपःपरायण दशा में देखा। जिस पुत्र के मंगल के लिए कौशल्या पूजा-पाठ और होम-हवन कर रही थीं उसी प्यारे पुत्र को अपने सामने खड़े देखकर उन्हें बड़ी खुशी हुई। रामचन्द्र ने जब प्रणाम किया तो माता कौशल्या ने आलिंगन करके उनका मस्तक सूँघा और आशीर्वाद देकर आसन पर बैठाते हुए भोजन के लिए आग्रह किया। पर रामचन्द्रजी ने जवाब दिया, "मैं तो दण्डकारण्य जाता हूँ, इसलिए आपसे विदा होने आया हूँ। माता! आप, सीता और लक्ष्मण पर बड़ी विपत्ति आ पड़ी है; पर आपको उसका कुछ भी पता नहीं है। मैं आज से वनवासी होनेवाला हूँ, तो फिर यह आसन कैसे स्वीकार करूँ? मेरा तो कुशासन पर बैठने का समय आ गया है। अब तो मुझे मुनियों की तरह रह कन्दमूल और फल-फूल खाकर चौदह बरस तक बाहर रहना

पड़ेगा। महाराज मुझे निर्वासित करके भरत को राजसिंहासन पर बैठाते हैं; मुझे चौदह वर्ष तक बनवास करना पड़ेगा।"

कुल्हाड़ी का प्रहार होने पर कोमल वृक्ष की जो दशा होती है, इस बात को सुनकर कौशल्या की भी वैसी ही दशा हुई। स्वर्गभ्रष्ट देवता की भाँति वह एकदम जमीन पर गिर पड़ीं और बेहोश होगईं। रामचन्द्रजी ने अपने कोमल हाथों से शुश्रूषा करके उन्हें बैठाया।

खूब विलाप कर लेने पर जब कौशल्या का चित्त कुछ स्थिर हुआ तो रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़कर कहा—"माता! आप व्याकुल न हों, प्रसन्न मन से मुझे आशीर्वाद दीजिए, जिससे वन में जाकर मैं राजी-खुशी रहूँ। मां! प्रेम के वश होकर आप डरिए नहीं, आपकी कृपा से वन में भी आनन्द ही होगा और चौदह बरस बन में रहकर, पिताजी का वचन पालन करके, आपके देखते-देखते मैं वापस आकर आपके चरणों के दर्शन करूंगा।"

पुत्र की ऐसी कोमल और मीठी बातें सुनकर माता शान्त हो गईं। उनके हृदय का दुःख वर्णनातीत था। वह थर-थर काँपने लगीं। पर पुत्र का मुख देख अन्त में धीरज धर गद्-गद् स्वर से बोलीं—"पुत्र! तुम तो अपने पिता को प्राणों के समान प्यारे हो और वह सदैव तुम्हारे काम देख-देखकर प्रसन्न होते हैं। उन्होंने ही तुम्हें राज्य देने के लिए शुभ दिन निश्चित किया था। ऐसी दशा में किस अपराध पर वन जाने के लिए कहा? बेटा! मुझे इसका असली कारण तो समझाओ। सूर्यवंश के लिए कौन आग बना है?"

तब रामचन्द्रजी ने विस्तार से सब बात कही। अब तो कौशल्या धर्म-सङ्कट में पड़ गईं। धर्म और स्नेह दोनों ने उनकी

बुद्धि को घेर लिया। इस समय उनकी हालत साँप-छछून्दर की सी हो रही थी। वह सोचने लगीं, कि अगर आग्रह करके पुत्र को रखती हूँ तो धर्म जाता है और भाइयों के साथ पुत्र की दुश्मनी होती है, और बन जाने को कहती हूँ तो भी बड़ा नुक़सान होता है। अन्त में धर्म की ही विजय हुई। चतुर रानी कौशल्या ने धीरज धरकर कहा—"बेटा! जाओ। तुम्हारी बला-बला मैं अपने ऊपर लेती हूँ। तुमने जो सोचा है, वह ठीक ही है। पिता की आज्ञा का पालन करना ही सबसे बड़ा धर्म है। बेटा! तुम्हें राज्य देने के लिए कहा था, पर दिया गया बन; इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मुझे तो सिर्फ इसी बात का दुःख है कि तुम्हारे बिना भरत, महाराज और सारी प्रजा को बड़ा दुःख होगा। इसलिए बेटा! अगर अकेले पिता ने ही बन जाने को कहा हो, माता ने नहीं, तो माता को पिता से बड़ी मानकर तुम बन में मत जाओ; पर अगर माता§पिता दोनों ने आज्ञा दी है तो तुम्हारे लिए बन भी अयोध्या जैसा ही है। बन के देवता तुम्हारे पिता हैं और वनदेवियां माता; पक्षी, मृग आदि तुम्हारे कमल-रूपी चरणों के सेवक होंगे। राजाओं को अपनी अन्तिम अवस्था (बुढ़ापे) में बनबास करना चाहिए, पर तुम्हारी तो अभी प्रथमावस्था (बालपन) ही है; इससे मेरा जी घबराता है। हे रघुकुल-तिलक! तुम जिस

§ यहाँ माता-पिता शब्द से कौशल्या का मतलब कैकेयी और दशरथ से है। कौशल्या के कैकेयी की बात को अधिक महत्त्व देने का कारण शास्त्र की यह आज्ञा है 'कि मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा' अर्थात् धर्म से डर कर चलनेवाले को चाहिए कि अपनी सौतेली माँ को अपनी सगी मां से भी दसगुना अधिक सम्मान करे।

जङ्गल में जाओगे वह जङ्गल भाग्यवान होगा और यह अयोध्या तुम्हारे न रहने से भाग्यहीन बन जायगी। पुत्र! तुम सबको बड़े प्यारे हो; सबके प्राणों के प्राण और जीवों को जिलानेवाले हो। ऐसे तुम खुद ही जब यह कह रहे हो कि 'मां! मैं बन जाता हूं,' तब मुझे बड़ा दुःख होता है; पर इसलिए झूठा स्नेह बढ़ाकर मैं तुम्हें रहने का आग्रह नहीं करती। बेटा! माता के सम्बन्ध को बलवान मानकर तुम मेरी खबर लेना मत भूलना।

देव पितर सब तुम्हहिं गुसाईं। राखहिं नयन पलक की नाईं॥
अवधि अम्बु प्रिय परिजन मीना। तुम करुणाकर धरम-धुरीना॥

बेटा! पलकें जैसे आँखों की रक्षा करती हैं, वैसे ही देवता और पितृ तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुम दयालु और धुरन्धर हो। इसलिए ऐसा उपाय करना कि सबके सामने ही तुम वापस आ मिलो। क्योंकि जैसे मछलियाँ पानी के बिना नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार बनवास की अवधि खतम होने पर प्रिय कुटुम्बी-जन मर जायँगे। पुत्र! मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ। प्रजा, कुटुम्बियों और शहर को छोड़कर सुख के साथ तुम बन जाओ।"

इस समय उनके हृदय में असह्य दारुण वेदना हो रही थी। रामचन्द्रजी ने अनेक प्रकार मीठी-मीठी बातें कहकर उन्हें समझाया। इतने में सीताजी वहां आ पहुँचीं और उन्होंने भी पति के साथ बन में जाने का विचार प्रकट किया। यह देख कौशल्या का जी फिर भर आया। सीता उन्हें कितनी अधिक प्रिय है, बचपन से ही वह कितने लाड़-प्यार में पली है, वह कितनी सुकुमार है, इन सब बातों को बताकर वह कहने लगीं—"रघुनाथ! यह सीता आज तुम्हारे साथ बन जाना चाहती है। इसे तुम

क्या कहते हो ?" इसपर रामचन्द्रजी ने सीता को बहुतेरा समझाया कि यह सास-ससुर के पास अयोध्या ही में रह जाय। पर उसने किसी भी तरह नहीं माना। तब माता कौशल्या ने पुत्र को यह अन्तिम आर्शीर्वाद दिया:—

बेगि प्रजा दुःख मेटहु आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥
फिरहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी॥
सुदिन सुघरि तात कब होयहि। जननी जिअत बदन बिधु जोयहि॥
बहुरि वच्छ कहि, लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बुलाइ लगाइ हिय, हरषि निरखिहऊं गात॥

सीताजी को भी उन्होंने आशीर्वाद दिया और कहा—"जबतक गंगा और जमुना में जल बहता रहे, तबतक तुम्हारा सौभाग्य भी अचल रहे। बेटी! तुम बड़ी समझदार और सयानी हो, तुम्हें विशेष कहने की जरूरत नहीं; सिर्फ इतना ही याद रखना कि पतिव्रता स्त्रियां अपने पति को ही पूजनेयोग्य देवता के समान मानती हैं। पतिव्रता स्त्रियां निरन्तर अपने शील की रक्षा करती हैं, सच बोलती हैं और गुरुजनों के उपदेशानुसार व्यवहार करती हैं। वे अपने कुल की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करतीं। हे जनक-नन्दिनी! मेरा राम इस समय दरिद्र दशा में है, फिर भी तुम्हारे लिए पूज्य है। उसकी अवज्ञा कभी भी न करना। अच्छा जाओ! जहां रहो, परमात्मा तुम्हें सुखी रक्खें।"

सीताजी ने हाथ जोड़कर सास की आज्ञा शिरोधार्य की और उसीके अनुसार चलने का विश्वास दिलाया। तदुपरान्त तीनों जने (राम, लक्ष्मण और सीता) बन को चल दिये। इसी समय पुत्र-विरह से व्याकुल हो, रानी कैकेयी का अत्यन्त तिरस्कार

करके, महाराज दशरथ रानी कौशल्या के अन्तःपुर में पहुँचे। उन्हें देख रानी कौशल्या का पुत्र-वियोग का दुःख फिर उमड़ आया और वह रोते-रोते कहने लगीं:—

"स्वामी! तीनों लोकों में दयालु, दानशील और प्रियवादी के रूप में तुम्हारी बड़ी कीर्त्ति है। मनुष्यों में तुम श्रेष्ठ हो। फिर तुमने पुत्रवधू सीता सहित अपने पुत्र को बनवास कैसे दिया? सीता अभी बच्ची है, वह तो हमेशा सुख और वैभव ही भोगने के योग्य थी। कोमल शरीरवाली इस जनकनन्दिनी जानकी से जंगल के कष्ट कैसे सहे जायँगे? अरे! उसने तो सदैव स्वादिष्ट भोजन ही किया है; उससे अब जंगल में पैदा होनेवाली रूखी-सूखी चीजें कैसे खाई जायँगी? इस कल्याणी ने निरन्तर गीत और बाजे सुने हैं, उससे अब जंगल के शेर आदि फाड़ खानेवाले जानवरों की भयानक गर्जना कैसे सुनी जायगी? मेरा पराक्रमी राम अब अपनी पुष्ट भुजा को ही तकिये की जगह सिरहाने लगाकर सोवेगा। हा! राम का मुँह फिर कब देखूँगी? निस्सन्देह मेरा हृदय भी वज्र का ही बना हुआ है, क्योंकि राम के वियोग से अभीतक भी उसके टुकड़े-टुकड़े नहीं हो गये। महाराज! जरा सोचिए तो, कि वृद्ध-जनों की सलाह लिये बिना ही आपने यह क्या कर डाला है? कैकेयी के कहने में आकर बिना सोचे-विचारे ही आपने राम, लक्ष्मण और जानकी को बनवासी बना दिया है। प्राणनाथ! इस प्रकार धर्म की उपेक्षा करके आपने मुझे भी निराधार कर दिया है। क्योंकि शास्त्रों में स्त्री के लिए तीन ही गति बताई हैं—पति, पुत्र और जाति। इसके सिवा चौथी कोई गति नहीं। इसमें पहली गति तो आप हैं ही, जो कैकेयी के वश

में होने से मेरे नहीं रहे; दूसरी गति राम को आपने जंगल में भेज दिया है; रही तीसरी गति, सो जाति के सगे-सम्बन्धी यहां मेरे कोई हैं ही नहीं । अतः सब तरह से आपने मुझे निराधार कर दिया है।"

शोकातुर कौशल्या के बिलाप और उपालम्भ को सुनकर महाराज दशरथ के हाथ-पाँव फूलने लगे। उन्हें बड़ा पछतावा होने लगा। यहांतक कि नीचा मुँह करके और हाथ जोड़ कर वह कौशल्या से कहने लगे—"कौशल्या! इसके लिए मैं हाथ जोड़ता हूँ। दूसरों पर भी तू हमेशा स्नेह और दया रखती है, फिर मैं तो तेरा पति हूँ। सदैव धर्म में लगी रही है। अच्छे और बुरे को समझती रही है। यद्यपि इस समय तुझे बड़ा धक्का लगा है, तथापि मेरे दुःखी जी को ऐसी दशा में जले पर नमक लगाना तुझे उचित नहीं।"

कौशल्या जैसी सती को पति की ऐसी दीन और करुणापूर्ण बात सुनकर पिघलते क्या देर लगती? टूटे-फूटे छाजन में से जैसे बरसात का पानी चू पड़ता है, उसी प्रकार उनकी आँखों से टपाटप आंसू गिरने लगे। स्वामी के जोड़े हुए हाथों को प्रेम और भक्ति के साथ अपने सिर पर रखकर गद्गद्-स्वर से वह कहने लगी—"देव! मैं जमीन पर पड़कर साष्टांग प्रणाम करके आपसे क्षमा माँगती हूँ। आप मुझसे क्षमा माँगने लगे, इससे मेरे पतिव्रत-धर्म को लाञ्छन लगा है; क्योंकि आपके लिए मुझसे क्षमा माँगना उचित नहीं। इस लोक और परलोक दोनों में स्त्री के लिए स्वामी बड़े गौरव की चीज है। स्वामी जिस स्त्री की इस प्रकार दीनता करे वह कभी अच्छे घर की कन्या नहीं कहला

सकती। हे स्वामी ! मैं इस धर्म को जानती हूँ; साथ ही मैं यह भी जानती हूँ कि आप सत्यवादी हैं; मेरे मुँह से ये जो अनुचित बातें निकल पड़ी हैं, वे सिर्फ पुत्र के शोक में विकल होने ही के कारण, शोक से धीरज और ज्ञान का नाश हो जाता है। ज्यादा क्या कहूँ, शोक से सर्वनाश तक हो जाता है। शोक सरीखा अत्याचारी शत्रु दूसरा कोई नहीं। आदमी शत्रु के प्रहार को सह सकता है, पर एकाएक आ पड़नेवाले शोक के ज़रा से प्रहार को वह नहीं सह सकता।"

रानी कौशल्या के इस प्रकार क्षमा माँगने से राजा दशरथ के हृदय को कुछ शान्ति मिली और स्वस्थ चित्त होकर वह सो गये। बाद में पुत्र-विरह से बीमार पड़े हुए राजा ने अपना अन्तिम समय कौशल्या के महल में ही बिताया। पति की बीमारी में उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में कौशल्या ने कोई कसर न रक्खी। पुत्र-शोक से व्याकुल होकर मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए पति को कौशल्या ने धैर्य धारण करने की भी सलाह दी। उन्होंने कहा:—

"नाथ समुझि मन करिय बिचारू। राम-बियोग पयोधि अपारू॥
करुणाधार तुम अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिय तो पाइय पारू। नाहित बूड़िहि सब परिवारू॥
जो जिय धरिय बिनय पिय मोरी। राम-लखन-सिय मिलहिं बहोरी॥"

पर राजा दशरथ पर पुत्र के वियोग का बड़ा गहरा असर हुआ था, इसलिए कौशल्या के आश्वासन का असर उनपर कुछ ही देर रहा और अन्त में सबको शोक-सागर में डुबाकर उन्होंने शरीर त्याग दिया। रात को जिस समय राजा दशरथ की मृत्यु हुई, उस समय कौशल्या को नींद आ गई थी। इससे उसी वक्त उन्हें पति

के मरने का पता न चला। सुबह जब उन्हें इस शोकमय अवस्था का पता लगा, तो उनका मुँह फीका पड़ गया। निस्तेज, विवर्ण और शोक से भरी हुई कौशल्या अन्धकार से छाये हुए तारों की नाईं शोभाहीन हो गईं। इसी समय और रानियाँ भी वहाँ आ पहुंचीं। कौशल्या ने स्वामी का सिर अपनी गोद में ले लिया और हृदय-विदारक विलाप करने लगीं। इसी समय भरतजी वहां आ पहुँचे। अभीतक जो-कुछ हुआ, उसकी उन्हें कुछ खबर न थी। कौशल्या ने स्त्री-स्वभाव के अनुसार पहले तो भरत को खूब ताने दिये; पर जब राम के प्रति भरत के प्रेम का उन्हें पता लगा, तो बड़े स्नेह के साथ भरत को उन्होंने अपनी गोद में बैठा लिया और जोर-जोर से रोने लगीं। फिर तो अयोध्यावासियों को साथ लेकर जब भरत राम को वापस ले आने के लिए गये, उस वक्त भी कौशल्या उनके साथ ही थीं। शृङ्गवेरपुरी में जिस जगह रामचन्द्र जी घास के बिछौने पर सोये थे उसे देखकर भरत बेहोश हो गये थे; तब कौशल्या ने ही शुश्रूषा की थी और प्रेम के साथ पूछा था—"बेटा! तुम्हें कोई बीमारी तो नहीं है? राम तो लक्ष्मण को लेकर बन में चले गये; अब तो तुम्हारा ही मुँह देखकर जी रही हूँ।"

चित्रकूट पर्वत पर रामचन्द्रजी के साथ जब इनका मिलाप हुआ, तो सीता को देखकर इन्होंने खूब विलाप किया था।

रामचन्द्रजी ने इङ्गुदी फल से पिता का पिण्डदान किया था। उस समय दूब के ऊपर इंगुदी का पिण्ड देखकर सती कौशल्या का हृदय भर आया था। यहांतक कि विलाप करते हुए इन्होंने यह भी कहा था कि—' आज राम ने इंगुदीफल से पिता का पिण्ड-दान किया है, यह दृश्य मुझसे नहीं देखा जाता; क्योंकि जो इन्द्र के

समान पराक्रमी महाराज दशरथ समुद्र-पर्यन्त राज्य कर चुके हैं, वह भला इंगुदीफल कैसे खायँगे? रामचन्द्र ने पिता को इंगुदी-फल का पिण्डदान किया है, यह मेरे लिए बड़े दुःख की बात है।"

कौशल्या का चरित्र मानों भारत की आदर्श जननी एवं आदर्श महिला का चरित्र है। क्योंकि आज भी हरेक गाँव में हिन्दू बालक माता से यह स्नेह और आत्मत्याग पाकर कृतार्थ होते हैं। आज भी भातवर्ष में सैकड़ों कौशल्या हैं। भगवान करें कि श्री रामचन्द्र की तरह कर्तव्य-पालन का कठिन प्रसङ्ग आ पड़ने पर आजकल की माता भी अपने पुत्रों को यही उपदेश दें—

न शक्यते वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रञ्च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
सर्वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥

अर्थात्—"हे पुत्र! तुझे मैं किसी तरह रोक नहीं सकती। अब तो तू जा, पर वापस जल्दी आना; और सत्पुरुषों के मार्ग पर चलना। प्रेम और नियम के साथ तू जिस धर्म का पालन करने में प्रवृत्त हुआ है, वही धर्म तेरी रक्षा करेगा।"

२

लक्ष्मण-जननी

सुमित्रा

जिस सुमित्रा ने लक्ष्मण जैसे पुत्र को जन्म दिया उसके असाधारण आत्म-विस्मरण और आत्म-त्याग का भी कभी किसीने विचार किया है ? रामायण पढ़कर कौशल्या और सीता की कथाओं पर तो हम अनेक बार विचार करते हैं; पर मनुष्य के रूप में देवी-स्वरूप महानुभावा सुमित्रा की कथा पर जितना चाहिए उतना ध्यान कौन देता है ?

सुमित्राजी तो अपने महत्व को अपने तक ही रक्खे हुए रामायण के एक कोने में ऐसी छिपी पड़ी हैं जैसे लक्ष्मीजी समुद्र-तल में। वाल्मीकि मुनि तक उन्हें भूल गये हैं। परन्तु सच तो यह है कि राम के सुख में सुखी, दुःख में दुःखी, उनके भले में अपना भला और अनिष्ट में अपना अनिष्ट माननेवाले लक्ष्मण ने जिस प्रकार अपने-आपको भुलाकर जीवनभर अपने बड़े भाई राम की सेवा की है, वैसे ही उनकी जननी सुमित्राजी ने भी अपने स्वार्थ या सुख की ज़रा भी परवा न करते हुए अपनी सौत और सौत के पुत्र के लिए ही अपनी जिन्दगी बिताई है।

राजा दशरथ कौशल्या का तो पटरानी के रूप में सम्मान करते थे और कैकेयी को सुन्दरी समझकर चाहते थे, पर बेचारी सुमित्रा पर तो उन्होंने कभी कोई ख़ास प्रेम प्रकट नहीं किया।

मगर पति के स्नेह से वञ्चित होने पर भी सुमित्रा ने अपनी सौत कौशल्या और कैकेयी के साथ कभी ईर्षा नहीं की। उनके प्राणों से प्यारे दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न सदा दास की तरह राम और भरत की सेवा में रहते; पर सुमित्रा इसपर कभी बुरा न मानतीं। यही नहीं, बल्कि अपने पुत्रों को उपदेश जो करतीं वह भी यही कि बड़े भाइयों की सेवा हमेशा करनी चाहिए। भला सुमित्रा जैसी जननी न होती तो क्या लक्ष्मण और शत्रुघ्न जैसे पुत्र उत्पन्न होते?

और सुनिए। रामचन्द्रजी के वनवास की ख़बर जब कौशल्या ने सुनी, तो शोक से वह जमीन पर गिर पड़ीं और दशरथ की निन्दा करने लगीं; यहांतक कि उनके रुदन से राजधानी भर में हाहाकार मच गया। पर लक्ष्मण वन जाते वक्त जब माता से विदा होने लगे, तो उनकी माता सुमित्राजी ने क्या कहा? उन्होंने कहा "बेटा! तू बचपन से ही राम पर बड़ा प्रेम करता रहा है। इसलिए आज राम के साथ वन जाने की, मैं तुझे बड़ी खुशी से आज्ञा देती हूँ। बड़े भाई की सेवा करना ही छोटे भाई का धर्म है, और मैं चाहती हूँ कि इस धर्म को निभाकर तू अपने जीवन को सफल करे। अतः वन में राम की सेवा और रक्षा करने में तू कभी आनाकानी न करना। धर्म का पालन और युद्ध में प्राण विसर्जन करना तो इक्ष्वाकु-वंश में जन्म लेनेवाले वीर पुरुषों का वंश-परम्परा से ही व्रत और कर्तव्य रहा है। इस व्रत और कर्तव्य को तू निभाना। राम को दशरथ के समान मानना, सीता को मेरे समान, और घोर वन को भी अयोध्या समझना। जा, बेटा! खुशी से वन को जा।"

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम् ॥

यह सुन्दर श्लोक लक्ष्मण के साथ सुमित्रा की आखिरी बात थी।

सुमित्रा ने लक्ष्मण को जो उपदेश किया, भक्त-कवि तुलसीदासजी ने उसे बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। उनके शब्दों में, सुमित्रा लक्ष्मण से कहती हैं:—

तात तुम्हार मातु वैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहाँ राम-निवासू । तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू ॥
जो पै सीय राम बन जाहीं । अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥
गुरु-पितु-मातु-बंधु-सुर-साईं । सेइहि सकल प्रान की नाईं ॥
राम प्राण प्रिय जीवन जी के । स्वारथ-रहित सखा सब ही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते । सब मानिअहिं राम के नाते ॥
अस जिय जानि संग बन जाहू । लेहु तात जग जीवन लाहू ॥
भूरि भाग भाजन भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ ।
जो तुम्हरे मन छांड़ि छल, कीन्ह राम पद ठाउँ ॥
पुत्रवती जुवती जग सोई । रघुपति-भक्त जासु सुत होई ॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू । राम-सीय-पद सहज सनेहू ॥
राग-रोष-ईर्ष्या-मद-मोहू । जनि सपनेहु इन्हके बस होहू ॥
सकल प्रकार विकार बिहाई । मन-क्रम-वचन-करेहु सेवकाई ॥
तुम कहँ बन सब भाँति सुपासू । संग पितु-मातु राम-सिय जासू ॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥
उपदेश यह जेहि तात तुम्हते राम-सिय सुख पावहीं ॥
पितु-मात प्रियपरिवारु-पुर-सुख सुरति बन बिसरावहीं ॥

इस प्रकार उपदेश देकर माता सुमित्रा ने अपने पुत्र लक्ष्मण को राम के साथ वन में जाने की आज्ञा दी और यह अशीर्वाद दिया:—

रति होउ अविरल अमल सिय-रघुवीर-पद नित-नित नई।

(अर्थात्—सीता और राम के चरणों में तेरा अत्यन्त शुद्ध और नित्य नया प्रेम बढ़े।)

राम के वन में चले जाने पर कौशल्या ज़मीन पर पड़कर रात-दिन रोने और विलाप करने लगीं। यहाँतक कि नगर की अन्य स्त्रियां भी उनके पास आ इकट्ठी हुईं और हाहू करने लगीं। नगरभर में कुहराम मच गया। पर सुमित्रा ने, इसके विपरीत, कौशल्या को ढाढस बँधाया। वह बोलीं—"जीजी! तुम्हारे सर्वगुण-सम्पन्न बेटे पुरुष-श्रेष्ठ राम अपने पिता की बात को निभाने ही के लिए, हाथ में आये हुए राज्य को छोड़कर, वन गये हैं। उनके इस महान् कार्य से सारी दुनिया में उनकी अक्षय कीर्ति होगी। उनके नाम से रघुवंश धन्य होगा। बहन, इससे ज्यादा राम का तुम और क्या कल्याण चाहती हो? ऐसे पुत्र के भाग्य से तो तुम्हें भाग्यवान होना चाहिए। पुत्र के महत्त्व से खुश होना चाहिए। इसके बजाय, दीन मनुष्य की तरह तुम रो क्यों रही हो? रही पतिव्रता सीता, सो वह भी बनवास में होनेवाले अनेक कष्टों को जानते हुए अपनी खुशी से स्वामी के साथ गई है; उसके लिए भी शोक क्यों? तुम तो सबसे बड़ी हो, फिर इस राज्यगृह की गृहिणी भी हो; तुम्हें तो सबको धीरज बँधाना चाहिए। इसके विपरीत तुम खुद ही आकुल-व्याकुल होकर रोने बैठी हो! भला जीजी, क्या यह बात तुम्हें शोभा देती है?

"तुम्हें भय क्या है ? रामचन्द्र महापराक्रमी हैं। हथियार चलाने में उनके समान होशियार दूसरा कोई नहीं। फिर महावीर धनुर्धारी लक्ष्मण उनके साथ है। ऐसी हालत में वन में उन्हें किसी तरह का कष्ट होने की संभावना नहीं। एक सूरज से दूसरा सूरज तेज हो सकता है; एक आग से दूसरी आग श्रेष्ठ हो सकती है; एक जमीन से दूसरी जमीन बड़ी हो सकती है; एक देवता से दूसरा देवता बड़ा हो सकता है; लक्ष्मी, कीर्ति और क्षमा में एक प्राणी से दूसरा प्राणी श्रेष्ठ हो सकता है; पर तुम्हारे राम से बढ़कर श्रेष्ठ मनुष्य पृथ्वी में नहीं हो सकता। अतः रोओ मत, न किसी तरह का भय या सोच करो। पुत्र के महत्व का स्मरण करके धीरज रक्खो। चौदह वर्ष के बाद तुम्हारे राम सज-धजकर आयेंगे और तुम्हारी गोद में बैठेंगे।"

रामायण में सुमित्रा के बारे में इसके आगे और कोई कथा नहीं मिलती। परन्तु उनके चरित्र की महत्ता प्रकट करने के लिए ये दो कथायें ही कुछ कम नहीं हैं। रामायण की इन दो कथाओं से ही इस संसार में सुमित्रा का नाम और गौरव चिर-स्थायी रहेंगे। क्योंकि इन दो बातों से ही यह तो स्पष्ट है कि वह लक्ष्मणजी की सुयोग्य जननी थीं।

३

भरत-माता

कैकेयी

भारत के स्त्री-रत्नों में कैकेयी की गिनती करते देखकर हमारी कितनी ही बहनों को आश्चर्य होगा। क्योंकि श्री रामचन्द्रजी जैसे सद्गुणों के भण्डार-रूप पुत्र का जीवन दुःखमय कर देने वाली रानी कैकेयी के प्रति भारत के स्त्री-पुरुषों में साधारणतः एक प्रकार का तिरस्कार-भाव बना हुआ है, जिसके कारण कैकेयी के गुणों की ओर वे उपेक्षा-भाव रखते हैं। कैकेयी कोई देवी न थी, मनुष्य ही थी। मनुष्य-स्वभाव में कमजोरियाँ रहती ही हैं, कैकेयी के स्वभाव में भी एक तरह की दुर्बलता थी। ये सब बातें हम भी स्वीकार करते हैं। परन्तु, हमारे विचार में, इस दुर्बलता के कारण भारत की वर्तमान बहनों के लिए उनका चरित्र और भी मनन करने योग्य हो जाता है। महर्षि वाल्मीकि ने अपनी प्रवाह-पूर्ण सुन्दर वाणी से रामायण में जिन चरित्रों का वर्णन किया है, उनमें हरेक से हमें कुछ-न-कुछ शिक्षा मिलती है। वैसे ही कैकेयी के चरित्र से भी निःसन्देह हमें बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है।

रामायण पढ़नेवाले सब कोई इतना तो अवश्य जानते हैं कि रानी कैकेयी राजा कैकय की पुत्री और अयोध्यापति राजा दशरथ की छोटी रानी थीं। महाराज दशरथ इनका स्वयंवर विवाह

करके इन्हें लाये थे। इनके प्रेम में महाराज दशरथ लीन हो गये थे। पर वह केवल इनके अनुपम सौन्दर्य के ही कारण नहीं, वरन् इनकी असाधारण बुद्धिमत्ता, चतुरता, निर्भयता आदि गुणों के कारण। पिता ने इन्हें उच्चकोटि की शिक्षा देने में कोई कमी न रक्खी थी। घर-गृहस्थी के काम में तो यह प्रवीण थीं ही, साथ ही पति-वत्सला भी बहुत थीं। अपने प्रेम तथा कार्य-कुशलता से ही इन्होंने राजा दशरथ के हृदय पर इतना अधिक आधिपत्य जमा लिया था कि वह बड़ी रानी कौशल्या तथा सुमित्रा से भी अधिक इनका मान रखते थे।

एक बार देवता तथा राक्षसों में बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस समय देवता राजा दशरथ के पास सहायता माँगने आये। इस-पर वह अपनी बड़ी भारी सेना लेकर उनकी सहायता को चले। उस समय की स्त्रियाँ इस समय की स्त्रियों की तरह घर के कोने में सकुचाकर बैठ जाने या परदे में रहनेवाली न थीं। वे पति के साथ घूमने-फिरने तथा आवश्यकता पड़ने पर शिकार खेलने के लिए भी जाती थीं। पति को युद्ध में जाते देखकर कैकेयी की इच्छा हुई कि मैं भी इस भयंकर युद्ध को अपनी आँखों देखूँ। तब राजा दशरथ उन्हें अपने साथ युद्ध-क्षेत्र में ले गये। वहां राक्षसों के साथ राजा दशरथ का भीषण संग्राम हुआ। एक बार रात को दशरथ और शम्बरासुर के बीच युद्ध हो रहा था, उस समय राक्षसों ने ऐसी माया रची कि उससे राजा को ज़रा नींद आ गई। यह अवसर पाकर शत्रुओं ने राजा दशरथ के सारथी को मार डाला। सारथी के मर जाने से घोड़े रथ को आड़ा-टेढ़ा ले जाने लगे। वीरांगना कैकेयी ने जब यह हाल देखा तो तुरन्त

घोड़े की लगाम अपने हाथ में ले ली और इस होशियारी से सारथी का काम किया कि राजा को कुछ मालूम तक न हुआ। इतना ही नहीं, कैकेयी ने अपने बाणों से अनेक वीर राक्षसों को भी मारकर पृथ्वी पर सुला दिया।

इसके बाद युद्ध करते-करते राजा के रथ की एक धुर टूट गई, जिससे रथ के एक तरफ़ की पटिया निकल गई और रथ नीचे झुकने लगा। रानी कैकेयी ने इस समय बड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर रथ के उस तरफ़ के हिस्से को अपने कन्धे के ऊपर टिका लिया और युद्ध के समाप्त होने तक रथ को उसी तरह सम्हाले रहीं। यदि इन्होंने इतनी दूरदर्शिता और समयसूचकता से काम न लिया होता तो राजा दशरथ अवश्य रथ से नीचे गिर पड़ते और शत्रु उनपर आक्रमण कर देते।

इस युद्ध में महाराज दशरथ विजयी हुए। आड़े समय अपनी सहायता करने के लिए रानी कैकेयी पर वह बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—"प्रिये! इस युद्ध में तूने ही मेरे प्राण बचाये हैं। यदि तू न होती मैं कभी का शत्रुओं के हाथ मारा गया होता। इससे मैं तुझपर बड़ा प्रसन्न हूँ, तुझे यदि कुछ वरदान माँगना हो तो मांग। तू जो-कुछ माँगेगी, वह सब-कुछ देने को मैं तैयार हूँ।"

कैकेयी ने विनयपूर्वक कहा—"प्राणनाथ! मैंने जो कुछ सेवा की है वह बदले की आशा से नहीं की है। आपकी सहधर्मिणी होने के नाते मेरा जो कर्तव्य था, उसीका मैंने पालन किया है। फिर मुझे कमी ही किस बात की है? अयोध्या के राज्य में ऐसी कौनसी वस्तु है, जिसपर मेरा अधिकार नहीं? आपने मेरी इच्छा पूरी करने में कभी विलम्ब नहीं किया। जब अपना सर्वस्व

ही मुझे सौंप रक्खा है, तब फिर मुझे दूसरी क्या वस्तु चाहिए ? स्वामी ! सच पूछिए तो मुझे आपके अखण्ड प्रेम के सिवा अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है ।"

परन्तु राजा दशरथ ने नहीं माना, उन्होंने दो वरदान माँगने का बड़ा आग्रह किया। इसपर कैकेयी ने कहा—"स्वामी ! यदि आपका यही आग्रह है कि मैं दो वरदान मांगू, तो मेरी आप- से प्रार्थना है कि आप अभी मेरे इन दो वरदानों को अपने पास जमा रक्खें; मुझे आवश्यकता होगी, तभी मैं आपसे माँग लूँगी ।" इसके बाद राजा और रानी कैकेयी घर लौट आये ।

यथासमय राजा दशरथ की तीनों रानियों ने पुत्र-रत्न प्रसव किये । रानी कौशल्या ने रामचन्द्र को जन्म दिया और सबसे बड़े होने के कारण वही राजगद्दी के अधिकारी हुए । रानी सुमित्रा के लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न नामक दो पुत्र और रानी कैकेयी के भरत पैदा हुए ।

जब राजा दशरथ वृद्धावस्था को पहुँच गये, तब उनकी इच्छा हुई कि उनके सामने ही रामचन्द्र जी गद्दी पर बिठा दिये जायँ । इस विचार से उन्होंने कुलगुरु वशिष्ठ को बुलाया और एकान्त में लेजाकर अपना उद्देश्य उनपर प्रकट किया। राजकु- मार भरत इस समय अपनी ननिहाल गये हुए थे । राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र के गुणों की चर्चा करते हुए भगवान् वशिष्ठ से कहा—"भगवान् ! मेरे नगर की समस्त प्रजा तथा नीति- कुशल मन्त्री राम की अत्यन्त प्रशंसा करते हैं। मैं भी अब वृद्ध हो गया हूँ । अतः मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि राम को गद्दी पर बिठाऊँ और जितना शीघ्र हो सके यह शुभ कार्य हो जाय ।"

इसके बाद राजा की इच्छानुसार राजतिलक की सब तैयारियाँ होने लगीं।

राज्याभिषेक के पहले दिन राजा दशरथ ने राम को अपने पास बुला लाने के लिए सुमन्त को भेजा। राम ने पिता के पास जा उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनके पास खड़े हो गये। राम शीघ्र ही राजा बननेवाले थे, इसलिए दशरथजी ने उन्हें राज्योचित उपदेश दिये। इसके बाद वह अन्तःपुर में गये। रानी कैकेयी के साथ उनके पीहर से मन्थरा नाम की एक कुबड़ी दासी आई थी। उसने राजमहल की ऊँची अटारी पर से नगर में राम के राजतिलक के लिए होनेवाली तैयारियाँ देखीं। इन तैयारियों को देखकर उसके मन में एक अजब तरह की वृत्ति उत्पन्न हुई और वह दौड़ती-दौड़ती रानी कैकेयी के पास आई। बड़े ही कर्कश शब्दों में उसने कैकेयी से कहा—"हे सौन्दर्य का अभिमान रखनेवाली, मत्तगामिनी, अभागिनी! तेरा सर्वनाश होने का समय आ पहुँचा है; परन्तु फिर भी तुझे किसी बात की सुध नहीं। तू किस तरह निश्चिंत होकर सो रही है? क्या तू नहीं जानती कि अयोध्या में आज यह सारा उत्सव किसलिए हो रहा है? किसलिए सारे शहर में ध्वजायें और पताकायें फहरा रही हैं? सुन! कल प्रातःकाल ही राजा दशरथ राम को युवराज-पद अर्थात् राजगद्दी पर बिठायेंगे।"

सरल-हृदया कैकेयी पर मन्थरा के ऐसे कठोर वचनों का कुछ भी असर नहीं हुआ। उलटे, यह शुभ समाचार सुनकर कि राम राजा होंगे, उसने मन्थरा से कहा—"मेरे लिए तो राम और भरत दोनों समान हैं। तूने जो अमृत-समान प्रिय समाचार

मुझे सुनाये हैं, मेरे लिए इससे बढ़कर प्रिय वस्तु और कोई नहीं है। अतः इन शुभ समाचारों के लिए तू जो माँगे वही मैं तुझे दूँगी।"

परन्तु मन्थरा तो कुछ और ही सोचकर आई थी। झूठे भय-प्रलोभन और तरह-तरह की लगी-लिपटी बातें कर-करके आखिर उसने सरल हृदया कैकेयी का मन शंकाशील कर दिया। उसके मन में यह बात पैदा करदी कि राजा दशरथ उससे जो भी प्रेम-प्रदर्शन करते हैं वह दिखावटी है, उनका वास्तविक प्रेम तो कौशल्या पर ही है, और इसीलिए भरत की अनुपस्थिति में राम को राजतिलक करके कैकेयी और भरत को अँगूठा दिखाने का उनका विचार है।

अब क्या था, कैकेयी का मुँह लाल हो गया और क्रोध के आवेश में वह गर्म उसासें लेने लगीं। न-मालूम इस समय उनकी सारी बुद्धि कहां चली गई। वाल्मीकि के 'साहि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता' के अनुसार, कुब्जा अर्थात् कुबड़ी मन्थरा की बातें सुनकर किशोरी कैकेयी अपनी बुद्धि गँवा बैठीं और उलटे रास्ते पर चल दीं। फलतः उन्होंने राम को वन में भिजवाने की प्रतिज्ञा करली। अपने शरीर पर से बहुमूल्य मोतियों का हार तथा अन्य सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण उतारकर वह जमीन पर लेट गईं और कुब्जा से कहने लगीं—"कुब्जा! अब मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। महाराज ने मेरे साथ कितना कपट किया! अब या तो राम को वन में भिजवाकर रहूँगी, अथवा प्राण त्याग दूँगी। यदि राम वन को न जायँगे तो मैं उत्तम वस्त्र, चन्दन, माला, पान, भोजन आदि सबका त्याग कर दूँगी। अधिक क्या कहूँ, मैं जीवित ही न रहूँगी।"

मन्थरा का मनोरथ सिद्ध हुआ। वह आधी खड़ी होकर चुपके से देख रही थी कि प्रवेश करते ही कैकेयी की ऐसी दशा देखकर महाराज दशरथ बड़े व्याकुल हो गये। वह अपने मन में डरे और बैठकर धीरे-से कैकेयी के शरीर को छुआ। फिर उन्होंने उसे बहुत-कुछ उपदेश दिया और अन्त में राम की शपथ खाकर कहा—"राम मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है, उसी-की शपथ खाकर मैं कहता हूँ कि तू जो कहेगी मैं वही करूँगा।"

जिन कैकेयी ने अबतक राजा की इतनी दीनता देखकर एक बार भी उत्तर न दिया था, वही अब राजा के मुँह से राम की शपथ निकलते ही आँखें खोलकर बैठ गईं। उनके हृदय में छल-कपट था और मुँह पर दारुण क्रोध। आज वह साक्षात् क्रोध की मूर्त्ति बन गई थीं। राजा मरें या जियें, इसकी उन्हें ज़रा भी परवा न थी। आज कैकेयी ने कई तरह से राजा को अपनी पहली प्रतिज्ञाओं की याद दिलाई और युक्तिपूर्वक कहा, कि "राम को चौदह वर्ष के लिए बनवास देना होगा। प्रातःकाल ही उन्हें वन को भेज देना होगा। इसमें यदि ज़रा भी विलम्ब हुआ तो मैं प्राण त्याग दूँगी।"

ये हृदयवेधक शब्द सुनकर राजा दशरथ मूर्च्छित हो गये। बड़ी देर बाद उन्हें होश आया। वह भयभीत होकर ज़रा-ज़रा आँखें खोलते थे और मन-ही-मन सोचते थे कि इस समय मैं यह कोई बुरा स्वप्न देख रहा हूँ; मुझपर किसी की परछाँही पड़ गई है अथवा मेरा भाग्य ही फिर गया है; आखिर यह है क्या? उन्होंने बड़ा विलाप किया। कैकेयी से उन्होंने बहुत ही विनती

एवं प्रार्थना की; परन्तु उसपर इनका कुछ असर न हुआ। उसने आज पति को न कहे जाने योग्य शब्द तक कह डाले।

आखिर विवश होकर राजा दशरथ ने सुमित्रा को बुलाकर रामचन्द्र को वन जाने की आज्ञा सुनाई। रामचन्द्र ने पिता के मुँह से आज्ञा सुने बिना ही, केवल कैकेयी के मुँह से उनकी उक्त इच्छा जान कर बिना किसी क्रोध या शोक के अत्यन्त सहन-शीलतापूर्वक वन में जाना स्वीकार किया। इसके बाद भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता भी उनके साथ जाने को तैयार हुए और कैकेयी ने अपने हाथों से ही उन तीनों को बल्कल वस्त्र पहनाकर किस तरह विदा किया यह कथा सब जानते हैं। यह दृश्य देखकर महर्षि वशिष्ठ जैसे साधु तक को क्रोध चढ़ आया था और उन्होंने भी कठोर शब्दों में कैकेयी का तिरस्कार किया था। जब उनकी यह दशा हुई तब हमारा तो कहना ही क्या? हमारे लिए तो यह करुणाजनक दृश्य देखकर रामचन्द्र और पतिपरायण सीता के लिए अश्रुपात तथा कैकेयी के प्रति हृदय में अत्यन्त तिरस्कार के भाव उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक ही है।

परन्तु कैकेयी को उसके दुष्कृत्य का फल मिले बिना न रहा। रामचन्द्रजी जैसे पुत्र के वियोग से राजा दशरथ की मृत्यु होगई। कैकेयी विधवा हो गई। स्त्री के लिए विधवा हो जाने से बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है? फिर जिस पुत्र भरत को राज्य दिलाने के लिए उसने ये छल-प्रपंच किये थे उस सुपुत्र भरत ने राजगद्दी पर बैठने से साफ़ इनकार कर दिया और ऐसे कृत्यों के लिए माता का अत्यन्त तिरस्कार किया। तब कैकेयी को अपनी सच्ची स्थिति का बोध हुआ और उसके अन्तःकरण में पश्चात्ताप की

अग्नि जलने लगी । अब उसे सुधि आई । अब वह पहले जैसी नीच कैकेयी न रही। राज-महिषी होने पर भी वह अपनेको अत्यन्त दुःखी मानने लगी। लज्जा के मारे वह किसीको अपना मुँह नहीं दिखा सकती थी । भरत रामचन्द्रजी की खोज में वन जाने को तैयार हुए। कैकेयी के हृदय में भी रामचन्द्र को देखने की इच्छा हुई, किन्तु भरत के डर के मारे वह कुछ बोल न सकी। वह कौनसा मुँह लेकर बोलती ? उसीने तो उन्हें वन भेजा था। स्त्री होकर भी उसने स्वामी का वध किया था। इस पाप का प्रायश्चित्त क्या हो सकता था ? मृत्यु ? नहीं। राम के दर्शन किये बिना वह मर भी नहीं सकती थी । उसके मन में एक-के-बाद–दूसरे विचार उठने लगे : "राम किस तरह मुझे फिर 'मां' कहकर बुलायेंगे ? मैं तो पापी हूँ, अब वह मुझे किस लिए 'मां' कहेंगे ? स्वयं मेरा भरत ही मुझे 'मां' नहीं कहता । भरत चाहे न कहे, पर राम तो अवश्य मुझे 'मां' कहकर ही बुलायेंगे । मेरे राम क्षमाशील हैं। 'मेरे राम' यह शब्द कहते हुए कैकेयी का हृदय काँपने लगा। उसका अहंकार चूर-चूर हो गया। सबसे श्रेष्ठ रानी कैकेयी दासी की तरह सुमित्रा की शरण में गई। सुमित्रा ने भरत से सब बातें कहीं। भरत ने पहले तो माता को अपने साथ रामचन्द्रजी के दर्शन कराने को ले जाने से साफ इनकार कर दिया, पर फिर विचार किया कि 'राम तो मातृभक्त हैं, वह तो कभी किसीके दोष देखते ही नहीं। कैकेयी के प्रति वह भक्ति रखते हैं।' और यह सोचकर उन्होंने उसे साथ ले जाना स्वीकार कर लिया।

सबने चित्रकूट में जाकर रामचन्द्रजी के दर्शन किये, परन्तु कैकेयी को उनके सामने जाने का साहस नहीं हुआ। वह कौनसा

मुँह लेकर उनके सामने जाती ? वह एक वृक्ष की आड़ में आकर खड़ी हो गई और मन-ही-मन सन्ताप करती हुई बिलख-बिलख-कर रोने लगी। उसकी आँखों से लगातार आँसुओं की झड़ी बहने लगी। पर राम भी उसे कैसे भूल सकते थे ? वह उसे ढूँढ ही रहे थे। एकाएक उन्होंने स्वयं ही माता कैकेयी के समाचार पूछे। किन्तु भरत ने कोई उत्तर न दिया। अन्त में राम घूमते-घूमते जिस वृक्ष के आगे कैकेयी खड़ी थी वहाँ आ पहुँचे, और कैकेयी को देखते ही प्रफुल्लित हो उसके पैरों में गिर पड़े।

कैकेयी चौंक पड़ी। दुःख, लज्जा और पश्चात्ताप से उसका हृदय जलने लगा। इन्हीं राम को राज-तिलक के दिन अपने हाथ से वल्कल-वस्त्र पहनाने का साहस उसे कैसे हो गया था ?

राम ने पूछा—"मां ! सब तो मुझसे मिलने आये, अकेली तुमही यहाँ कैसे खड़ी रह गई ?"

आज कितने दिनों बाद कैकेयी ने 'मां' शब्द सुना। आज यह 'मां' शब्द उसके अन्तरतम में जा पहुँचा। दिगदिगन्त में आज उसे इसी शब्द की प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी। आज राम ने उसे 'मां' कहकर बुलाया, इससे उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों उन्होंने सारे जगत को 'मां' कहकर बुलाया हो। उसकी आँखों से अविरल आँसुओं की धारा बहने लगी। राम की सुमधुर वाणी से निकले 'माँ' शब्द ने उसकी रग रग में अमृत-रस का संचार कर दिया। परन्तु दूसरी ओर, पश्चात्ताप का दुःख उसे सौ बिच्छुओं के डंक की तरह सताने लगा। कैकेयी ने राम को गोद में लेकर हृदय की ज्वाला मिटाने के लिए हाथ फैलाये। राम उसके मन की बात समझ गये और झट हँसते हुए कैकेयी की गोद में बैठ गये।

इस समय वह सब दुःख भूल गई। उसके नयन-जल से रामचन्द्र जी की छाती धुल गई। राम उसे दिलासा दे रहे थे। इतने में सीताजी भी वहाँ आ पहुँचीं। कैकेयी उन्हें देखकर मूढ़ की जैसी बनकर खड़ी रह गई। राम के समझाने-बुझाने से कैकेयी के आंसू जरा थमे ही थे कि सीताजी को देखते ही वे फिर बहने लगे। बड़े आग्रह और आदर से उन्हें गोद में बिठाकर वह बड़े उच्चस्वर से रोते हुए कहने लगी —"हाय! मैंने इस आँखों की पुतली को निकालकर कहाँ फेंक दिया था?" इससे अधिक वह कुछ न बोल सकी। उसके मन में अब किसी तरह का कपट नहीं रहा था। अब भरत को भी उसके विचारों के विषय में किसी तरह की शंका न रही। बस, अब वह पहले की तरह ही स्नेहमयी दिखाई देती थी। अब वह लोक-संहारिणी राक्षसी न थी। आज सबके नेत्रों में आँसू भर आये। आज कैकेयी ने राम और सीता को हृदय में धारण किया, इससे उसके सब बुरे कर्मों का नाश हो गया। सीता को गोद में लेकर वह बहुत रोई और रोते-रोते कहने लगी—"इस सोने की पुतली को वन में भेजने का मुझे साहस कैसे हुआ? चल बेटी, चल; अब घर चलकर सुनसान अयोध्या को बसा। मेरे राम ने मुझे क्षमा कर दिया है। चल, अब तू चल और मेरे घर और राज्य की लक्ष्मी बन। राम और सीता-रहित अयोध्या का स्मरण करते ही मेरा हृदय फटने लगता है। सीता! अब तुम्हारी ओर से मैं वनवास करूँगी, प्रतिज्ञा का पालन मैं करूँगी। तुम लोग अयोध्या को वापस जाओ।" कैकेयी बोलती ही जाती थी, सीताजी उसके आँसू पोंछती जाती थीं।

थोड़ी देर में सब शान्त हो गये। कैकेयी को राम से एकान्त

में कुछ कहने की इच्छा हुई । एकान्त में कैकेयी ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से हाथ जोड़कर कहा, "राम ! साधु बड़े क्षमाशील होते हैं । तुम साधुओं के भी साधु हो । अतः कहो, मेरा अपराध तुमने क्षमा किया या नहीं ? राम ! कहो कि मेरे दुष्ट कर्मों के लिए तुम अपने मन में जरा भी बुरा न मानोगे ।"

भगवान ने कृपा-दृष्टि की । कैकेयी निर्मल हो गई । उसका मोह दूर हो गया और वह कहने लगी—"प्रभु ! तुम्हारी माया के वशीभूत होकर मैं मोह से अन्धी हो गई थी । क्या अच्छा है और क्या बुरा है, इसका मुझे ज्ञान न रहा था । आज मुझे मालूम हुआ कि तुम्हारा आश्रय लिये बिना माया अथवा अज्ञान दूर नहीं हो सकते । अतः आज मैं तुम्हारी शरण आई हूँ । तुम मेरी रक्षा करो । तुमही मेरे प्रभु हो, तुमही मेरी आत्मा हो और तुमही मेरे प्राण हो हे प्रभु ! हे विश्वेश्वर ! हे अनन्त ! हे जगदीश्वर ! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ ! प्रभो ! मैं तुम्हारी शरण आई हूँ, तुम कृपाकर अपने निर्मल ज्ञान-रूपी खड्ग से मेरे कुटुम्ब और धनादि के आसक्तिमय बन्धनों को काट डालो ।"

यथा कृत्रिमनर्त्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया ।
त्वादधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी ॥

कैकेयी के इस समय के पश्चात्ताप का वर्णन लोकप्रिय कवि राधेश्याम ने इस प्रकार किया है:—

"छाती से लगो, ऐ मेरे आराम । (टेक)
मैं नहीं जानती थी तुमको, तुम ऐसे हो, तुम इतने हो,
उसका पासंग भी नहीं हूँ मैं, गम्भीर कि तुम जितने हो ।
कौशल्या ! तेरा राम नहीं, वह राम तो मेरा बेटा है,

मेरा यह मन है, जीवन है, मेरा यह प्राण कलेजा है।
मंथरा राँड की संगति से, हा! मैंने क्या उत्पात किया,
अपने ही हाथों, अपने ही बेटे पै वज्राघात किया।
अब दुनिया की बहनो, साँची नीचो को मुँह न लगाना तुम,
अय बहू बेटियो, ऐसों की संगति में फँस मत जाना तुम।
घर में जो दुष्टा दासी हैं, वे स्वाँग नित्य नये भरती हैं,
बरबाद घरों की बहुओं को, नाना प्रकार से करती हैं।
हो मुझसे घृणा तुम्हें, तो मेरे जीवन से शिक्षा लो तुम,
दुष्ट अनुचरी सहचरी को, घर में भी मत घुसने दो तुम।

* * *

हे राम! आज व्याकुल मैया, बेटे की कृपा चाहती है,
तुम बेटे हो तो क्षमा करो, देखो माँ क्षमा चाहती है।

कैकेयी के चरित्र से यह स्पष्ट है कि संसार में सब पाप अज्ञान के कारण ही होते हैं।

आजकल भी कुब्जा जैसी सहेलियों की सलाह से कितनी स्त्रियाँ कुपथगामी नहीं होतीं? कितनों के घर बिना राम की अयोध्या जैसे हो जाते हैं। बड़े भाई की बहू अपने देवर को घर में से निकलवा देती है। यह मंथरा-जैसी सहेली की सलाह से नहीं तो दूसरे किसकी सालह से करती है? नहीं तो देवर का तिरस्कार करना बड़ी भावज के लिए स्वाभाविक नहीं होता। इसके विपरीत प्रारम्भ में तो देवर बड़े लाड़ की वस्तु होता है। जब वह उसीसे द्वेष करने लगे, तब समझ लेना चाहिए कि वह किसी मन्थरा की कुसंगति में पड़ गई है। कितनी कुल-वधुयें माता की अनुचित सलाह से पति के सुख और गृहस्थी को मिट्टी में मिला देती हैं और

अपनी खुशी और अपनी ही पसन्द से लाई हुई बालिका बहुओं को सासें कितनी बार मंथरा जैसी किसी दासी सहेली या सम्बन्धी के उलटे-सीधे कान भरने से दुःख देकर क्लेश पहुँचाती हैं। बहनें रामायण को फिर एक बार ध्यानपूर्वक पढ़कर उसपर विचार करें और देखें कि मन्थरा जैसी एक कुबड़ी की सलाह से राजा दशरथ का राज्य और गृहस्थ किस तरह धूल में मिल गये थे। इस एक दुष्टा ने ही उनकी सुखी गृहस्थी में किस तरह दुःख की दावानल सुलगा दी थी, इसका ज़रा शान्त चित्त से वे विचार करें। कैकेयी के उदाहरण से शिक्षा ग्रहण कर दासी या सहेली के रूप में आई हुई मन्थरा को मुँह लगाने में स्त्रियों को सावधान रहना चाहिए। ऐसी स्त्रियों की सीख ग्रहण करने से सदा बचना चाहिए। नहीं तो, जहां एक बार मंथरा-रूपी कुब्जा के जाल में फँस गईं तो अधःपतन कहाँ जाकर रुकेगा, कहाँ से कहाँ जाकर गिरेंगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

४

जनक-नन्दिनी

सीता

सतियों की कथाओं के साहित्य में सीताजी का स्थान अत्यंत गौरवपूर्ण है। बारीकी से देखने पर मालूम होता है कि क़रीब-क़रीब सभी सती स्त्रियों के सद्गुण और धैर्य की कसौटी परमात्मा ने भिन्न-भिन्न ही रक्खी है। तरह-तरह के कष्ट उठाकर भी अपनी धर्मनिष्ठा और अपने पतिव्रत-धर्म को सभी सतियों ने क़ायम रक्खा है और इन सभी देवियों ने अन्त में सुख भोगा है, परन्तु दैवयोग से परम-पवित्र भगवती सीता का तो लगभग सारा जीवन दुःख में ही बीता है। इनका जीवन तो मानों धर्म-परीक्षा की एक लम्बी कसौटी ही था। यहाँतक कि, इसी कारण, हमारे देश के कुछ भागों में लोग अब भी अपनी कन्या का नाम सीता रखना पसन्द नहीं करते। उनकी यह धारणा है कि अगर कन्या का नाम सीता रक्खा तो वह अभागी निकलेगी। क्योंकि जनक जैसा पिता, दशरथ जैसा ससुर, कौशल्या जैसी सास, राम जैसा पति, लक्ष्मण जैसा देवर, अयोध्या के राज्य जैसा वैभव, सार यह कि स्त्रियों को जो-जो कामनायें हो सकती हैं वे सब सीताजी को प्राप्त होने पर भी उनका तमाम जीवन दुःखमय ही रहा। यहाँतक कि दुःख में ही उनका जवीन समाप्त भी हुआ। इन्हीं सब कारणों से लोग सीता को अभागी समझते हैं।

परन्तु क्या सचमुच ही सीता अभागी थी ? अपनी असाधारण पति-भक्ति, सुशीलता, स्वभाव की शान्तता, क्षमा, सहनशीलता आदि गुणों के कारण जो स्त्री भारत में—भारत में ही क्यों, तमाम दुनिया में—आदर्श महिला के रूप में पूजी जाती है, क्या वह अभागी कही जायगी ? सच तो यह है कि महान् चरित्रों का महत्व दुःख में ही प्रकट हुआ करता है। सीता ने भी यदि स्वामी के साथ निष्कण्टक राज्य भोगकर अपना जीवन बिताया होता, तो आज सीता का नाम कौन जानता ? सीता के नाम का जय-जय-कार आज कौन करता ? देवी के रूप में आज उन्हें कौन पूजता ? निस्सन्देह उन्होंने दुःख उठाया था और दुःख में महाकठिन धैर्य, सहनशीलता और उदात्तता दिखाई थी। यही कारण है कि आज सीता एक देवी की तरह प्रख्यात हैं। स्वामी के साथ वनवास के समय जंगल में जाते हुए खूब थक जाने पर भी उनके मुख पर प्रफुल्लता ही चमकती रहती थी। रावण के मारे जाने पर विपत्ति से मुक्त होने के साथ ही रावण की दासियों ने उन्हें जो सैकड़ों कष्ट दिये थे, उन्हें भूलकर उन्होंने उन सबको प्रेमपूर्वक क्षमा कर दिया था। यद्यपि बिना किसी अपराध के उन्हें देश-निर्वासन भुगतना पड़ा था, तथापि राम पर उन्होंने कभी एक बार भी क्रोध नहीं किया। यही नहीं, बल्कि उनके दुःख को ही अपना दुःख समझा। यही कारण है कि सीता आज सीतादेवी कही और मानी जाती हैं। ऐसी सीता अगर अभागी गिनी जाय, तो फिर हो लिया। सचमुच वे सब धन्य हैं, जिनके सीता जैसी कन्या होती है।

बिहार प्रान्त का उत्तरी भाग, जिसे आजकल तिरहुत कहते हैं, प्राचीन काल में मिथिला नाम से प्रसिद्ध था। त्रेतायुग में वहाँ

जनक नामक एक बड़े वीर, धीर, गम्भीर और प्रतापी राजा का राज्य था। उनके सुन्दर और न्यायपूर्ण शासन में समस्त प्रजा संतुष्ट थी। दुःख कहीं भी न था। चारों ओर सुख, समृद्धि और आनन्द फैल रहा था। राजा जनक शास्त्रों के ज्ञाता, धर्म के रहस्यों से अभिज्ञ और इहलोक तथा परलोक के गूढ़ तत्त्वों को जाननेवाले थे। राजा होते हुए भी वह महर्षि थे, और गृहस्थ होते हुए भी पूरे वैरागी। विषय-वासनाओं में वह ज़रा भी लिप्त न रहते और संसार के सब कामों को कर्त्तव्य समझकर करते थे। इसीसे लोग उन्हे राजर्षि कहते थे। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और पण्डित धर्मशास्त्र की चर्चा करने के लिए उनकी राजसभा में जाते और उनसे कुछ सीखकर ही लौटते थे।

दैवयोग से ऐसे न्यायी राजा के समय में भी एकबार राज्य में भारी अकाल पड़ा। प्रजा की दुर्दशा देखकर राजा बड़े दुःखी हुए। उस समय राजाओं की यह मान्यता थी कि प्रजा पर ऐसे संकट राजा के पाप या दोष के कारण ही आया करते हैं। राजा जनक में ऐसा कोई दोष न था कि जिसके पाप से प्रजा को दुःख भोगना पड़ता। पर अन्त में इस सम्बन्ध में ऋषि--मुनियों की सलाह ली गई और यह मानकर कि यह अकाल राजा के किसी पूर्वजन्म का ही फल है, उसके निवारण के लिए एक बड़ा भारी यज्ञ करने का निश्चय हुआ।

यज्ञ समाप्त हो गया तब, ऋषियों की सलाह से, राजा जनक खुद सोने का हल लेकर खेत जोतने के लिए तैयार हुए। इस प्रकार प्रजा के हित के लिए अपने मान-अपमान, यहाँतक कि अपने सबसे बड़े दर्जे को भूलकर राजा जनक एक साधारण किसान का

काम करने लगे। उनके इस प्रजा-प्रेम को देखकर प्रजा के मन में उनके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न हुई। कुछ ही देर में आसमान में बादल घिरने लगे और किसानों के शरीरों में संजीवनी-शक्ति फैल गई।

इस प्रकार हल चलाने की विधि पूरी करके राजा जब लौट रहे थे, उन्हें एक बालिका खेत में पड़ी मिली, जो अत्यन्त सुन्दर थी। एकान्त स्थान में ऐसी सुन्दर बालिका को देखकर उन्हें बड़ा अचरज हुआ और उनके हृदय में दया उत्पन्न हुई। वह उसे उठाकर राजमहल में ले आये और अपनी रानी की गोद में उसे दिया। बालिका को देखना था कि रानी का स्नेह राजा से भी बढ़ गया। उनके हृदय में मातृ-स्नेह उमड़ आया, और अपने गर्भ से पैदा होनेवाली सन्तान की तरह ही उसकी परवरिश करने का उन्होंने निश्चय कर लिया। राजा से उन्होंने कहा, "आज से यह बालिका मेरी है। तमाम राज्य में ढिंढोरा पिटवा दो कि यह कोई न कहे कि 'यह कन्या खेत में पड़ी मिली थी और इसके माता-पिता का कुछ पता नहीं।' क्योंकि आज से यह हमारी ही बालिका है।"

राजा-रानी दोनों बड़े प्रेम से कन्या का पालन-पोषण करने लगे। हल चलाने से खेत में जो रेखायें पड़ती हैं, उन्हें 'सीता' कहते हैं। यह बालिका ऐसी रेखाओं के बीच में ही मिली थी, इसलिए उसका नाम भी सीता ही रक्खा गया। जनक की स्त्री के गर्भ से भी उर्मिला नाम की एक कन्या पैदा हुई; पर राजा जनक सीता को उर्मिला से भी ज्यादा प्यार करते थे। राजा जनक की लड़की के रूप में ही सीता 'जानकी'

नाम से मशहूर है। मिथिला देश की राजकन्या होने के कारण इन्हें 'मैथिली' कहा जाता है। और राजा जनक विदेह कहलाते थे, इससे इन्हें 'वैदेही' भी कहते हैं।

राजकुमारी सीता शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगीं। माता-पिता के अपार स्नेह के कारण इनका बचपन बड़े सुख में बीता। राजा जनक ने इनके विद्याध्ययन की भी अच्छी व्यवस्था की थी, जिससे कुछ ही वर्षों में इन्हें इतिहास, पुराण, धर्म-शास्त्र तथा नीति का बड़ा अच्छा ज्ञान हो गया और विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ सखी-सहेलियों में हिल-मिलकर रहने, गुरुजनों का आज्ञा-पालन करने, घर-गृहस्थी के सब काम हँसते हुए करने आदि सद्गुण भी इनमें मिलने लगे थे।

धीरे धीरे सीता बड़ी हुईं। युवावस्था में इन्होंने पदार्पण किया। माता-पिता को किसी योग्य वर के साथ इनका विवाह करने की चिन्ता होने लगी। राजा जनक ने सोचा कि ऐसी रूप और गुण-वाली कन्या का विवाह मैं चाहे जिस राजकुमार के साथ नहीं करूँगा, किन्तु गुणों की पूरी परीक्षा करके जो वर उत्तम सिद्ध होगा उसीके साथ सीता का विवाह करूँगा।

राजा जनक के पास बहुत बरसों पहले का शिवजी का दिया हुआ एक बड़ा भारी धनुष पड़ा हुआ था। राजा ने प्रतिज्ञा की कि जो इस धनुष पर डोर चढ़ा देगा, उसीके साथ मैं अपनी इस लाड़ली कन्या का विवाह करूँगा। यह संकल्प कर लेने पर उन्हों-ने बड़े भारी पैमाने पर खूब धूमधाम से स्वयंवर-मण्डप की रचना करना शुरू किया, और सीता के इस स्वयंवर में उपस्थित होने के लिए राजाओं को निमन्त्रण भेजे।

अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र भी, मुनि विश्वामित्र तथा अनुज लक्ष्मण के साथ, इस स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए आये।

एक दिन बड़े सबेरे नित्यकर्मों से निवृत्त हो दोनों भाई फूल लेने के लिए जनक के बगीचे में गये। संयोगवश जनक-नन्दिनी सीता भी पार्वती-पूजा के लिए उसी समय वहां पहुँचीं।

घूमते-फिरते राम-सीता की चार आँखें हुईं और दोनों एक-दूसरे पर अनुरक्त हो गये। दोनों को पता न था कि किसने हमारा मन चुरा लिया है, पर परिस्थिति और लक्षणों से यह कल्पना अवश्य कर ली कि मन किसी बेठिकाने नहीं गया है। फलतः दोनों मन-ही-मन एक-दूसरे की प्राप्ति की कामना करने लगे और सीता-जी ने तो देवी पार्वती से यह आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया:—

"सुनु सीय, सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन-कामना तिहारी॥
मन जाहि राच्यो मिलेहि सो वर सहज सुन्दर सांवरो।
करुणा-निधान सुजान, जानत शील सनेह रावरो॥"

यथासमय सीता के स्वयंवर का दिन आ पहुँचा। राजाओं, राजकुमारों, ब्राह्मणों और पण्डितों से स्वयंवर-सभा भर गई। विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण भी उसमें आ पहुँचे। मनोहर और बहुमूल्य गहने-कपड़ों से सजकर, पुष्प-माला लिये हुए, सखियों के साथ सीताजी भी अपने निश्चित समय पर आ पहुँचीं।

शिवजी का प्रसिद्ध 'पिनाक' नामक विशाल धनुष सभा के मध्य में रक्खा गया। बहुतों के तो उसके आकार को देखकर ही होश उड़ गये। कुछ लोग अपनी ताक़त आजमाने तो गये; पर धनुष को

डोर (प्रत्यञ्चा) चढ़ाना तो दूर, धनुष को उठा भी न सके। यह दशा देख राजा जनक बड़े निराश हुए और सोचने लगे, "क्या भू-मण्डल पर क्षत्रिय वीर नहीं रहे ? पर मैं तो प्रतिज्ञा तोड़कर ऐसे पुरुष को अपनी कन्या न दूँगा जो इस धनुष को न तोड़ सके।" रामचन्द्र ने जब जनक को इस प्रकार दुःखी होते देखा, तो मुनि से आज्ञा लेकर वह धनुष के पास गये और सबके देखते-देखते धनुष को उठाकर उसमें प्रत्यञ्चा चढ़ाई। प्रत्यञ्चा का चढ़ाना था कि कड़ाके के साथ धनुष के दो टुकड़े हो गये। यह देख सब लोग आश्चर्य में रह गये। राजा जनक और उनके कुटुम्बियों के आनन्द का पार न रहा। पुरोहित की आज्ञा से सीता ने रामचन्द्र के गले में वर-माला डाल दी। जिस युवक पर पहले दर्शनों में ही अनुराग हो गया था उसी वीर के गले में उसकी वीरता के प्रताप से वर-माला पहनाने का अवसर आया, इससे सीता के आनन्द का पार न रहा। आज उनकी पार्वतीजी की पूजा सफल हुई। वर-माला के साथ ही सीता ने अपना हृदय भी रामचन्द्र को समर्पण कर दिया।

राजा जनक ने इस शुभ समाचार को अयोध्या भेजा और लग्न-पत्र लिखकर कुटुम्बी, रिश्तेदार और बरातियों के साथ राजा दशरथ को बुलवाया। अगहन सुदी पंचमी (मार्गशीर्ष शुक्ल ५) का विवाह निश्चित हुआ। इस दिन गहने-कपड़ों के साथ राजा जनक ने रामचन्द्र को अपनी प्यारी कन्या सीता का दान किया। चारों तरफ वेद की ऋचायें सुनाई देने लगीं, बाजे बजने लगे, मंगल-गीत गाये गये और वर-कन्या तथा उनके माता-पिता पर उपस्थित लोगों ने फूलों की वर्षा की।

इसके बाद राजा ने अपनी और अपने भाई की मिलाकर अन्य तीन कन्याओं के विवाह भी राजा दशरथ के अन्य तीनों राजकुमारों के साथ ही करने की इच्छा प्रकट की। राजा दशरथ ने भी इसे मंजूर कर लिया। तब यथाविधि जनक की छोटी लड़की उर्मिला का विवाह लक्ष्मण के साथ और उनके भाई की पुत्री माण्डवी का भरत व श्रुतिकीर्ति का शत्रुघ्न के साथ हो गया। राजा जनक ने अपार धन और हीरे-जवाहरातों के जड़ाऊ गहनों के साथ पुत्रियों को विदा किया। जनक-पत्नी ने, विदा के समय, रोते हुए कन्याओं को उपदेश दिया, "बेटियो! तुम सुप्रसिद्ध राजा निमि की वंशज हो और परम-प्रतापी सूर्यवंश के राजा के यहाँ बहू बनकर जा रही हो। अतः सदा इन दोनों कुलों की मान-मर्यादा क़ायम रखना और अपने रहन-सहन, आचार-व्यवहार, शील एवं स्वभाव से सबको प्रसन्न रखना। इहलोक का ईश्वर, परलोक का परमेश्वर, स्वर्ग का दाता और अपना सर्वस्व पति को ही मानना। आज से दशरथ तुम्हारे पिता हैं और उनकी रानियाँ तुम्हारी माता। उनके प्रति परमश्रद्धा और भक्ति रखना। उनकी सेवा करने से तुम्हारे इहलोक और परलोक दोनों सिद्ध होंगे। पड़ोसियों के साथ हिल-मिलकर रहना। दास-दासियों से कटु वाक्य मत कहना। मैं आशीष देती हूँ कि तुम्हारा सौभाग्य अखण्ड हो। तुम पतिव्रताओं में शिरोमणि और पति की सच्ची सहधर्मिणी बनो।"

विवाह के बाद सीता और उनकी बहनें अयोध्या आईं। वहाँ शुरू के उनके कई साल तरह-तरह के सुख-वैभव और पति-प्रेम के अपूर्व आनन्द में बीते।

राजा दशरथ इस समय बुड्ढे हो गये थे। उनकी इच्छा हुई कि बड़े पुत्र राम का राज्याभिषेक करके मैं राजकार्य से निवृत्त हो जाऊँ। तदनुसार अभिषेक का दिन भी निश्चित हो गया। तमाम शहर में आनन्दोत्सव शुरू हो गये। परन्तु इसी समय एक ऐसी घटना हुई कि जिससे लोगों के हृदय में आनन्द के बजाय शोक छा गया।

राजा दशरथ ने, अपने पूर्व-वचन से बँधे होने के कारण, रानी कैकेयी के कहने पर राम को १४ वर्ष का वनवास दे दिया।

कहाँ राजतिलक और कहाँ वनवास ! सीता सन्न रह गई। परन्तु पति-प्रेम के मोह में उन्होंने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं की। पति को पिता के आज्ञा-पालन से विमुख करने का उन्होंने खयाल भी न किया। अलबत्ता, पति की सच्ची सहधर्मिणी के नाते, वह स्वयं राम के साथ वन चलने को कटिबद्ध हुईं। सीता और वनवास ! सुख और वैभव में पली सीता वन कैसे जायगी और कैसे वहाँ एक-दो दिन नहीं वरन् पूरे चौदह साल व्यतीत करेगी, सभी इसी असमंजस में पड़ गये। सभी ने सीता को तरह-तरह से समझाया, स्नेह और भय-प्रदर्शन से काम लिया, पर पति-प्राणा सीता टस से मस न हुईं। स्वयं राम ने भी समझाया, पर (कविवर तुलसीदासजी के शब्दों में,) उन्होंने यही कहा:—

"प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिनु रघुकुल-कुमुद बिधु, सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सुजन सुहाई। सुत सुन्दर सुशील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँते ताते॥

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति-विहीन सब शोक-समाजू ॥
भोग रोग सम भूषण भारू। जम-जातना सरिस संसारू ॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं। मो कहं सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिन बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद बिमल विधु बदनु निहारे ॥

खग मृग परिजन नगरु बन, बलकल विमल दुकूल।
नाथ साथ सूर सदन-सम, परनशाल सुख मूल ॥

बन-दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु-बियोग लवलेश समाना। सब मिलि होहि न कृपानिधाना ॥
मोहिं मगु चलन न होइहिं हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पायँ पखारि बैठ तरु-छाहीं। करिहौं बायु मुदित मन माहीं ॥
श्रम कन सहित श्याम तनु देखे। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे ॥
सम महि तृण तरु पल्लव डाँसी। पाय पलोटिहिं सब निशि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहिं ताति बयारी न मोही ॥
को प्रभु-संग मोहि चितवनहारा। सिंह-वधुहिं जिमि शशक सियारा ॥"

सीताजी के तीव्र आग्रह और दृढ़-निश्चय पर आखिर राम ने उन्हें अपने साथ वन चलने की अनुमति देदी।

तब, पति की इच्छानुसार, अपने बहुमूल्य गहने-कपड़ों तथा अन्य क़ीमती चीज़ों का परित्याग कर वह तुरन्त बन चलने को तैयार होगई। इसके बाद दोनों कौशल्या से बिदा होने के लिए गये।

इस दारूण दृश्य से कौशल्या की छाती फटी जाती थी; पर यह देखकर कि दोनों धर्म पर आरूढ़ हैं, उन्होंने आज्ञा दे दी और बारम्बार सिर सूँघ कर आशीर्वाद तथा उपदेश दिया। सा कास

उपदेश सुन लेने पर सीताजी ने कहा—"माँ! मैंने शास्त्र-पुराणों में, पतिदेव तथा आपके मुँह से, और मायके में माता-पिता से बारम्बार पतिव्रत-धर्म का महत्व सुना है। मैं उसे भली-भांति समझ गई हूँ और मैंने उसपर अमल भी किया है। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमा के पास से नहीं हटती वैसे ही मैं भी कभी पतिसेवा-रूपी धर्म से डिगनेवाली नहीं हूँ। जैसे बिना तार की वीणा नहीं बज सकती, और बिना पहिये का रथ नहीं चल सकता, वैसे ही बिना पति के स्त्री सुख नहीं भोग सकती—चाहे उसके सैकड़ों पुत्र क्यो न हों। क्योंकि पिता, माता, भाई तथा पुत्रादि तो स्त्री को नियमित सुख ही दे सकते हैं; पर पति तो मोक्ष-रूपी सर्वोत्तम सुख देता है। इतने पर भी भला कौन ऐसी दुष्ट स्त्री है जो पति की सेवा न करे? माताजी! इस बात का आप विश्वास रखिए कि मैं अपना आचरण सदैव सती-साध्वी महिलाओं के योग्य ही रक्खूँगी।"

भाई और भावज के वन जाने की ख़बर जब लक्ष्मण ने सुनी तो उसी वक्त उन्होंने उनके साथ जाने का संकल्प कर लिया और तैयार भी हो गये। तदुपरान्त तीनों सबसे बिदा हो, अयोध्या-वासियों को शोक-सागर में डालकर, रवाना हो गये। महाराज दशरथ तो, पुत्र-वियोग का दुःख सहन न कर सकने के कारण, कुछ ही दिनों में इस लोक से ही सिधार गये।

इधर पत्नी और भाई के साथ पहले तो कुछ दिनों तक रामचन्द्र जी चित्रकूट-पर्वत में रहे। बाद में चित्रकूट पर्वत को छोड़कर गोदावरी नदी के किनारे दण्डकारण्य में चले गये। वहां पंचवटी नामक एक बड़े सुन्दर वन-प्रदेश में अपनी कुटिया बनाकर राम, लक्ष्मण और सीता रहने लगे।

बालक जैसा सरल-स्वभाव होता है, सीता भी वैसी ही सरल-हृदय थीं। गोदावरी नदी के किनारे पंचवटी में प्रकृति पूरी बहार पर थी। माँ की गोद में बालक जैसे निर्भयता से खेलता है, वैसे ही सीताजी भी इस वन में मन खोलकर खूब आनन्द से रहने लगीं, मानों प्रकृति के साथ एकरस हो गई हों। पंचवटी में जंगल के निर्मल पुष्प की नाईं उनका सौन्दर्य खिल उठा। वह खुलेदिल और मुक्तकण्ठ से स्वतंत्र पक्षियों के साथ गीत गातीं, आनन्द और उत्साह के आवेश में चञ्चलता से हिरनों के चंचल बच्चों के साथ खेलतीं-कूदतीं, और कभी-कभी खिले हुए कमल के वन में पद्मिनी रानी की भाँति खिल उठतीं। पहाड़ों में, नदी के किनारों पर और फूलों के वन में बिना किसी संकोच के राम के साथ घूमा करतीं। निर्मल झरनों के किनारे बैठकर बातें करतीं। सगी बहनों के समान अपनी प्यारी सखी-सहेलियों और ऋषि-कन्याओं के साथ नहातीं और फूल चुनतीं। इस सारे सुख के सामने राजा के घर का सुख किस गिनती में? पर अफसोस! सीता के भाग्य में अधिक दिनों तक यह सुख न रहा। अकस्मात् जोर की आँधी आने पर वह वन-कुसुम वन से बिछुड़कर घोर गर्जना करता हुआ तूफानी महासागर में आ पड़ा!

लंका के अधिपति रावण की बहन शूर्पणखा विधवा होने के बाद दण्डकारण्य में रहने लगी थी। रावण की आज्ञा से उसकी मौसी का पुत्र (मौसेरा भाई) खर नामक एक घातकी राक्षक और उसका सेनापति दूषण चौदह हज़ार राक्षसों की सेना रखकर शूर्पणखा की रक्षा करते और उसके कहने के अनुसार चलते थे। यही शूर्पणखा एक दिन घूमती-घामती पंचवटी में जा पहुँची।

राम का अतिशय सुन्दर रूप देखकर वह उनपर आसक्त हो गई। तब परम-सुन्दरी का रूप धरकर राम के पास पहुँची और उनसे प्रेम की भिक्षा माँगी। राम ने उसकी बात पर ध्यान न दिया, तो वह समझी कि मेरे रास्ते में सीताजी ही कण्टक हैं, अतः उन्हें ही खत्म कर देना चाहिए। शूर्पणखा के इस दुष्ट विचार के कारण, दण्ड-स्वरूप, राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने उसके कान और नाक काट डाले।

बहन के इस अपमान का बदला लेने के लिए चौदह हज़ार राक्षसों के साथ खर और दूषण ने राम पर चढ़ाई की। पर लड़ाई में राम ने उन सबको ख़त्म कर दिया। तब शूर्पणखा रावण के पास लंका पहुँची और पुकार मचाई। राम और लक्ष्मण की बात कह चुकने पर सीता की बात कहते हुए शूर्पणखा ने रावण से कहा—"सीता जैसी सुन्दरी इस संसार में कोई नहीं है। तुम्हारे इतनी रानियाँ हैं, पर उनमें से कोई सीता तो क्या उसकी दासी होने के क़ाबिल भी नहीं। तुम्हारे ही लिए मैं सीता के पास गई थी; पर इसीपर लक्ष्मण ने मेरे नाक-कान काट डाले। खर, दूषण और दूसरे जितने राक्षस वहाँ थे, उन सबको राम ने मार डाला है। दण्डकारण्य में अब तुम्हारा राज्य नहीं। देखो, तुम्हारी एक ही बहन और उसका ऐसा अपमान हुआ! अतः अगर बदला लेने की ताक़त हो, तो अभी-के-अभी चलो। सीता को लाकर उसके साथ तुम अपना विवाह करो। ऐसा होने पर ही राम-लक्ष्मण की सच्ची नाक कटेगी और उन्हें उपयुक्त सज़ा मिलेगी, साथ ही तुम्हें भी अद्वितीय सुन्दरी नारी-रत्न मिलने का लाभ होगा।"

रावण ने जब शूर्पणखा की बातें सुनीं तो मारीच नाम के एक मायावी राक्षस के साथ पुष्पक विमान में बैठकर वह दण्डकारण्य पहुँचा। वहाँ, रावण की सलाह से, मारीच सोने के हरिण का रूप धारण कर राम की कुटी के आगे घूमने लगा। सीता ने ऐसा सुन्दर हरिण देखा, तो उसे पकड़ने को उनका जी ललचाया। उन्होंने राम से कहा--"यह हरिण मुझे पकड़ दो। मैं इसे पालूँगी। अगर जीता न पकड़ा जा सके, तो मारकर ही ले आना; इसकी सुन्दर खाल तो अपने यहाँ रहेगी।" तब सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण पर छोड़कर, तीर-कमान ले, राम हरिण को पकड़ने गये। पर हरिण भाग गया।

हरिण बन में बहुत दूर निकल गया। राम भी उसके पीछे-पीछे दौड़े। आखिर जब उसके जीवित पकड़े जाने की आशा न रही, तो राम ने उसपर तीर चलाया। तीर लगना था कि राम के ही स्वर के समान स्वर बनाकर 'भाई लक्ष्मण! तुम कहाँ हो? मेरे प्राण जाते हैं; आकर मुझे बचाओ!' कहते हुए उसने प्राण त्याग दिया।

कुटी में सीता ने यह आर्त्तनाद सुना तो वह अधीर हो उठीं। उन्होंने लक्ष्मण से राम की सहायता को जाने के लिए कहा। लक्ष्मण इस बात को जानते थे कि रामचन्द्र महावीर हैं, उनपर कोई विपत्ति आना सम्भव नहीं, ज़रूर किसी-न-किसी मायावी राक्षस ने किसी बुरे विचार से इस तरह चीख़ मारी है। इसलिए कुटी में सीता को अकेली छोड़कर वह जंगल में नहीं जाना चाहते थे। परन्तु राम की विपत्ति की आशंका से सीता इतनी अधीर हो गईं कि उन्हें अच्छे बुरे का कुछ ख़याल ही न रहा। उन्होंने

लक्ष्मण को अनेक कड़वी बातें कहीं; यहाँ तक कि अन्त में लक्ष्मण राम की खोज को चल दिये।

इधर पीछे रावण भिखारी संन्यासी के वेश में मौजूद था। मनचाहा मौक़ा पाकर वह कुटी के सामने आया। संन्यासी को देख सीता ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और आसन पर बिठाकर खाने के लिए फल-मूलादि लाकर दिये। तब रावण ने अपना परिचय देकर सीता को ललचाना चाहा। इसपर सीता सताई हुई शेरनी की तरह गरज उठीं और कहने लगीं—"अरे पापी! ऐसा तू कौन है, जो इस प्रकार मेरे साथ बात करने का साहस करता है? क्या तू नहीं जानता कि मैं उन पुरुष-श्रेष्ठ राम की पत्नी हूँ, जो महापर्वत के समान दृढ़ हैं, महासमुद्र के समान स्थिर हैं, और इन्द्र के समान पराक्रमी हैं? गीदड़ होकर तू सिंहनी को प्राप्त करना चाहता है? याद रख कि रामचन्द्र सिंह हैं और तू गीदड़ है। रामचन्द्र चन्दन हैं, तू कीचड़। राम स्वर्ण हैं, तू पत्थर। राम गरुड़ हैं, तू कौआ। फिर तेरी यह हिम्मत, जो तू राम की स्त्री के सामने ऐसी बात कहता है! निश्चय ही तेरी मृत्यु निकट आ गई है। इसीसे तुझे ऐसी कुमति उत्पन्न हुई है। अब भी अगर अपनी जान प्यारी हो, तो अभी यहां से भाग जा। क्योंकि इन्द्र की इन्द्रानी शची का अपमान करके भी तू चाहे बचने की आशा रख सके; पर मेरा अपमान करके तो तू किसी भी प्रकार नहीं बच सकता, यह निश्चय है।"

जब रावण ने देखा कि स्वेच्छा से तो सीता उसके साथ चलने की नहीं, तो उन्हें जबर्दस्ती रथ में डालकर वह आसमान में उड़ गया। सीता चिल्लाती और विलाप करती जाती थीं, कि 'हे राम!

तुम कहाँ हो ? अरे लक्ष्मण ! तुम कहाँ हो ? तुम्हारी सीता को यह दुष्ट राक्षस लिये जा रहा है। तुम देखते नहीं ? जल्दी आओ। आकर मुझे बचाओ। हा ! तुम कितनी दूर हो ? मेरी बात तुम्हें सुनाई पड़ती है या नहीं ? पंचवटी ! मेरी विपत्ति का हाल तू राम से कहना। माता गोदावरी ! तुम्हें मैं नमस्कार करती हूँ। राम को तुम यह खबर कर देना कि रावण सीता को हरकर ले गया है। हे बन-देवताओ ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप राम को यह बता देना कि तुम्हारी स्त्री को रावण ले गया है। हे बन के वृक्षो ! हरिणो ! पक्षियो ! इतने दिन तक मैं तुम्हारे साथ रही, अब रावण मुझे लिये जाता है; तुम राम को यह बता देना।'

रास्ते में सीता ने जटायु पक्षी को देखा। जटायु गरुड़ के बड़े भाई अरुण का पुत्र था। दशरथ की उससे मित्रता थी। अतः सीता ने उससे कहा—"हे आर्य्य जटायु ! रावण मुझे हरकर लिये जाता है; और राम-लक्ष्मण कुटी में मौजूद नहीं हैं; आप मेरी रक्षा कीजिए।" तब जटायु और रावण में खूब युद्ध हुआ। पर अखीर में जटायु को मरणासन्न घायल करके सीता को लिये हुए रावण आगे चल दिया।

रास्ते में सीता ने एक पहाड़ पर सुग्रीव आदि बन्दरों को बैठे हुए देखा। तब इस आशा से कि शायद इनसे राम की खबर मिल सके, उन्होंने अपने गहने और ओढ़ना उनके पास फेंक दिये।

रावण समुद्र को पार करके सीता के साथ लंका पहुँच गया। रावण की राजधानी लंका के पास एक सुन्दर अशोक-बाटिका थी। रावण ने सीता को उसीमें रक्खा और उनके पास कितनी ही विकराल राक्षसियों को दासी के रूप में रख दिया, जिन्हें यह

आज्ञा दी गई कि डराकर, सताकर, तंग करके, गरज़ यह कि जैसे भी हो सके, सीता को वशीभूत करो। पर राम में ही तन्मय हो जानेवाली सीता का मन न तो रावण के प्रलोभनों से चंचल हुआ, न दासियों की पीड़ा से ही उसमें रंचमात्र अस्थिरता आई। सीता तो राम के लिए ही आकुल-व्याकुल होकर, रात-दिन रोती हुई, अशोक-वाटिका में अपने दिन बिताने लगीं।

उधर स्वर्ण-मृग को मारकर राम कुटी की तरफ चले। राम को यह भय था कि हरिण की मृत्यु-समय की चिल्लाहट सुनकर लक्ष्मण कहीं सीता को अकेली छोड़कर मेरे पास न चले आवें। उसी समय से उनके मन में तरह-तरह की शंकायें उठ रही थीं। फिर जब रास्ते में ही लक्ष्मण मिल गये, तब तो उनका भय और भी दृढ़ हो गया। जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाते हुए दोनों भाई कुटी में आये। पर देखें तो सीता नदारद! समझ गये कि सत्यानाश हुआ। मायावी राक्षस माया के द्वारा हमें भटकाकर सीता को कहीं-का-कहीं ले गया। तब दोनों जने चारों ओर सीता को ढूँढने लगे। ढूँढते-ढूँढते उन्हें घायल जटायु मिला। जटायु ने राम को बताया कि सीता को रावण हर लेगया है। इसके बाद उसका प्राणान्त हो गया। तब, उसका अग्नि-संस्कार करके, सीता की तलाश में राम और लक्ष्मण दक्षिण की तरफ गये। धीरे-धीरे किष्किन्धा देश में आने पर सुग्रीव, हनुमान आदि के साथ उनकी मुलाक़ात हुई।

सुग्रीव ने कहा कि रावण सीता को आसमान के रास्ते ले गया है, और सीता के गहने व ओढ़ना उन्हें दिखाये। तब, सीता की मुक्ति के लिए, राम ने सुग्रीव से सहायता माँगी। रावण ने

किस तरफ और कहाँ पर सीता को रक्खा है, इसकी खोज के लिए सुग्रीव ने चारों तरफ अपने जासूसों को भेजा। दक्षिण की तरफ महावीर हनुमान गये, जो एक ही छलांग में समुद्र को पार करके लंका जा पहुँचे। रात को सबके सो जाने पर घरों की छतों पर होकर उन्होंने रावण के नगर में और आस-पास के राक्षसों के गाँवों में सीता की खोज की। अनेक सुन्दर स्त्रियों को भी देखा। ये सब सुन्दरियां सुन्दर-सुन्दर गहने-कपड़ों से सजकर सुन्दर सुन्दर बिछौनों में सो रही थीं। पर हनुमान ने सोचा कि इनमें से कोई सीता नहीं है। क्योंकि सीता क्या राम से बिछुड़कर निश्चिन्तता के साथ ऐसे ठाठ से और ऐसे सुन्दर बिछौनों में सो सकती हैं? फिर ये सब स्त्रियाँ जितनी चाहिए उतनी सुन्दर भी नहीं। इनकी तरफ देखकर किसीको 'मा' कहकर पुकारने की इच्छा ही नहीं होती। राम की सीता क्या ऐसी होंगी?

अन्त में हनुमान अशोक-वाटिका में पहुँचे। दरख्तों पर कूदते-फाँदते हुए उन्होंने देखा कि अशोक के एक वृक्ष के नीचे अशोक-वाटिका को दीप्तिमान करनेवाली एक देवी बैठी हुई है। देवी के बाल उलझ रहे थे, सारा शरीर धूल में सन रहा था, कपड़े फट गये थे, और आँखों में आंसू भरे हुए थे। उसके मुख से करुण स्वर में 'राम-राम' की ध्वनि निकल रही थी। चारों ओर से घेरकर राक्षसियाँ उसे सता रही थीं। हनुमान समझ गये कि यही सीता हैं। तब वह उस वृक्ष के ऊपर, डाली और पत्तों के बीच में, छिप गये। फिर जब दासियाँ तीन-तेरह हुईं तब नीचे उतरे। उन्होंने सीता को प्रणाम करके अपना परिचय दिया और राम का सन्देश सुनाया। बहुत दिनों बाद राम के समाचार पाकर

और इस विचार से कि राम के पास अपनी खबर भेजी जा सकेगी, सीता को बड़ा आश्वासन हुआ। अपने आँसुओं को पोंछकर आशीर्वाद के चिन्ह-स्वरूप एक मुद्रा (अँगूठी) उन्होंने हनुमान को दी और कहा—"भाई! इस मुद्रा को ले जाकर राम को देना। इससे उन्हें यह विश्वास हो जायगा कि तुम मुझसे मिल गये हो। मेरी तरफ से उनसे कहना कि ज्यादा दिनों तक मैं इस हालत में जीती न रह सकूँगी, इसलिए जैसे हो उन्हें जल्दी आकर मेरा उद्धार करना चाहिए।" हनुमान ने कहा—"मां! इतने दिन इन्तजार करने की भी क्या जरूरत? यहाँ व्यर्थ ही क्यों कष्ट उठाती हो? मेरी पीठ पर बैठ जाओ, मैं एक ही छलांग में समुद्र को लाँघकर अभी-का-अभी तुम्हें राम के पास पहुँचा देता हूँ।" पर सीता ने कहा—"बेटा! मैं जानती हूँ कि तुममें इतनी ताकत है कि तुम किसीके बिना जाने ही मुझे यहाँ से ले जा सकते हो; परन्तु रावण ने मुझे हरकर राम का बड़ा अपमान किया है। राम ऊँचे कुल में पैदा हुए हैं। अतः युद्ध में रावण को हराकर मुझे मुक्त करने से ही उनकी इज्जत रहेगी और अपमान का बदला चुकेगा। राक्षस द्वारा स्त्री के हर लिये जाने का उनका कलंक और किसी प्रकार दूर नहीं हो सकता। इसलिए लंका से चोर की नाईं चुपचाप चली जाकर मैं राम का मुँह नीचा न करूँगी। रहा मेरा सतीत्व-धर्म; सो जबतक मेरे शरीर में प्राण मौजूद हैं तबतक किसी की हिम्मत नहीं कि उसका नाश कर सके।" तब सीता को प्रणाम करके हनुमान वहां से बिदा हुए।

रावण का छोटा भाई विभीषण बड़ा धार्मिक था। उसने अपने भाई के अधर्म और अनाचार से दुःखी होकर अनेक बार

रावण को यह समझाया था कि वह सीता को लौटादे और राम से सन्धि करले। पर रावण ने इसपर उलटे उसे लात मारकर निकाल दिया। तब, व्यथित होकर, विभीषण राम के पक्ष में आ मिला। लंका में बहुत दिनों तक रावण के साथ राम का युद्ध हुआ। रावण का भाई कुम्भकरण और पुत्र वीरबाहु, अतिकाय, मेघनाद आदि उसके सब महा बलवान् और पराक्रमी राक्षस एक-एक करके इस युद्ध में मारे गये। और अन्त में खुद रावण भी राम के हाथों मारा गया।

रावण के मारे जाने पर सीता को यह खुशखबरी सुनाने के लिए हनुमान अशोकवाटिका में पहुँचे। इस हर्ष-समाचार को सुनकर सीता की आँखों में खुशी के आँसू भर आये। हर्ष के उच्छ्वास से उनका हृदय ऐसा भर गया कि कुछ बोला न जा सका। हनुमान को इसपर बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने कहा—"माँ! यह क्या! रोती क्यों हो? मुझसे बोलतीं क्यों नहीं?" तब थोड़ी देर में आत्मा को शान्त करके सीता ने कहा—"बेटा! अनेक दुःख उठाने के बाद आज राम की विजय की खबर सुनकर मैं एकदम धीरज खो बैठी हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि आज तुमने मुझे जो खुशखबरी सुनाई है, उसके लिए मैं तुम्हे क्या पुरस्कार दूँ। मुझे तो तीनों लोकों में ऐसा कुछ भी नहीं दीखता जिससे मैं तुम्हारी इस सेवा का बदला चुका सकूँ। मैं तो इस पृथ्वी के राज्य को भी तुम्हारे लिए पूरा इनाम नहीं समझती।"

हनुमान ने कहा—"माँ! आज तुम सुखी हुई। मेरे मन से तो, यही मेरा पूरा इनाम है। मुझे तो तुम्हारी यह स्नेह और ममतापूर्ण बात स्वर्ग के राज्य से भी अधिक बहुमूल्य है।"

इसके बाद सीता को प्रणाम करके उन्होंने फिर से कहा—"माँ! इन राक्षसी दासियों ने इतने दिन तुम्हें बड़ा दुःख दिया है; अतः अगर तुम आज्ञा दो तो इन सबको मैं अभी मार डालूँ।"

सीता ने कहा—"बेटा! दासियाँ अपने स्वामी के अधीन होती हैं। स्वामी जैसा कहे वैसा ही उन्हें करना चाहिए। इन्होंने रावण के कहने से ही मुझे दुःख दिया है। तब इन्हें सज़ा क्यों दी जाय? मनुष्य तो अपने-अपने कर्मों के फल से ही दुःख पाते हैं। मैंने भी अपने कर्मों के फल से ही यह दुःख पाया है। इसमें इनका क्या क़सूर? जबतक रावण था, तबतक उसके कहने के मुताबिक ये मुझे दुःख देती थीं। आह! देखो, आज यही दासियाँ डर के मारे कैसी दीन-हीन बन गई है! मुझे इनसे कोई वैर नहीं है। तुम भी इन्हें क्षमा करदो। अपराध संसार में सभी से होते हैं; आपस में एक-दूसरे के अपराधों को क्षमा कर देना ही धर्म है।"

सीता की ऐसी बातें सुनकर हनुमान को सन्तोष होगया और उन्होंने राक्षसियों को क्षमा कर दिया।

इसके बाद राम की आज्ञा से विभीषण सीता को लेने आये। सीताजी नहा-धोकर और गहने-कपड़ों से सजकर राम के दर्शनों को चल दीं। राम के पास जाकर सीता ने राम को प्रणाम किया और लज्जा के साथ नीचा मुँह करके उनके सामने खड़ी हो गई। राम ने गम्भीर बनकर कहा—"सीता! रावण तुम्हें हरकर लेगया था, उस अपमान का बदला लेने के लिए मैंने उसका संहार करके तुम्हें मुक्त कर दिया। इस प्रकार एक इज्ज़तदार आदमी का जो फ़र्ज़ था, उसे मैंने पूरा किया। पर रावण ने दस महीने तक तुम्हें ज़बरदस्ती जो अपने घर में रक्खा है, उससे

यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता कि तुम विशुद्ध ही रही हो। ऐसी दशा में तुम्हें रखकर मैं अपने महान वंश को कलंकित नहीं कर सकता। अतः जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ तुम जाओ, और जैसे जी में आये वैसे रहो।"

वज्र टूट पड़ता तो उसे सीता सह लेतीं। संसार में दूसरी जितनी मुसीबतें, निन्दा, घृणा आदि होती हैं, वे सब एकसाथ सीता पर आ पड़तीं, तो उन्हें भी सीता सह लेतीं। पर राम की इस बात ने तो सीता के अन्तःकरण को जलते हुए तीर की तरह बेध डाला। रोते-रोते वह कहने लगीं—"हे आर्यपुत्र! साधारण लोग साधारण स्त्रियों को जैसी बात कहते हैं, आप सरीखे महापुरुष वैसी घृणित बात कहकर मुझे क्यों व्यथित करते हैं? मैं रावण के घर में थी, क्या इसीसे दूसरी दुष्ट औरतों की तरह मैं रावण के वश हो गई? मैं अबला स्त्री हूँ, क्रूर रावण ने बलपूर्वक मुझे स्पर्श किया है; उसे रोकने की और उसका सामना करने की मुझमें सामर्थ्य न थी; इससे क्या यह मेरा अपराध माना जा सकता है? यह शरीर मेरे अधीन नहीं है। यह ठीक है कि उसने इस शरीर को स्पर्श किया है; पर मेरे हृदय को, कि जिस पर हर हालत में मेरा अधिकार है, क्या वह दुराचारी छू सका है? मेरा यह हृदय हमेशा आप ही पर अनुरक्त रहा है। इसने सदा आपकी ही भक्ति की है। संसार में किसी की ताक़त नहीं जो पलमात्र को भी इस हृदय में आपके सिवाय और किसी का विचार पैदा कर सके। इस दासी ने बहुत दिनों तक साथ रहकर आपकी सेवा की है। मेरा हृदय कैसा है और कैसा मेरा चरित्र है, इस बात को क्या आप नहीं जान सकते? जिस दोष

की शंका करके आपने मेरा परित्याग किया है, वह दोष मुझमें हो सकता है, यह विचार आपके मन में कैसे आया? रावण के पाशविक बल से मेरे शरीर का ऐसा कोई भी स्पर्श हुआ होता जो कलंक-योग्य हो, तो क्या आपके सामने जिन्दा आकर खड़ी रहती?"

पर राम ने इन बातों का कोई जवाब न दिया। तब सीता ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! कलंकिनी मानी जाकर मैं अब अपने प्राण नहीं रखना चाहती। इतने लोगों के सामने कलंकिना मानकर जब स्वामी ने मुझे त्याग दिया, तो अब मुझे जीते रहने की क्या जरूरत? अतः तुम जल्दी से जाकर मेरे लिए चिता तैयार करदो। आग में इस शरीर को विसर्जन करके आज मैं इस सारे दुःख और कलंक का अन्त कर दूंगी।"

लक्ष्मण ने सीता की बात सुनकर क्रोध के साथ राम की ओर देखा; पर राम खामोश रहे। तब लक्ष्मण ने चिता तैयार की। जब चिता सुलग गई, तब अग्नि को प्रणाम करके सीता ने कहा, "जो राम से मेरा चित्त किसी भी दिन चलायमान न हुआ हो, तो हे सबके देखने और शुद्ध करनेवाले हुताशन! तू मेरी रक्षा करना। राम के मुझे कलंकिनी कहकर मेरा त्याग करने पर भी यदि वास्तव में मेरा चरित्र शुद्ध हो, तो हे पाप पुण्य के साक्षी भगवान अग्निदेव! मेरी रक्षा करना। यदि शरीर, मन और वचन से मैंने कभी भी राम के कहे को न किया हो, उनका उल्लंघन किया हो, तो हे त्रैलोक्य को शुद्ध करनेवाले विभावसु! मेरी रक्षा करो।" और जलती हुई चिता में बैठ गईं।

चारों तरफ हाहाकार मच गया। रामचन्द्र भी अपनी निष्ठुरता के अनुताप से दग्ध होकर विलाप करने लगे। पर सीता सती थीं, उनका पवित्र शरीर आग में नहीं जला। साक्षात् मूर्तिमान अग्निदेव चिता की आग से उन्हें बाहर निकाल लाये और राम के सुपुर्द करके उन्होंने कहा—"राम! अपनी सीता को ग्रहण करो। पाप का इनसे लेशमात्र स्पर्श नहीं हुआ है। मिथ्या कलंक का भय करके पतिव्रता, धर्मशील और साध्वी पत्नी का परित्याग मत करो।"

आखिर, लज्जित होकर, राम ने सीता को आदर-पूर्वक स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त विभीषण को लंका का राजा अभिषिक्त करके, सीता और लक्ष्मण के साथ, रावण के पुष्पक विमान में बैठकर, वह वनवास से लौट आये और चौदह वर्ष पूरे हो जाने के कारण, भरत के दिये हुए राज्य को ग्रहण कर, बड़े सुख के साथ अयोध्या का राज्य करने लगे।

सीता अयोध्या की राजरानी बनीं। सुख और वैभव में उनके दिन बीतने लगे। परन्तु स्थायी सुख उनके भाग्य में नहीं लिखा था। वनवास के समय जिस निर्मल सुख और शान्ति का उपभोग उन्होंने किया था उसको वह अभी भी भूल नहीं सकी थीं; गर्भवती होने पर, कुछ दिन के लिए पुनः उस शान्ति का उपभोग करने की उन्हें इच्छा हुई। गर्भवती हुए पाँचवाँ महीना था। ऐसे समय माता अगर सन्तुष्ट और प्रफुल्लित रहे तो उसकी सन्तान तन्दुरुस्त, प्रफुल्लित और उदार-चित्त होता है, यह हमारे देश में बहुत दिनों से मानते आये हैं। इसीलिए हमारे यहाँ गर्भिणी की

इच्छा पूर्ण करके उसके मन को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न हमेशा से होता आया है। अतः राम ने गर्भिणी पत्नी की बात का समर्थन किया। पर सच पूछो तो यही मनोरथ सीता के सुखमय जीवन के लिए काल-रूप हो पड़ा। क्योंकि इसी समय अकस्मात् राम को यह सुनाई पड़ा कि बहुत दिनों तक रावण के घर में रहने के कारण अयोध्या की प्रजा सीता पर कलंक लगाती है और इसीलिए सीता को स्वीकार करने के कारण वे लोग उनसे (राम से) भी असन्तुष्ट हैं। लोग यह कहते थे कि राम और सीता के उदाहरण के कारण हम भी धर्म और टेक के लिए अपने घर की स्त्रियों को उपयुक्त सज़ा नहीं दे सकते।

रामचन्द्र एक आदर्श राजा थे। राजा का यह सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को सन्तुष्ट रक्खे और उसका रंजन करे। इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए प्राणों से प्यारी चीज़ों तक का त्याग कर देना पड़ता है। इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही रामचन्द्र भी सीता का त्याग करने के लिए तैयार हो गये। सीता उनकी एकमात्र पत्नी और उन्हें प्राणों से भी प्यारी थीं। उस समय के राजा लोग अनेक रानियाँ रखते थे, फिर भी राम ने सीता के सिवाय और किसी स्त्री से विवाह न किया था। इसलिए सीता के वियोग से उनका जीवन सुखहीन होगा, और घर श्मशानवत हो जायगा, यह सब वह जानते थे। परन्तु चूँकि वह राजा थे, इसलिए राजधर्म के अनुसार प्रजा को राजी करने के लिए वह अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करने के लिए भी तैयार होगये।

सीता तपोवन देखना चाहती ही थीं। अतः लक्ष्मण को यह काम सौंपा गया कि इस निमित्त वह उन्हें ले जायें, और महर्षि बाल्मीकि के तपोवन में जाकर उनको छोड़ आवें। लक्ष्मण ने राम को बहुतेरा समझाया, खूब मिन्नत की, यहाँतक कि रोये भी; लेकिन दृढ़-प्रतिज्ञ रामचन्द्र पर कुछ असर न हुआ – वह टस से मस न हुए। आखिर विवश होकर भ्रातृ-परायण लक्ष्मण इस अत्यन्त निष्ठुर कार्य को करने के लिए तैयार हुए।

सीता को अभीतक किसी बात का पता न था। अतः वह प्रसन्न चित्त से लक्ष्मण के साथ रथ में बैठकर तपोवन को चल दीं। पर जब गंगा-किनारे महर्षि बाल्मीकि के तपोवन में पहुँच गये, तो लक्ष्मण ने दुःख और शर्म के मारे नीचा मुँह करके रोते हुए सीता को राम की वह मर्म-वेधी आज्ञा सुनाई। उसका सुनना था कि सीताजी बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ीं। जबतक वह बेहोश रहीं तबतक तो वह दुःख से मुक्त रहीं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों का काम बन्द हो जाने से उन्हें दुःख का भी अनुभव नहीं हुआ। पर जब लक्ष्मणजी ने उनके मुँह पर पानी के छींटे डालकर और पखा झलके उन्हें सचेत किया, तब तो उनके हृदय की दुःखाग्नि जोरों से सुलग उठी। इस प्रकार होश आना, उनके लिए बेहोशी से ज्यादा दुखदायी हो पड़ा। मगर उनके शील की तारीफ़ करनी पड़ेगी, क्योंकि यद्यपि पति ने निरपराध उन्हें घर से निकाल दिया था, फिर भी उन्होंने अपने मुँह से क्रोध के आवेश में एक भी दुर्वचन न निकलने दिया। उन्होंने तो बार-बार अपने-आपको ही धिक्कारा, बारम्बार अपनी ही बुराई की, और बारम्बार अपने दुःखी जीवन का ही तिरस्कार किया!

लक्ष्मण ने महासती सीता को बहुतेरा आश्वासन देकर समझाया और बाल्मीकि ऋषि के आश्रम का रास्ता बताकर वहाँ रहने की सलाह दी। तदुपरान्त भावज के चरणों में पड़कर बड़ी दीनता और नम्रता के साथ उन्होंने कहा—"हे देवी! मैं परवश हूँ। पराधीनता की वजह से ही आज मुझे ऐसा क्रूर कार्य करना पड़ा है। अपने स्वामी की आज्ञा से ही आज मैंने तुम्हारे साथ ऐसा कठोर व्यवहार किया है। इसके लिए मैं बड़ी नम्रता के साथ तुमसे क्षमा माँगता हूँ। भाभी! मुझे क्षमा करो।"

सीताजी ने झट लक्ष्मण को उठाकर कहा—"हे सौम्य! तुम बड़े सुशील हो। तुमसे मैं बड़ी प्रसन्न हूँ। तुम चिरंजीवी होओ। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम तो अपने बड़े भाई के वैसे ही अधीन हो, जैसे इन्द्र विष्णु के। यह मैं भलीभाँति जानती हूँ कि स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का कर्त्तव्य है। तुम अब जाओ। मेरी सब सासों से मेरा प्रणाम कहना; और कहना कि आपके पुत्र से मुझे जो गर्भ रहा है उससे उत्पन्न होनेवाले बालक का सब कल्याण चाहना। और महाराज (राम) को मेरी तरफ से कहना कि मैं आपके सामने ही आग में कूदकर अपनी विशुद्धता सिद्ध कर चुकी थी; इतने पर भी नगरवासियों की बिलकुल निराधार बात सुनकर आपने जो मेरा परित्याग किया, वह आपने अपने कुल को सुशोभित करने के लिए किया है या शास्त्रों की आज्ञा का अनुसरण करके? रघु के उज्ज्वल कुल में पैदा होकर और सारे शास्त्रों का मर्म समझकर भी आपने मेरे साथ जो यह बिलकुल अनुचित व्यवहार किया है, क्या आपको यह शोभा देता है? आह! पर मैं आपको दोष क्यों दूँ? आप तो सदैव

दूसरों के शुभचिन्तक हैं। कभी किसीको दुःख नहीं देते। इस-लिए मैं यह कैसे कह सकती हूँ कि आपने अपने ही मन से मेरा परित्याग किया है? निश्चय ही यह परित्याग मेरे पूर्वजन्म के कर्मों ही का फल है। इसमें आपका क्या क़सूर? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह सब करम राजलक्ष्मी के ही हैं। वह आपको प्राप्त होनेवाली थी, तब आप मुझे अपने साथ लेकर वन में चले गये। जब मैं आदर के साथ आपके घर में रहने लगी, तब ईर्ष्या की मारी उससे मेरा वह सुख न देखा जा सका। अतः इस चिढ़ी हुई राजलक्ष्मी की प्रेरणा का ही यह सब फल है। हा! मेरे वे दिन कहाँ गये, जब राक्षसों से पीड़ित अनेक ऋषि-पत्नियों को मैं आश्रय देती थी? पर अब तो मुझे खुद को ही दूसरे की शरण में जाना पड़ेगा! आपके होते हुए मुझसे यह हो सकेगा? आपके वियोग में मेरे यह पापी प्राण व्यर्थ हैं। आपके बिना इस जीवन को मैं निकम्मा समझती हूँ। मेरे मन से तो यह किसी अर्थ का नहीं। जो आपका तेज इस समय मेरी कोख में न होता, तो मैं इस तुच्छ जीवन को पलमात्र में नष्ट कर देती; परन्तु मेरी कोख में आपका जो गर्भ है, वह मेरे ऐसा करने में बाधक हो रहा है। क्योंकि जो मैं आत्महत्या करूं, तो गर्भ में जो बालक है वह भी नष्ट होजायगा; इसलिए मैं ऐसा करना नहीं चाहती। मैं तो गर्भ की रक्षा करने को ही अपना परमधर्म समझती हूँ। इस विचार ने ही मुझको मरने से रोक रक्खा है। पर कोई बात नहीं। बालक के पैदा हो जाने पर एकटक सूर्य की तरफ देख-कर मैं ऐसी घोर तपस्या करूँगी कि जिससे अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों, और फिर कभी आपका वियोग न हो।

आप से मेरी एक ही प्रार्थना है। मनु महाराज ने जो वर्णाश्रम-धर्म बताया है उसका पालन करना ही राजाओं का धर्म-कर्त्तव्य है। आप इस धर्म को अवश्य जानते हैं; इसलिए यद्यपि आपने मुझे घर से निकाल दिया है, फिर भी मैं आपकी दया की पात्र हूँ। यह दशा प्राप्त होने के बाद आप पत्नी के रूप में नहीं तो एक साधारण वनवासिनी तपस्विनी गिनकर ही मुझपर दया रखना। प्रजा की रक्षा करना और उसकी देख-भाल रखना तो राजा का कर्त्तव्य ही है। अतः पत्नी के रूप में नहीं तो प्रजा के रूप में ही मुझपर अपना स्वामित्व कायम रखना। मेरे साथ का सम्बन्ध बिलकुल ही भंग न कर देना।"

लक्ष्मण ने कहा—"भाभी! मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगा। तुम्हारा सन्देशा ज्यों-का-त्यों माताओं और बड़े भाई से जाकर मैं जरूर कहूँगा।"

इसके बाद लक्ष्मण चले गये; आँख से, ओझल हो गये। सीता दुःख के भारी बोझ से रोने लगी। निराधार अबला का आश्वासन आँसुओं के सिवाय और है भी किसमें? उनकी शोकजनक अवस्था को देखकर उनपर दया दिखानेवाला कोई मनुष्य तो वहाँ था ही नहीं; पर 'मोरों ने नाचना छोड़ दिया, फूलों ने बढ़ना छोड़ दिया, हरिणों ने दूब खाना भी छोड़ दिया। इस प्रकार सब प्राणी सीता के सम-दुखिया होगये और वन में बड़ा रुदन मच गया।' इतने में बाल्मीकि मुनि वहाँ आ पहुँचे। इन आदि कवि का हृदय इतना कोमल था कि एक बार एक पारधी (पक्षियों का शिकारी) एक क्रौंच को मार रहा था। उसे देखकर उनके मन में दया उत्पन्न हुई और

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः" इस श्लोक के रूप में पक्षी को मारते हुए पारधी को रोकने की अमृतमयी वाणी सहज ही उनके मुख से निकल पड़ी थी। ऐसे कोमल-हृदय मुनि को राजकुमारी और राजमहिषी सीता को इस प्रकार निराधार दशा में देखकर अत्यन्त वेदना हो, तो इसमें अचरज ही क्या? अतः सीता के रोने की आवाज़ सुनकर वह सीता के पास गये, और जब सीता ने प्रणाम किया, तो गर्भवती देखकर उसे उन्होंने आशीर्वाद दिया, कि "तेरे सुपुत्र पैदा हों।" तदुपरान्त सान्त्वना देकर महर्षि सीता को अपने आश्रम में ले गये।

आश्रम में रहनेवाले मुनियों की पत्नियों तथा कन्याओं से वाल्मीकिजी ने सीता की पहचान करादी। तपस्वियों की पत्नियों ने सीता का बड़ा सम्मान किया। फिर एक पर्णकुटी में सीताजी रहने लगीं। उनका तमाम समय आश्रम में अनेक प्रकार के काम करने, पवित्र तमसा नदी में नहाने और अतिथियों का आदर-सत्कार करने में व्यतीत होता था। दरख्त की छाल के उन्होंने कपड़े पहन लिये, एक मृगचर्म पर सोने लगीं और कन्द-मूल खाकर पति के वंश को क़ायम रखने ही के लिए वह अपने शरीर को जिन्दा रखने लगीं। कुछ दिनों में वाल्मीकिजी के आश्रम में ही सीता ने कुश और लव नाम के दो पुत्र-रत्नों को प्रसव किया। इन दो सुन्दर बालकों के अतुल सौन्दर्य से तपोवन चमक उठा। इस प्रकार सीताजी ने तपोवन के अपने निवास के समय में कुटी में तपस्विनी के वेश में रहते हुए अपने इन पुत्रों के लालन-पालन में अपना मन लगाया।

पञ्चवटी में वनवास करने वाली सीता को हमने देखा है, पर उसकी और आजकी सीता की जरा तुलना तो कीजिए! है तो यह भी तपोवन, यहाँ भी हरिणों के बच्चे खेलते हैं, पद्मवन में पद्म यहां भी खिले हैं, मधुर मलयानिल से वृक्षों की लतायें नाच-नाच कर फूल बखेर रही हैं, ऋषि-कन्यायें यहां भी हँसती और गाती हुई नहाती हैं, फूल तोड़ती हैं, मालायें गूँथती हैं— मतलब यह कि सब कुछ मौजूद है; पर सीता के पास राम नहीं, इससे सीता वैसी-की-वैसी नहीं है। अब सीता न तो खेलती है, न गाती, न हँसती, न कमल-वन में घूमती, न ऋषि-कन्याओं के साथ आनन्द पूर्वक गाती-बजाती, और न फूल तोड़कर माला ही गूथती है। आह! बालिका की तरह सरल हृदय से राम के साथ नित्य उत्साह और आनन्द में क्रीड़ा करनेवा लीयही सीता पंचवटी में तो ऐसीहंसती-कूदती थीं, जैसे वसन्तोद्यान में नवप्रभात के समय सुगन्धित पुष्पों से लदी हुई माधवीलता मलयानिल की लहरों (वायु की हिलोरों) से नाचती रहती है; पर आज वही लता प्रचण्ड ताप से सूखकर जमीन पर पड़ी हुई है! क्योंकि सीता आज वनवासी राम की आनन्दमयी साथिन नहीं किन्तु जीवन-रूप स्वामी के विरह से पीड़ित, आशाहीन और दुःख में आत्म-समर्पण करनेवाली तपस्विनी हैं। आज यह दुःखी ललना सीता, तपोवन की एक एकान्त कुटी में, दिलोजान से सम्पूर्ण प्रेम के साथ अपने दो पुत्रों का पालन करने में निमग्न है। शोक के कारण मलिन सीता के सुन्दर मुख-कमल पर आज तपस्विनी के धर्म-बल और माता के मातृ-स्नेह की शान्त गम्भीरता छा रही है। सीता के आनन्दोच्छ्वासमय नेत्रों में आज केवल स्नेह और विशाद का अश्रुमय हास्य है! दूर

अयोध्या के सिंहासन पर विराजमान प्रजा रंजन के कठोर व्रत के व्रती राम! कल्पना के नेत्रों द्वारा अपनी सीता की इस मूर्ति को क्या कभी तुमने देखा है? और यदि देखा है, तो क्या तुम यह नहीं जानते कि कैसे महान दैवबल से पत्थर का कलेजा करके यह मूर्ति अपना जीवन बिता रही है?

शनैःशनैः कुश और लव बड़े हुए। वाल्मीकिजी ने उन्हें अनेक शास्त्रों की शिक्षा दी। राम और सीता के अपूर्व जीवन का वर्णन करने के लिए उन्होंने रामायण का महाकाव्य रचा, और कुश लव को उसे पढ़ाने लगे। यह बालबन्धु तपोवन में मुनियों के सामने वीणा बजाकर, बड़े सुललित स्वर से, उस रामायण को गाया करते।

उधर रामचन्द्र ने अश्वमेध-यज्ञ की तैयारी की। पर पत्नी के बिना धार्मिक कृत्य पूरा नहीं होता, इसलिए पुरोहित ने रामचन्द्र-जी से पुनः विवाह करने के लिए कहा। परन्तु सीता को ही सच्चे दिल से चाहनेवाले राम ने फिर से विवाह करने के विचार को मन में स्थान भी न दिया। तब सोने की सीता बनाई गई, और उसे साथ लेकर ही रामचन्द्र ने यज्ञ प्रारम्भ किया। अन्य ऋषियों की नाइं बाल्मीकिजी को भी इस यज्ञ का निमन्त्रण गया था और वह भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आये थे। लव और कुश भी उनके शिष्यों के रूप में ही आये थे। सब एकत्र राजाओं और मुनियों के सम्मुख, बाल्मीकिजी के कहने पर, कुश व लव ने रामायण को गाया। तब रामचन्द्रजी समझ गये कि ये दोनों बालक मेरे ही पुत्र हैं।

पुत्रों को देखकर और बाल्मीकि के तपोवन में रहनेवाली सीता की सब हालत सुनकर रामचन्द्र दुःख से बड़े द्रवित हुए।

अन्त में वाल्मीकि के आग्रह पर वह सीता को फिर से अंगीकार करने को राजी हो गये; पर उन्होंने कहा—"प्रजा में फिर से इसपर दुःख या असन्तोष पैदा न हो, इसके लिए सीता को भरी सभा में सबके सामने अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी पड़ेगी।"

तब सीता अयोध्या आकर भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं, ऋषि-मुनियों और अयोध्या की प्रजा के सामने खड़ी हुईं और वाल्मीकि ने राम की कही शपथ तथा निर्दोषिता सिद्ध करने की बात कही।

सीता निर्मल-चित्त, शुद्ध-हृदय थीं; मगर यह बात उन्हें बहुत बुरी लगी। असाधारण धैर्य के साथ उन्होंने आजतक सब कष्टों को सहा था और इस समय फिर से राम के चरणों में शरण मिलने की बड़ी भारी आशा से वह अयोध्या आई थीं; पर यहाँ एकाएक यह सुनकर कि भरी सभा में शपथ खाकर सबूत पेश करना पड़ेगा, उनका कलेजा फट पड़ा। कोमल-हृदय सती सीता यह दारुण अपमान न सह सकीं। अतः उन्होंने किसीकी ओर भी मुँह उठाकर न देखा। पृथ्वी की कन्या ने आज इस बड़े दुःख के समय भूमाता की तरफ देखकर उसीकी गोद में अपने दुःखमय जीवन की अन्तिम शान्ति और अन्तिम आश्रय प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। धीमे करुण स्वर से उन्होंने कहा—"अपने तमाम जीवन में राम के सिवाय और किसी-को कभी भी मैंने अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। इसी धर्म के लिए, हे भूमाता! तू अपने गर्भ में मुझे स्थान दे। मैंने मन, वचन और काया से जिन्दगीभर एकमात्र राम की ही पूजा की है; इस सत्य के बल पर, हे भगवती वसुन्धरा! इस दुःखी कन्या को

अपनी गोद में लेले। मैं शपथपूर्वक कहती हूँ, कि मेरा जीवन अकलंकित है—उसमें रंचमात्र कलंक नहीं; अपने स्वामी रामचन्द्र के सिवाय और किसी पुरुष का ध्यान मैंने स्वप्न में भी कभी नहीं किया। मेरी शपथ की सचाई के सबूत में, हे धरती-माता! इसी समय तू फटजा, और मुझे अपने गर्भ में जगह दे।"

सीता का यह कहना था कि सबके देखते-देखते तुरन्त धरती फटी और चमकते हुए सिंहासन पर बैठी हुई साक्षात पृथ्वीदेवी अपनी कन्या सीता को गोद में बिठाकर पल-मात्र में अन्तर्धान हो गईं।

पाठिका बहनो! सीता की पवित्र कथा यहीं समाप्त होजाती है। यह कथा दुःख, पवित्रता और त्याग की कथा है। महर्षि वाल्मीकि इस सती के चरित्र को सदा के लिए सजीव कर गये हैं। फिर तो उनका अनुकरण करके तुलसीदास, गिरधर आदि प्राकृत कवियों ने हम सबको इनकी पवित्र मूर्ति का साक्षात्कार करा दिया है। उनकी कृपा से सीता के सतीत्व ने भारत की स्त्रियों में अपूर्व सतीत्व की भावना का संचार करके हमारे गृहस्थाश्रम को पवित्र बनाये रक्खा है। अतः नये सुधारों के प्रवाह में, नूतन विलासमय जीवन को देखकर, तुम्हें सीता के इस स्थायी और अमर चरित्र के प्रति श्रद्धाहीन न हो जाना चाहिए। माता सीता, आओ। हजारों वर्षों से हिन्दुओं के घरों में तुमने जिस पुण्यशक्ति का संचार किया है, उसे फिरसे उद्दीप्त करो। भगवान करें घर-घर तुम्हारे मंगल-कलश स्थापित हों। भारतवासियों की लज्जा तुम्हारे ही हाथ है।

५

लक्ष्मण-पत्नी

उर्मिला

देवी उर्मिला भारतवर्ष की एक अद्भुत स्त्री-रत्न थीं; परन्तु बड़े दुःख की बात है कि प्राचीन कवियों ने उनके साथ पूरा न्याय नहीं किया। हमारे प्राचीन कवियों ने संस्कृत और प्राकृत भाषा की अपनी रसपूर्ण कविताओं में भारत की अनेक विदुषियों के चरित्र वर्णन किये हैं, पर उर्मिला के चरित्र पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। कवि स्वभावतः उच्छृङ्खल और निरंकुश होते हैं। जिस तरफ़ झुके उसी तरफ़ झुक गये। जी में आवे तो राई का पहाड़ बना दें, नहीं तो हिमालय जैसे पहाड़ की तरफ़ भी आँख उठाकर न देखें। यह उच्छृङ्खलता और उदासीनता साधारण श्रेणी के सब कवियों में तो होती ही है, पर आदि-कवि बाल्मीकिजी भी इससे नहीं बचे। सारस के जोड़े के एक पक्षी को चण्डाल के हाथों मारा जाता देखकर जिन कवि-शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया था और मुँह से एकाएक 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं' आदि वाक्य निकल पड़े थे, वही परदुःख-कातर मुनि रामायण रचते समय एक नवविवाहिता दुःखी वधू को बिलकुल ही भूल गये। इस विपद्ग्रस्त नववधू के प्रति उन्होंने रञ्चमात्र समवेदना प्रकट नहीं की; न इसकी ज़रा भी ख़बर ही ली।

उर्मिला मिथिलापुरी के जगत्प्रसिद्ध राजा जनक की पुत्री और सीता की बहन थीं। रामचन्द्रजी के भाई लक्ष्मणजी के साथ इन-का विवाह हुआ था। बाल्मीकि-रामायण पढ़नेवालों को सबसे पहले जनकपुरी में सीता, माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति के साथ उर्मिला के दर्शन होते हैं। सीता का चरित्र तो सबको मालूम ही है। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति को अग्नि से भी अधिक सन्ताप-जनक पति-वियोग सहना ही नहीं पड़ा; अतः उनके चरित्रों में कोई विशेषता ही नहीं। रहीं बालवियोगिनी उर्मिला; सो उनका चरित्र सब तरह से प्रशंसा और वर्णन करने के योग्य होने पर भी कवियों ने उनके साथ न्याय नहीं किया। बाल्मीकि-जी एक ही बार विवाह के वधू-वेश में, जनकपुरी में, उर्मिला के दर्शन कराकर चुप हो गये हैं। अयोध्या आने के बाद ससुराल में वह कैसे रहीं, इसकी उन्होंने कोई खबर तक नहीं ली है। यही नहीं, किन्तु लक्ष्मण के वन जाने के समय उनके दुःखाश्रु पोंछना—उस समय का वर्णन करना भी उन्हें ठीक नहीं मालूम हुआ।

रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारी हो रही थी, जब सारा अन्तःपुर ही नहीं वरन् सारा नगर नन्दन-वन बन रहा था, उस समय उर्मिला कितनी खुशियाँ मना रही थीं! उनके पति के परमाराध्य रामचन्द्र को राजसिंहासन पर विराजमान देखने का अवसर यदि उन्हें प्राप्त हुआ होता, तो उर्मिला को कितना आनन्द होता? इसपर से सहज ही उनकी खुशी का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। पर भाग्यवश संयोग एकदम बदल गये। राम को राज्य-सिंहासन पर बैठने के बजाय वनवास करना पड़ा।

भ्रातृभक्त लक्ष्मण भी राम के साथ वन जाने को उद्यत हुए। तब जो उर्मिला राम के राज्यारोहण की खुशी में मस्त हो रही थीं, एक घण्टे बाद राम और सीता के साथ अपने पति को चौदह वर्ष के लिए वन जाते हुए देखकर वही उर्मिला राजमहल के एकान्त कमरे में ज़मीन पर ऐसी लुढ़क पड़ीं, जैसे जड़ से उखड़ जाने पर किसी वृक्ष की शाखायें धड़ाम से गिर पड़ती हैं।

लक्ष्मण अपने स्वाभाविक स्नेह के कारण अपने बड़े भाई के साथ वन गये, और राजपाट छोड़कर उन्होंने अपना शरीर रामचन्द्र की सेवा में लगा दिया। यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है। पर उर्मिला ने जो आत्मोत्सर्ग किया, वह इससे भी कहीं अधिक था। क्योंकि आर्य-महिलाओं के लिए अपने प्राणों से भी अधिक अपना पति होता है। किन्तु उदार-चरित उर्मिला ने राम और सीता की सेवा करने के लिए प्राणों से प्यारे उस पति को भी उत्सर्ग कर दिया। अपने सुख और भोग विलास का त्याग कर दिया। और वह भी किस उम्र में और किस समय? ब्याह किये कुछ ही समय हुआ था, तभी उर्मिला ने यह महान त्याग किया। अपने सांसारिक जीवन के सबसे बड़े सुख की आशा उन्होंने छोड़ दी। और वह भी एक-दो महीने के लिए ही नहीं, बल्कि चौदह वर्ष तक पति के सुख से वंचित रहना मंजूर किया। यह सोचने की बात है कि जवानी के आरम्भ में, विवाह के बाद तुरन्त ही, उर्मिला ने पति का जो सुख भोगा होता, उस सुख की बराबरी क्या चौदह वर्ष का पति-वियोग सह लेने के बाद का सुख कर सकता है? फिर भी, विवाहित होने के बाद ही, रामचन्द्र और सीता के लिए, उर्मिला ने अपने सारे सुख पर पानी फेर दिया।

पति-प्रेम और पति-भक्ति की जो शिक्षा सीता को मिली थी, वही उर्मिला को भी; क्योंकि दोनों एक ही घर की बेटियाँ थीं। उर्मिला की पति-सम्बन्धी भावना भी वैसी ही दृढ़ और ऊँची थी, जैसी कि सीता की थी। पति-धर्म को यह भी भलीभाँति समझती थीं। सीता की भाँति यह भी उतनी ही खुशी के साथ पति के साथ वन में जा सकती थीं। परन्तु इन्होंने जान-बूझकर ही ऐसी ज़िद नहीं की। क्योंकि यह जानती थीं कि अगर मैं साथ गई तो पति (लक्ष्मण) का बहुतसा वक्त मुझे संतुष्ट रखने और मेरे आराम की फिक्र करने में जायगा, जिससे रामचन्द्र और सीता की सेवा में कुछ-न-कुछ गड़बड़ ज़रूर पड़ेगी। उस हालत में लक्ष्मण अपने इन परमाराध्य भाई-भावज की जैसी चाहिए वैसी सेवा न कर सकेंगे। और अपने सुख की वजह से पति के धर्म-पालन में लेशमात्र भी त्रुटि हो, यह उर्मिला चाहती नहीं थीं। फिर उर्मिला इस बात को भी अच्छी तरह जानती थीं, कि अगर सब जने एकसाथ वन में चले गये तो पीछे से सास कौशल्या और सुमित्रा की सच्चे दिल से सेवा करनेवाला कोई नहीं रहेगा। इन सब बातों को सोचकर ही, सीता की तरह, यह वन में नहीं गईं। इस बात पर यदि हम ज़रा गम्भीरता से विचार करें, तो मालूम होगा कि उर्मिला के चरित्र में यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

परन्तु उर्मिला के बारे में तुलसीदासजी ने भी आदि-कवि बाल्मीकि का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी वनवास को जाते समय लक्ष्मण और उर्मिला का मिलाप नहीं कराया है। हाँ, भवभूति ने इस सम्बन्ध में कुछ कृपा ज़रूर की है। राम, लक्ष्मण और सीता के वन से लौटने के बाद, भवभूति को एक

बार उर्मिला की याद जरूर आगई है। वह इस प्रकार कि चित्रपट पर उर्मिला को देखकर एकबार सीता ने लक्ष्मण से पूछा--'इयमप्यपरा का ?' अर्थात्, 'लक्ष्मण! यह दूसरी कौन है ?'

इस प्रकार भावज का देवर से पूछना निरा कुतूहल नहीं बल्कि इसमें एक प्रकार की सरसता भी समाविष्ट है। पर लक्ष्मण सीता का कटाक्ष समझ गये। वह सकुचाकर मन-ही-मन कहने लगे, कि 'सीताजी उर्मिला के बारे में पूछ रही हैं।' उन्होंने कोई जवाब न देकर उर्मिला की तस्वीर को हाथ से ढक दिया। हाथ रखते ही वह तस्वीर ढक गई; और शोक के साथ लिखना पड़ता है कि उसी दिन से उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र भी चित्र-कवियों के द्वारा इसी प्रकार ढका चला आता है! चाहे जो हो, पर विद्वानों का तो यही खयाल है कि उर्मिला का चरित्र भी, उनके कुल की अनेक विदुषियों की भांति, अत्यन्त उत्कृष्ट और उपदेशप्रद था।

६

राम-भक्त भीलनी

शबरी

शबरी या जटिला भील जाति की परन्तु अच्छे विचारोंवाली, सद्गुणी और सत्सङ्ग पाई हुई स्त्री थी। यह दण्डकारण्य में रहनेवाले मातङ्ग ऋषि और उनके शिष्यों की सेवा-टहल किया करती थी। गुरु मातङ्ग ऋषि जब परम-धाम सिधारने लगे, तो शबरी ने उनसे कहा—"मैं भी अपने शरीर का त्याग करके आपके साथ परमधाम को चलूँगी।" पर मुनि ने कहा—"नहीं; तू इसी कुटी में रह। कुछ दिनों बाद राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी यहाँ आवेंगे, उनके दर्शन करके तू अपने शरीर का त्याग करना।" शबरी के मन में उनकी बात जम गई। तबसे वह नित्य रामचन्द्र जी के आने की प्रतीक्षा करने लगी। सवेरे उठ कुटी को झाड़-बुहारकर और लीपपोत-के वह बाहर निकलती और बन से दो टोकरी फल लाकर रामचन्द्रजी का स्वागत करने के लिए आंगन में बैठी रहती; और शाम तक तो रामचन्द्र जी की बाट जोहती, इसके बाद रात होने पर निराश हो उन्हीं फलों को खाकर सो रहती। बहुत दिनों तक वह इसी प्रकार करती रही। अन्त में, जब पिता की बात रखने के लिए रामचन्द्र जी ने वनवास किया, तब, एक दिन भाई लक्ष्मण के साथ वह शबरी के आश्रम में भी जा पहुँचे।

× × × । सबरी के आश्रम पगु धारा ॥
सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के बचन समुझि जिय भाये ॥
सरसिज-लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला ॥
श्याम गौर सुन्दर दोऊ भाई। सबरी परी चरन लपटाई ॥
प्रेम-मगन मुख बचन न आवा। पुनि-पुनि पद-सरोज सिर नावा ॥
सादर जल लेइ चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे ॥

कन्द मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम-सहित प्रभु खायेऊ, बारंबार बखानि ॥

पानि जोरि आगे भई ठाढ़ी। प्रभुहिं बिलोकि प्रीति उर बाढ़ी ॥
केहि बिधि अस्तुति करऊँ तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी ॥

रामचन्द्रजी ने कहा—"मैं तो जात-पाँत अथवा विद्या-बुद्धि का विचार नहीं करता। मैं तो एकमात्र भक्ति पर ही ध्यान रखता हूँ। जो आदमी जात-पाँत, कुल और धर्म में बड़ा हो; धन, सेना, कुटुम्बियों, गुण और चतुराई से भरा पूरा हो; पर उसमें भक्ति न हो, तो वह किस काम का? वह तो वैसा ही है, जैसा बिना पानी के खाली बादलों का घटाटोप, कि जिससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता।"

इसके बाद रामचन्द्रजी शबरी को नौ तरह की भक्तियाँ समझाने लगे। उन्होंने कहा:—

"(१) सन्तों की संगति की जाय;
(२) भगवान् की कथायें प्रेम के साथ सुनी जायँ;
(३) अभिमान को छोड़कर गुरु के चरण-कमलों की सेवा की जाय;
(४) छल-कपट छोड़कर प्रभु का गुणगान किया जाय;

(५) वेदों में वर्णित रीति से ईश्वर-भजन किया जाय;

(६) इन्द्रिय-निग्रह, सतीत्व, बहुत कामों से वैराग्य रक्खा और सदा सज्जनों के धार्मिक कार्यों में तत्पर रहा जाय;

(७) सबपर समान दृष्टि रखकर जगत् को प्रभु से व्याप्त देखना और सन्तों को प्रभु से भी बड़ा मानना;

(८) जो कुछ मिले उसीमें सन्तोष करना और स्वप्न में भी दूसरों के दोषों पर ध्यान न देना;

(९) सरल-स्वभाव से रहना, छल-कपट छोड़कर सबके साथ शुद्ध अन्तःकरण से व्यवहार करना, हृदय में ईश्वर पर विश्वास रखना और किसी बात का न तो हर्ष करना, न किसी बात पर दीनता प्रकट करना।

यही नौ तरह की भक्तियां हैं। इन नौ तरह की भक्तियों में से जिसमें एक तरह की भी भक्ति हो, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, चर हो या अचर, ऊँची जात का हो या नीची जात का, मुझे तो वह अत्यन्त प्रिय है। फिर तुझमें तो इन सब तरह की दृढ़ भक्ति मौजूद है। इसलिए बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के लिए भी जिस परम-गति का प्राप्त होना दुर्लभ है, वह परमगति आज तेरे लिए सुलभ हो गई है।"

इस प्रकार उपदेश देकर रामचन्द्रजी ने शबरी के कुशल-समाचार पूछे—"हे तपस्विनी! तुझे कोई दुःख तो नहीं है? तपस्या में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं पड़ती? आन्तरिक सुख तो प्राप्त है? गुरुजनों की जो सेवा की, वह तो सफल हुई या नहीं?"

शबरी ने जवाब दिया—"महाराज! आज आपके दर्शनों से मेरी तपस्या सिद्ध हो गई। आपकी पूजा करने में आज मुझे

स्वर्ग मिलेगा। महातेजस्वी और धर्मज्ञ मुनियों की सेवा में सदा तत्पर रहती थी। उन्होंने यहाँ से जाते समय मुझे आपके यहाँ पधारने की आशा दिलाई थी। आज आपके दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गई।"

रामचन्द्रजी ने आश्रम देखने की इच्छा प्रकट का। शबरी उन्हें घुमा-फिराकर आश्रम दिखाती हुई कहने लगी "यह पम्पासरोवर है, यह वन है, इस जगह धर्मात्मा तपस्वी मन्त्रों का उच्चारण करके जलती हुई आग में अपने शरीर की आहुतियाँ दे गये हैं। देखो, यह प्रत्यक्स्थली नामक वेदी है। महर्षि लोग इसपर फूल चढ़ाते थे। अब भी यह वेदी कैसी शोभा दे रही है! महर्षि लोग स्नान कर इस दरख्त पर बल्कल-वस्त्र सुखाते थे। इन कमल तथा दूसरे फूलों से मुनि लोग देवताओं की पूजा करते थे। देखो, अभीतक भी ये फूल कुम्हलाये नहीं हैं। भगवान्! मैंने आपको सारा वन बता दिया, उसकी महिमा भी आपको कह सुनाई; अब आप आज्ञा दें, तो मैं अपने शरीर का त्याग करदूँ। क्योंकि अब मुझे इस तपोवन के स्वामी अपने गुरु के पास जाने की प्रबल इच्छा हो रही है।"

शबरी की बातें सुनकर रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और उसकी इच्छा के अनुसार उसे स्वर्ग में जाने की आज्ञा दे दी। आज्ञा मिलना था कि शबरी तुरन्त अग्नि-कुण्ड में कूद पड़ी। कुछ देर बाद उसके शरीर से बिजली-जैसा प्रकाश प्रकट हुआ और उसमें से एक प्रकार की अद्भुत सुगन्ध आने लगी। तुलसीदासजी कहते हैं:—

"तजि योग-पावक देह हरिपद-लीन भइ जहँ नहिं फिरे।"

इस प्रकार यह शूद्र-जातीय कन्या अपनी तपस्या, साधु-सेवा और ईश्वर-भक्ति में अचल विश्वास होने के कारण योगाग्नि में अपना शरीर त्याग कर परम मोक्ष-धाम को प्राप्त हुई।

७

वानर राज-पत्नी

तारा

यह पतिव्रता और सुशीला नारी, किष्किन्धानगरी के वानर-नरेश बाली की सहधर्मिणी थी। महापराक्रमी अंगद इसके गर्भ से पैदा हुआ था। बाली अपने छोटे भाई सुग्रीव का हक़ मारकर सारे राज्य को दबा बैठा था; इससे दोनों भाइयों में वैमनस्य पैदा हो गया था। अन्त में सुग्रीव ने मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी को अपने पक्ष में कर लिया। रामचन्द्रजी के यह विश्वास दिला देने पर कि वह बाली को मार डालेंगे, सुग्रीव ने जोरों की गर्जना करके बाली को युद्ध के लिए ललकारा। बाली उस समय अन्तःपुर में था। भाई की युद्ध-गर्जना सुनते ही वह आपे से बाहर हो गया। उसका सारा आलस्य न जाने कहाँ चला गया। बस, एकदम गुस्से से आग-बबूला हो गया। स्वर्ण के समान दैदीप्यमान बाली क्रोधावेश में ऐसा निस्तेज हो गया जैसा राहु से ग्रस्त होने पर सूर्य हो जाता है। इस असह्य रण-नाद को सुनते ही वह पृथ्वी पर लात मारकर झट बाहर निकल पड़ा। इस समय प्रेम के साथ तारा ने उससे बहुतसी हितकारी बातें कही थीं। उसने कहा था—"हे वीरवर! नदी के वेग की भांति चढ़े हुए इस क्रोध को आप उसी तरह अपने हृदय से निकाल डालिए,

जैसे रात को पहनी हुई माला सवेरे सोकर उठने पर उतार डाली जाती है। आप कल सुबह युद्ध करना। आपका शत्रु बहुत छोटा है, उसके साथ युद्ध न करने से भी आपकी किसी प्रकार लघुता न समझी जायगी। आप साहस करके एकदम जो युद्ध के लिए जाते हैं, वह मेरी समझ में ठीक नहीं है। जिन कारणों से मैं आपको रोकती हूँ, वे भी सुनिए। इसी सुग्रीव ने एकबार पहले भी आपको युद्ध के लिए ललकारा था और आपके प्रहारों से थक कर उसे भाग जाना पड़ा था। उस समय अनेक दुःख उठाकर भी आज फिर इसने आपको युद्ध के लिए ललकारा है, इससे मुझे शंका होती है। इसके गर्व और घोर गर्जन से मालूम पड़ता है कि इतने थोड़े से समय में सहसा इसमें अधिक साहस आ गया है। इसलिए मैं तो समझती हूँ कि यह जरूर किसीकी सहायता के बल पर चढ़ाई करने आया है। अवश्य ही इसने किसी बड़े आदमी की सहायता पाकर ही ऐसी भयङ्कर गर्जना की है। फिर सुग्रीव स्वभावतः बुद्धिमान और निपुण है; दूसरे के बल की भलीभाँति परीक्षा किये बगर ही उसे मित्र बना ले, ऐसा वह नहीं है। वीरवर! इस सम्बन्ध में कुमार अंगद की जबानी मैंने जो बात सुनी है, वह मैं आपको बताती हूँ। सुनिए, जब कुमार अंगद वन में घूमने गये थे, तब उनके जासूसों ने उन्हें यह खबर दी थी कि अयोध्याधिपति इक्ष्वाकुवंश के राजा दशरथ के वीर पुत्र राम और लक्ष्मण वन में आये हुए हैं। ये दो वीर पुरुष सुग्रीव का कल्याण करने के लिए ही आये हैं। युद्ध में सुग्रीव की मदद उन्होंने ही की है। वही राम प्रलय-काल की अग्नि की नाईं शत्रुओं का विनाश करने को खड़े हुए हैं। वह साधुओं के आश्रय हैं, और

विपत्ति में पड़े हुओं के उद्धार-कर्त्ता। वह दुःखियों के सहायक, यशस्वी, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न और पिता के आज्ञापालक हैं। पर्वतराज हिमालय जिस प्रकार समस्त धातुओं का भण्डार-रूप है, उसी प्रकार रामचन्द्र भी सद्गुणों के महान भण्डार-रूप हैं। इन महात्मा के साथ विरोध खड़ा करने में आपका कोई मतलब सिद्ध न होगा। हे शूर! युद्ध-विद्या में रामचन्द्र दुर्जेय और अनुपम हैं। उनके साथ युद्ध करने में अपनी खैर नहीं। हे वीर-वर! मैं आपका अमंगल नहीं चाहती; मैंने तो आपकी भलाई के लिए ही दो बात कही है। इनपर ध्यान देकर, इनमें जो फ़ायदेमन्द हो, उसे आप ग्रहण कर लीजिए। अगर आप मेरी सलाह मानें, तो शीघ्र सुग्रीव को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दीजिए। हे वीरेन्द्र! आप छोटे भाई के साथ विरोध न कीजिए। सुग्रीव से जो वैर है उसे छोड़कर उससे प्रेम करने तथा रामचन्द्र के साथ मैत्री करने में आपको अवश्य लाभ होगा, यह निश्चय है। सुग्रीव वहाँ हो या यहाँ, पर है आपका भाई ही; सारी पृथ्वी में उसके जैसा आपका सगा और कोई नहीं; अतः वैर-भाव को छोड़कर इज्जत के साथ उसका सत्कार कीजिए। वह आपके पास ही रहेगा। सुन्दर ग्रीवावाला सुग्रीव आपका श्रेष्ठ भाई है। आप उसके साथ मेल-जोल रखिए। ऐसा किये बगैर मुझे तो आपकी कोई गति दीखती नहीं। अतः अगर आप मुझे अपनी हितेच्छु समझते हों, और जो मुझे अच्छा लगे वही करने की आपकी इच्छा हो, तो मैंने आपसे जो प्रार्थना की है उसे पूर्ण कीजिए। वीरेन्द्र! मेरी इन हितकर बातों पर आप ध्यान दीजिए और क्रोध के वश न होइए। मैं फिर कहती हूँ कि इन्द्र के समान

तेजवाले कौशलराज के पुत्रों के साथ विरोध करने से आपका कल्याण नहीं होगा।"

समझदार आदमी को तारा का यह हितकारी उपदेश काफ़ी था; पर विनाश-काल आने पर मनुष्य की मति औंधी होजाया करती है। बाली ने सुशीला पत्नी के उपदेश पर जरा भी ध्यान न दिया; उलटा उसे घुड़ककर कहने लगा—"हे वरानने! मेरा भाई, जो आजकल मेरा शत्रु है, अभिमान के साथ गर्जना कर रहा है। मैं उसे कैसे सह सकता हूँ? जो लोग शत्रु से कभी नहीं डरते और समर से कभी विमुख नहीं होते, उन शूरवीरों के लिए ऐसा अपमान मृत्यु से भी अधिक दुःखदाई होता है। अन्तः युद्ध के अभिलाषी हीन-वीर्य सुग्रीव की गर्वयुक्त ललकार मैं हरगिज़ नहीं सह सकता। प्रिय! रामचन्द्रजी के सामर्थ्य का खयाल करके मेरे लिए दुःखी होने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं। क्योंकि वह धर्मज्ञ और कृतज्ञ हैं; वह कभी पाप नहीं करेंगे। अतः अन्य स्त्रियों के साथ तुम भी लौट जाओ, मेरे पीछे आने की जरूरत नहीं। मेरे प्रति तुम्हारा जो प्रेम और भक्ति का भाव है, वह प्रकट हो चुका। जाओ; युद्ध में जाकर मैं सुग्रीव से लड़कर उसका घमण्ड दूर कर दूँगा, पर उसको मारूंगा नहीं। रण-क्षेत्र में मैं सुग्रीव पर बहुत जुल्म नहीं करूंगा; सिर्फ दरख्त और घूँसों से ही प्रहार करूँगा, जिससे दुःखी होकर वह वापस भाग जायगा। तारा! यह दुरात्मा मेरे प्रहार को नहीं सह सकता। तुम मुझे अच्छे रास्ते पर लाने के लिए मित्र की भाँति जो उपदेश देती हो, उसमें जरा भी सन्देह नहीं। अच्छा प्रिये! अब कुटुम्ब की अन्य स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में चली जाओ;

मैं सुग्रीव को हराकर, विजयी होकर, वापस आऊँगा। यह तुम विश्वास रक्खो कि मैं उसको जान से नहीं मारूँगा।"

तब शोकग्रस्त तारा ने स्वस्त्ययन-मंत्र-द्वारा पति के विजय की कामना की और अन्य स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में चली गई। बाली अपने छोटे भाई सुग्रीव के साथ युद्ध करने गया। बहुत देर तक दोनों भाइयों में मल्ल युद्ध होता रहा। अन्त में रामचन्द्रजी का बाण लगने से बाली जमीन पर गिर पड़ा और खत्म हो गया।

जब यह खबर अन्तःपुर में पहुँची, तो तारा धाड़ मार-मारकर रोने लगी। रिश्तेदारों ने उसे बहुत कुछ ढाढस बँधाया और सलाह दी कि इस विपत्ति-काल में शोक को हृदय में ही रखकर राजकुमार अंगद का राज्याभिषेक कर दो। परन्तु उसने राजमाता के रूप में रहना पसन्द नहीं किया। उसने कहा—"अंगद जैसे सौ पुत्रों के सुख की अपेक्षा अपने मृत पति वीरवर बाली के शरीर के साथ रहना मेरे लिए अधिक श्रेयस्कर है।" अन्त में वह रणक्षेत्र में पहुँची और अपने पति के शव को गोद में लेकर बड़ा ही हृदय-विदारक विलाप करने लगी; यहाँतक कि उसके विलाप को देखकर बाली को मारनेवाले सुग्रीव का हृदय भी पिघल गया और उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। तारा महात्मा रामचन्द्रजी के पास भी गई और अपने पति के शत्रु की मदद करने के लिए ताने देती हुई विलाप करने लगी। तब, उसका विलाप सुनकर, रामचन्द्रजी उसे आश्वासन देते हुए कहने लगे—"हे वीर भार्या! तू इस प्रकार निराश मत हो। इस संसार में सब काम विधाता की इच्छानुसार होते हैं। सारे सुख दुःखों की योजना वही करते हैं। यहाँतक कि इन तीनों लोकों को भी उन्होंने ही बनाया है,

और वही इन्हें चलाते भी हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध किसी से कोई काम नहीं होता। इसलिए तू यह मिथ्या विलाप करना छोड़ दे। तेरे पुत्र अंगद को युवराज-पद प्राप्त होगा। विधाता की यही इच्छा है, और तू इस इच्छा के ही अनुसार कर। वीर पुरुषों की स्त्रियाँ कभी इस तरह विलाप नहीं करतीं।" इस प्रकार कहकर फिर रामचन्द्रजी ने तारा को संसार की उत्पत्ति, जन्म-मरण, आत्मा की नित्यता इत्यादि के बारे में उपदेश दिया और वाली का अग्नि-संस्कार किया। इसके बाद सबने नगर में जाकर धूम-धाम से अंगद को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया।

अंगद भी एक बड़ा पराक्रमी वीर था और उसमें जो सद्गुण थे उनका बहुत-कुछ श्रेय उसकी माता तारा के उपदेशों को ही था।

८

रावण की पटरानी

मन्दोदरी

यह मयदानव नामक राक्षस राजा की कन्या थी। लंकाधिपति रावण अपनी बहन शूर्पणखा के विवाह के बाद शिकार खेलने निकला, तब पहले-पहल मयदानव और उसकी सुन्दर कन्या (मन्दोदरी) से उसकी भेंट हुई। कन्या मन्दोदरी को देखकर रावण उसपर मोहित हो गया। उसने मयदानव से पूछा—"तुम कौन हो ? जहाँ मनुष्य और जानवर तक नहीं घूमते, वहाँ तुम क्यों घूम रहे हो ?" मयदानव ने जवाब दिया—"पूर्वकाल में हेमा नामक एक अप्सरा थी, जिसने प्रेमपूर्वक मुझसे विवाह किया था। इस समय वह देवताओं के काम से स्वर्ग में गई हुई है। मेरे तेरह वर्ष उसके विरह में बीत चुके हैं, और यह चौदहवाँ वर्ष है। प्रिय पत्नी के विरह में मुझे अपनी महावैभवशाली सुवर्णमयी राजधानी में रहना अच्छा नहीं लगता। इसीसे अपनी इस लाड़ली लड़की को लेकर मैं इस वन में हवाखोरी करने आया हूँ। यह लड़की अप्सरा हेमा की कोख से पैदा हुई है और मैंने इसे उपयुक्त शिक्षा दी है। अब इसकी उम्र विवाह के योग्य हो गई है, अतः मैं किसी अच्छे वर के साथ इसका विवाह कर देना चाहता हूँ। अब आप बतलाइए कि आप कौन हैं ?" रावण ने कहा—"मैं ब्रह्माजी की तीसरी पीढ़ी में उत्पन्न विश्रवामुनि का पुत्र हूँ।"

राजा मयदानव ने जब देखा कि यह ऋषिपुत्र है और प्रतापी राजा भी, तो उसीके साथ अपनी सुशीला कन्या का विवाह करने का उसने निश्चय कर लिया और तदनुसार रावण के हाथ में उसका हाथ देकर कहा—"राजन ! हेमा अप्सरा से उत्पन्न मेरी इस पुत्री मन्दोदरी नामक कन्या को आप अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कीजिए।"

रावण तो यह चाहता ही था, अतः 'तथास्तु' कहकर उसने मन्दोदरी को स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त अग्नि के सम्मुख विधिपूर्वक उनका पाणि-ग्रहण-संस्कार हुआ। मयदानव ने रावण को परमअद्भुत अमोघशक्ति भी प्रदान की, जिससे बाद में रावण ने लक्ष्मण को बेहोश किया था। इसके बाद मन्दोदरी को लेकर रावण लंका पहुँचा और उसे ही अपनी पटरानी बनाया। रावण के और भी बहुतसी रानियाँ थीं, पर उसपर सबसे अधिक प्रभाव मन्दोदरी का ही था। अप्सरा की कन्या होने के कारण उसके अपूर्व सुन्दरी होने में तो सन्देह ही क्या ? उसका रंग गोरा था, कान्ति स्वर्ण-समान दैदीप्यमान थी; यही नहीं, कुलीन घर की स्त्रियों के समान उसमें लज्जा, विनय आदि सद्गुण भी थे। इन सद्गुणों की ही वजह से उसके चेहरे पर एक खास तरह की प्रभा छा रही थी। इसीसे सीता की खोज में हनुमानजी जब लंका को गये तो रावण के राजमहल में रूपयौवन-सम्पन्न मन्दोदरी को देखकर कुछ देर के लिए वह इस सोच में पड़ गये थे कि 'कहीं यही तो सीता नहीं हैं ?' मन्दोदरी के गर्भ से रावण के इन्द्रजित नामक एक पुत्र पैदा हुआ था, जिसका दूसरा नाम मेघनाद भी था। वह बड़ा प्रतापी युवक था।

मन्दोदरी का चरित्र उत्तम और विचार ऊँचे थे। रावण के सीता को हर ले जाने के कृत्य को उसने निन्दनीय माना था। यहाँतक कि हनुमानजी जब सीता की खोज में लंका गये, तब उसने पति से कहा भी था कि "हे नाथ! आप भगवान रामचन्द्र के साथ दुश्मनी मत कीजिए। आपकी भलाई के लिए ही मैं आपको यह सलाह दे रही हूँ। आप मेरी बात पर ध्यान दीजिए। सोचने की बात है कि जब उनके दूत (हनुमान) के पराक्रम की खबर सुनकर ही डर से राक्षसियों के गर्भ गिर पड़ते हैं, तब स्वयं स्वामी का पराक्रम कितना ज्यादा होगा? इसलिए अगर अपनी कुशल चाहते हो तो उनकी स्त्री को अपने मंत्री के साथ लौटा दें। यह आप यकीन रखिए कि सीता को लौटाये बिना ब्रह्मा और महादेव भी आपका हित करना चाहेंगे तो न कर सकेंगे। अतः रामचन्द्र के बाण-रूपी सर्प क्रोधयुक्त होकर राक्षसों के समूह-रूपी मेंढकों को निगलें, उससे पहले ही आप अपनी ज़िद छोड़कर सीताजी को वापस उनके पास लौटा देने का प्रयत्न कीजिए।" पर रावण तो अभिमानी ठहरा; वह इस उचित सलाह पर क्यों ध्यान देने लगा था? अतः इसपर वह खूब हँसा और कहने लगा—"सचमुच स्त्रियाँ बड़ी डरपोक होती हैं। वे कैसे नरम दिल की होती हैं! अरे! बन्दरों की फौज आवेगी, तो बेचारे राक्षसों को तो भोजन ही मिलेगा। ओह! जिसके भय से लोकपाल, इन्द्रादि देवता तक काँपते हैं, उसकी पत्नी ऐसी डरपोक!" यह कहकर उसने खूब क़हक़हे लगाये और राजसभा में चला गया। मन्दोदरी ने समझ लिया कि पति के दुर्दिन आये हैं।

इसके बाद देखते-देखते रामचन्द्रजी रामेश्वर में पुल बाँधकर लंका में आ पहुँचे। तब एक बार मन्दोदरी ने फिर एकान्त में पति को समझाया,"प्राणनाथ! आप क्रोध त्यागकर मेरी बात सुनिए। दुश्मनी तो ऐसे आदमी के साथ करनी चाहिए जिसे बुद्धि-बल से जीता जासके। पर आपमें और रामचन्द्रजी में तो वैसा ही अन्तर है, जैसा जुगनू और सूर्य के प्रकाश में है। जिसने मधुकैटभ आदि महाबलवान राक्षसों को मार डाला और अन्य अनेक शूरवीरों का संहार किया तथा जिसने राजा बलि को बाँधा और सहस्रबाहु कार्त्तवीर्य को मार डाला, उसी परमात्मा ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार लिया है। हे नाथ! काल, कर्म और जीव जिसके हाथ में हैं, उसके साथ विरोध नहीं करना चाहिए। इसलिए, स्वामिन्! आपको तो अब रामचन्द्र-जी के चरण-कमलों में सिर झुकाकर सीता को उन्हें लौटा देना चाहिए और राज्य मेघनाद को सम्हलाकर ईश्वर-भजन करना चाहिए। नाथ! विनयपूर्वक सामने जाकर खड़े रहने से तो बाघ भी नहीं खाता, फिर रामचन्द्र तो दीनदयालु हैं। शरण जाने पर वह जरूर आपपर कृपा करेंगे। हे दशानन! नीतिशास्त्र में सत्पुरुष लोग कह गये हैं कि राजा को अपने चौथेपन (बुढ़ापे) में राज्य छोड़कर वन चले जाना और वहाँ ईश्वर-भजन करना चाहिए। जो जगत् का उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं, शरणागतों पर प्रेम करनेवाले वही भगवान रामचन्द्र हैं। अतः नाथ! सारी ममता और अहंकार को छोड़कर आप उन्हींका भजन कीजिए। आपपर दया करने के लिए ही कौशलाधीश यहाँ आये हैं। प्यारे! आप मेरी सीख मानेंगे तो तीन लोकों में आपका पवित्र यश गाया जायगा।"

इतना कहते-कहते मन्दोदरी के नेत्रों में आँसू भर आये और उसका शरीर काँपने लगा। उसने रावण के पैर पकड़ लिये और बोली—"हे नाथ! आप रघुवीर-चरणों का भजन करें तो मेरा सौभाग्य क़ायम रहे—मैं अखण्ड सौभाग्यवती बनी रहूँ।" परन्तु इस बार भी मन्दोदरी को उठाकर रावण उसके आगे अपनी ही बड़ाई हाँकने लगा; और इधर-उधर की बातें करके वह राजसभा में जा बैठा। मन्दोदरी भी समझ गई कि स्वामी पर काल-चक्र घूम रहा है, इसीसे उनमें इतना अभिमान होगया है।

इसके बाद जब रामचन्द्रजी लंका के बिलकुल निकट आ पहुंचे और एक बाण चलाकर उन्होंने रावण के छत्र, दस मुकुट और कुण्डल नीचे गिरा दिये, तब भी उसने युद्ध का विचार छोड़कर सीता को रामचन्द्र जी के पास लौटा देने के लिए कहा। पर रावण उसकी बातों की उपेक्षा ही करता रहा। अन्त में जब अंगद सुलह करने आया, तब भी रावण ने उसकी बात स्वीकार न की। जब अंगद ने रावण के अनेक योद्धाओं को हराकर उसके एक पुत्र को भी मार डाला, तब मन्ददोदरी ने आखिरी बार अपने शोक-संतप्त पति को बड़े मर्मभेदी शब्दों में यह सलाह दी—"हे कान्त! तुम मन में ही समझकर अपनी इस दुष्ट बुद्धि को छोड़ दो। क्योंकि तुम्हारी और रामचन्द्र जी की लड़ाई अच्छी नहीं लगती। रामचन्द्र जी के छोटे भाई ने पंचवटी में एक जरासी लकीर खींची थी, उसके अन्दर तो तुमसे पैर रक्खा ही नहीं जासका, ऐसी तो तुम्हारी बहादुरी है! फिर देखते-देखते हनुमान बेधड़क लंका में घुस

आया, ऐसे उनके दूत हैं; उन्हें क्या तुम जीत सकोगे? तुम्हारे रक्षकों को मारकर उसने तुम्हारा बगीचा उखाड़ डाला, तुम्हारे देखते-देखते अक्षयकुमार को मार डाला, और सारी लंका में आग लगादी। उस समय तुम्हारा सारा बल कहाँ चला गया था? स्वामी! अब झूठी बड़ाई मत हाँको। व्यर्थ का अभिमान मत बताओ। शेखी बघारना छोड़कर रामचन्द्रजी को राजा बनाओ, और उन्हें चराचर का स्वामी मानो। रामचन्द्र के बाण का प्रताप मारीचि जानता था, पर तुमने उसका भी कहना नहीं माना। राजा जनक की सभा में, सीताके स्वयंवर के समय असंख्य राजा एकत्र हुए थे; तब विशाल बल और बुद्धि वाले तुम भी तो वहां गये थे। रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़कर सीता से विवाह किया, तब युद्ध करके तुमने उन्हें क्यों नहीं जीत लिया? बहन शूर्पणखा की हालत देखकर तुम्हें शर्म क्यों न आई? उन्होंने तो तुमसे भी ज्यादा कई बलवानों को मार डाला है। प्यारे! तुम बार-बार उन्हें मनुष्य कहते हो। व्यर्थ का अभिमान और शेखी रहने दो। हाय-हाय! हे कान्त! तुम काल के वश होकर रामचन्द्रजी से विरोध कर रहे हो; इसीसे तुम्हारे मन में कोई अच्छे विचार पैदा नहीं होते। सच है, काल डण्डा लेकर किसीको मारने नहीं जाता; पर जब काल आता है तो मनुष्य का धर्म, बल, बुद्धि और विचार नष्ट हो जाते हैं। स्वामिन्! जिसका काल आता है उसकी बुद्धि में तुम्हारे जैसा ही भ्रम पैदा होजाता है। हे नाथ! मैं एकबार फिर तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि—

× × × अजहूं पर-तिय देहु।

कृपासिन्धु रघुनाथ भजि, नाथ विमल यश लेहु ।।"

पर इस समय भी रावण ने अपना घमण्ड न छोड़ा और सती मन्दोदरी की बात हँसी में उड़ादी। अब तो रानी को पक्का विश्वास होगया कि वेद की टीका करनेवाले महापण्डित रावण पर आज अज्ञान छा रहा है; अतः अब वह किसीका कहना न मानेगा। यह सोच निराश होकर वह तो महल में गई और रावण युद्ध को चल दिया। रावण कीर्ति-लोलुप था। वह इस बात को जानता था कि रामचन्द्र के सामने मेरा बल किसी गिनती में नहीं; परन्तु वह ऐसा दुराग्रही था कि एकबार सोचे या बगैर सोचे जो कर बैठा सो कर बैठा, उससे पीछे फिरनेवाला नहीं। अतः कायर बनकर जीने अथवा पराधीन होकर ठोकर खाने की अपेक्षा उसे मर जाना ही ठीक जँचा। वह समझता था कि बलवान् शत्रु के हाथों मारे जाने में भी बड़ाई है। इससे रामचन्द्रजी के साथ उसने बड़ी वीरतापूर्वक युद्ध किया। इस युद्ध में उसका भाई कुम्भकरण और बलवान् पुत्र मेघनाद मारे गये, और अन्त में वह खुद भी यमपुर सिधार गया। मन्दोदरी ने जैसे ही उसके मरने की खबर सुनी, वह रण-भूमि में आ पहुँची और पति के सिर के पास बैठकर बिलाप करने लगी। तुलसीदास जी लिखते हैं:—

"पति-सिर देखत मन्दोदरी। मुरछित विकल धरनि खसि परी।
जुवति-वृन्द रोवति उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं ।।
पति-गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे चिकुरन चीर सँभारा।
उर ताड़ना करहिं विधि नाना। रोवति करति प्रताप बखाना ।।
तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक शशि तरनी।
शेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सोइ तनु आजु परेउ महिछारा ।।

वरुन, कुबेर, सुरेश, समीरा। रण सम्मुख धरि काहु न धीरा।
भुज-बल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं॥
राम-विमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनि हारा।"

इस प्रकार विलाप करती हुई मन्दोदरी बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी। इस समय वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानो संध्या-कालीन बादलों में बिजली जगमगा रही हो। उसकी सौतों (रावण की अन्य पत्नियों) ने धीरे से उसे उठाया और यह कह कर धीरज बँधाने लगीं कि "संसार असार है, मनुष्यों का उत्थान और पतन होता ही रहता है; इसलिए शोक करना व्यर्थ है।" पर इन बातों से भी उसे धीरज न बँधा, और आँसुओं की धारा बहती ही रही।

आखिर उसका इस तरह का विलाप सुनकर रामचन्द्रजी को तरस आया। वह मन्दोदरी के पास आ बैठे और उसे ढाढ़स बँधाने लगे, कि "हे पुण्य-पावन ज्ञान और विवेक की खान सतीशिरोमणि, तू इस नाशवान का शोक क्यों करती है? इसमें सत्य क्या है? यह सारा संसार माया का चित्र है, और वैसे ही असत्य है जैसे स्वप्न। पंचभूतों की यह देह नाशवान, विकारी और अशाश्वत रूप है। अतः आत्मा का ही विचार कर, जो अविनाशी, अखण्ड और अनूप है। हे माता! मोह को छोड़कर मन में धीरज धरकर अपने घर जा।"

रामचन्द्रजी के उपदेश से मन्दोदरी को कुछ ढाढस बँधा। तब उसने अपने देवर विभीषण के द्वारा रावण की अन्त्येष्टि-क्रिया करवाई और प्रेम व श्रद्धा के साथ स्वामी की आत्मा के कल्याणार्थ तिलाञ्जलि देकर घर लौट गई।

९

रावण की पुत्र-वधू

सुलोचना

यह शेषनाग की पुत्री और लंका के राक्षस राजा रावण के पुत्र इन्द्रजित् की पत्नी थी। राक्षस कुल से सम्बन्ध होने पर भी यह बड़ी सुशील और धर्म-परायण स्त्री थी। बाल्यावस्था से ही इसे अच्छी शिक्षा मिली थी। अतः इसका ससुर रावण जब कोई बुरा काम करता, तो इसे बड़ा दुःख होता था। यह दयालु भी खूब थी और जहाँतक हो सकता ग़रीबों पर दया दिखाया करती थी। जिन लोगों को राक्षस सताते, उन्हें यह अपनी मधुर वाणी से आश्वासन दिया करती। पतिव्रता और कुटुम्ब-वत्सल भी खूब थी। जिस समय सारी लंका में अविवेक, क्रूरता और दुराचार का साम्राज्य था, उस समय भी सुलोचना अपने विवेक, दया और सदाचार के लिए प्रसिद्ध थी। यही नहीं, समय-समय पर यह अपने वीर पति को भी सदाचार और सद्व्यवहार का उपदेश दिया करती थी। ससुराल के सब लोग इसपर प्रसन्न रहते थे। संक्षेप में, यह एक आदर्श पतिव्रता थी और इसीलिए सबको प्रिय थी।

जिस समय रावण सीता को हरकर लंका ले गया था, उसी समय इस धर्म-परायण स्त्री ने अपने पति से कहा था—"तुम्हारे पिता

जी ने यह अच्छा नहीं किया। स्त्री तो अवस्था के अनुसार माँ, बहन और कन्या के समान होती है। पर-स्त्री पर नियत बिगाड़ना तो सीधे नरक में जाना है। फिर राजाओं को तो सदा सुमार्ग पर ही चलना चाहिए, जिससे प्रजा भी उनका अनुकरण करे।"

सुलोचना का कहना बिलकुल ठीक था; पर दुष्ट-बुद्धि राक्षस ने उसके कहने पर जरा भी ध्यान न दिया। जब रावण ने सीताजी को नहीं छोड़ा, तो राम सेना के साथ समुद्र पार करके लंका जा पहुँचे। घोर युद्ध हुआ। सुलोचना का पति इन्द्रजित बड़ा पराक्रमी था। एकबार उसने इन्द्र को जीता था, तभीसे वह इन्द्रजित के नाम से मशहूर हुआ था। परन्तु महावीर रामचन्द्र के मुकाबले में उसकी कुछ न चली। अन्त में लक्ष्मण के हाथों घायल होकर वह मारा गया। कहा जाता है कि जब इन्द्रजित मारा गया तो उसका सिर और धड़ तो रणक्षेत्र में ही पड़ा रहा पर उसका दाहिना हाथ उड़कर सुलोचना के महल में जा पड़ा। उस समय सुलोचना कहाँ थी और क्या कर रही थी, सो तुलसीदासजी के शब्दों में सुनिए :—

"मेघनाद आँगन में परी। बाण-बेधि शोणित सों भरी॥
राजति तहाँ सुलोचनि कैसी। रतिते रुचिर रूप गुण जैसी॥
नाग-सुता दशकन्ध-पतोहू। बासव-रिपु-तिय छबि मय जोहू॥
हेम-सिंहासन सोहति बाला। सेवत विद्याधरि त्रय काला॥
पूजत विविध विनय कर ताही। सुख प्रमोद को सकत सराही॥
तहँ पति-भुजा परी इहि भाँती। मनहु सकल सुख तरु की काँती॥

तब निज दासिन्ह देखि तहँ, शोणि स्रवत भुजदण्ड।
भयउ समर आश्चर्यमय, मनहुँ अखण्डन खण्ड॥"

बस, रंग में भंग पड़ गया। सुलोचना के होश उड़ गये। पति की भुजा देखते ही बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी। सखियों ने पंखा झलकर और पानी छिड़ककर उसे सचेत किया। सचेत होते ही वह छाती कूट-कूटकर रोने लगी। स्वामी के हाथ को प्रेमपूर्वक छाती से चिपटा लिया और खूब विलाप करने लगी।

उसने सती होने का निश्चय किया और अपनी सास मन्दोदरी के पास जाकर कहा—"माँ! आज मेरा सौभाग्य-सूर्य अस्त होगया। आज मेरा सर्वस्व गया। अब संसार में मेरा कोई नहीं। क्योंकि स्त्री के लिए तो पति ही सब कुछ है। पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है। अतः आप मेरे पति का सिर मँगवा दीजिए, तो उन्हें गोद में लेकर मैं उनके साथ जाऊँ।"

मन्दोदरी ने यह बात जाकर रावण से कही। पुत्र की मृत्यु से रावण को बड़ा दुःख हुआ और क्रोध में आकर उसने अपने योद्धाओं को आज्ञा दी कि जाकर राम और लक्ष्मण को तुरन्त मार डालो और इन्द्रजित का सिर ले आओ। यह देख मन्दोदरी समझ गई कि पति अभी ठिकाने नहीं आये। अतः उसने सुलोचना से ही कहा:—

"जाहु राम पहँ पति शिर लागी। तजि सकोच आनु किन माँगी॥
आज न होय लाज कर भूषण। समयहीन गुण गणिय न दूषण॥
है पुनि श्वसुर विभीषण तोरा। बालि-तनय बालक-सम मोरा॥
एक-नारि-व्रत रघुवर केरा। लषण सुयश तुम सुनेउ घनेरा॥
जाम्बवन्त, मंत्री सुग्रीवा। द्विविद मयन्द महा बल सीवा॥
जानहु ब्रह्मचर्य हनुमंता। शिव-स्वरूप भवहर भगवंता॥
सदा नीतिरत राम नरेशा। तहाँ जात कहु कवन कलेशा॥

विदित लोग पति भुज लिखल, लक्ष्मण-राम प्रभाव।
इमहु स्मृति भाषित कहेउ, अस विलंब जानि लाव ॥"

सास का यह उपदेश सुनकर दो-चार विश्वस्त दासियों को साथ ले सुलोचना रामचन्द्रजी से अपने पति का सिर माँगने के लिए युद्धभूमि में गई। वहाँ विभीषण ने रामचन्द्रजी को उसका परिचय कराते हुए कहा :—

"पुत्रवधू दशकंधर केरी। बड़ि पतिव्रता जानि प्रभु हेरी ॥
मेघनाद की नारि सुशीला। अस गति तव विरोध कर लीला।
करत प्रणाम प्रेम नहिं थोरे। करुणावचन कहत करजोरे ॥"

सुलोचना ने भी रामचन्द्रजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की:—

"हरि विरह दवारी, अति भयकारी, सह बहुवारी दुखकारी।
तव शरणहि आई, जनसुखदाई, रघुराई करुणा-सागर।
पति-मस्तक पाऊँ, जरि संग जाऊँ, शिर पाऊँ शोभा आगर।"

सुलोचना की ऐसी उत्कट पति-भक्ति देखकर रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—"सुलोचना, तू धन्य है! सारी स्त्रियों में तू उसी प्रकार रत्न है जैसे सारी नदियों में जाह्नवी गंगा।" इसके बाद पति की मृत्यु का पता उसे कैसे लगा, यह मालूम करके रामचन्द्रजी ने बन्दरों को आज्ञा दी कि इसके पति का सिर इसे दे दिया जाय। तदनुसार सुलोचना को अपने पति इन्द्रजित् का सिर मिल गया। तब सिर को छाती से चिपटाकर वह खूब विलाप करने लगी, कि "हे प्राणवल्लभ! मैंने तो आपसे पहले ही कहा था कि सीता को बन्धन में रक्खे रहने में कोई सार नहीं है। पर-स्त्री पर कुदृष्टि डालनेवाला नरक में जाता है, और ऐसा महा-

पाप करनेवाले पिता का पक्षपात करने के कारण आप सरीखे वीर की भी आज यह दशा हुई है। हा! दैव! यदि इस समय मेरे पिता जीवित होते, तो आपकी यह दशा न होती।"

कहा जाता है कि सुलोचना के इन शब्दों को सुनकर इन्द्र-जित का कटा हुआ सिर भी हँस पड़ा। उसके हँसने का कारण यह बतलाया जाता है कि लक्ष्मण को शेषनाग का अवतार माना जाता था और उन्हींके हाथों इन्द्रजित मारा गया था।

इसके बाद सुलोचना ने चन्दन की चिता बनाई और पति को गोद में लेकर बैठ गई।

१०

विभीषण-पत्नी

सरमा

यह विदुषी गन्धर्वराज महात्मा शैलूष की पुत्री और राक्षसराज लंकापति रावण के भाई विभीषण की पत्नी थी। सती सीताजी को समझाकर तथा डरा-धमकाकर अपने वश में करने के विचार से दुष्टमति रावण ने जिन स्त्रियों को उनके पास अशोक-वाटिका में रक्खा था, सरमा भी उनमें एक थी। सीता यद्यपि शत्रु-पक्ष की थीं, फिर भी उनके प्रति यह न्याय-परायण थी। सीता की निर्दोषिता, सरल स्वभाव, पति-भक्ति आदि देखकर इसके मन में स्वभावतः ही उनके प्रति प्रेम और भक्ति होगई थी। और दासियां तो सीताजी को कष्ट देतीं और निन्दा-युक्त बातें कहकर उनके कोमल हृदय को आघात पहुँचाया करतीं, पर सरमा सदा मीठे शब्दों से उन्हें आश्वासन देकर उनके दुःख का भार हलका करने का प्रयत्न किया करती थी।

एकबार रावण ने अपनी माया के द्वारा रामचन्द्रजी का कटा हुआ सिर और उनका धनुष सीताजी को बताने के लिए भेजा। सीता तो सरल-हृदय ठहरीं, उसे देखते ही उन्होंने सचमुच यह समझ लिया कि इस अधम राक्षस ने पतिदेव को मार डाला। तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वह हृदयद्रावक विलाप करने लगीं। पति के कटे हुए सिर को देखती हुई सीताजी घोर विलाप कर

रही थीं, उसी समय उनकी सखी सरमा वहाँ आ पहुँची। सीता को शोकग्रस्त देखकर वह उनके पास जा बैठी और मधुर तथा कोमल शब्दों-द्वारा उन्हें आश्वासन देने लगी। उसने कहा—"सीता! तुम राक्षसों के माया-जाल में फँसकर व्यर्थ ही शोक क्यों कर रही हो?" सीताजी का भी सरमा पर प्रेम और विश्वास था; अतः उसके मुँह से यह बात सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। तब सरमा ने उन्हें जमीन से उठाया और बड़े स्नेह के साथ बोलीं—"मेरी बात से तुम्हें आश्चर्य होता है; पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मैं जो कहती हूँ, वह सही है। तुमने रावण के मिथ्या माया-जाल से धोखा खाया है। नहीं तो, मेरा पक्का विश्वास है, यहाँ किसीमें इतनी शक्ति नहीं जो महावीर रामचन्द्र को मार सके। उनके जागते हुए उनसे युद्ध करके उन्हें डराने की तो बात ही कहाँ, सोते हुए भी कोई उनका बध नहीं कर सकता। फिर वृक्षों पर रहने और फल-फूल खाकर जीनेवाली उनकी वानर-सेना भी बड़ी बलवान है; किसीसे हारनेवाली नहीं। यही नहीं, स्वयं रामचन्द्र भी लंबी भुजाओंवाले और महाप्रतापी हैं; उनके समान धनुर्धारी और धर्मात्मा आदमी त्रैलोक्य में भी कोई नहीं है। वह बड़े पराक्रमी हैं और समर्थ तो ऐसे कि अपनी ही नहीं औरों की भी रक्षा कर सकते हैं। नीतिशास्त्र में भी वह बड़े निपुण हैं। फिर लक्ष्मण-जैसा शक्ति-शाली भाई उनकी मदद पर है। ऐसी दशा में तो उनके द्वारा राक्षसों का संहार होना ही सम्भव है, राक्षसों-द्वारा खुद उनके घायल होने की बात कदापि सम्भव नहीं। यह तो, तुम्हें धोखा देने के लिए उनका कृत्रिम सिर तथा धनुष तुम्हें बताया गया है। सीता,

तुम्हारी शोकाग्नि दूर होगी। निश्चय ही अब तुम्हारा कल्याण होनेवाला है। अब ईश्वर तुम्हारे अनुकूल होकर सब भाँति तुम्हारा मंगल ही करेगा। मैं स्वयं ही जाकर देख आई हूँ कि बन्दरों की सेना सहित रामचन्द्रजी समुद्र-पार आगये हैं और दक्षिण के किनारे पर उन्होंने अपना पड़ाव डाला है। यही नहीं, मैं यह भी देख आई हूँ कि बन्दरों की सेना चारों तरफ से राम और लक्ष्मण की रखवाली कर रही है। राक्षसराज रावण ने उनकी खबर लाने के लिए जिन राक्षसों को भेजा था, उन्हें राम की शक्ति का पूरा-पूरा पता चल गया है। इसीलिए, अब रावण अपने मंत्रियों से सलाह-मशवरा कर रहा है।"

सरमा सीता से बातें कर ही रही थी, कि इतने में ही युद्ध की तैयारी की सूचना देनेवाला भैरवी-नाद बजा। उसे सुनकर सरमा ने मधुरता के साथ सीता से कहा—"जानकी! मेघ-गर्जना की भाँति यह जो प्रचण्ड भैरवी-नाद हो रहा है, सो सुनो। सारे मस्त हाथी सज गये हैं। रथ और घोड़े भी तैयार हैं। सवार सब इकट्ठे होगये हैं और असंख्य सशस्त्र वीर युद्ध के लिए कूच कर रहे हैं। लंका के रास्ते में आज जहाँ देखो वहाँ सैनिक ही सैनिक दिखाई पड़ते हैं। ये सैनिक आज समुद्र की तरह गरज रहे हैं। जानकी! जरा ध्यान देकर देखो। ये सैनिकगण चमचमाते हुए हथियारों के साथ रावण के पीछे-पीछे युद्धक्षेत्र की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। पर विश्वास रक्खो कि इस युद्ध में तुम्हारे पति की ही विजय होगी और दशानन रावण का संहार करके रामचन्द्रजी तुमसे मिलने आवेंगे। उस समय तुम अपने स्वामी की गोद में सुख-पूर्वक सोओगी और गले लगकर मन-ही-मन अपूर्व सुखानुभव

करके आनन्द के आँसू बहाओगी।" इस प्रकार शोक से व्याकुल सीता को सरमा ने उसी प्रकार शान्त कर दिया, जैसे गरमी से तपी हुई जमीन को बर्सात का पानी कर देता है।

इसके बाद सीता ने पूछा कि रावण ने मंत्रियों से जो सलाह की थी, उसका क्या नतीजा हुआ? तब सीता के कहने पर सरमा वहां पर गई, जहां रावण अपने मंत्रियों और सेनापतियों के साथ सलाह कर रहा था, और उनकी सारी बातें सुनकर कुछ ही देर में लौट आई। विस्तार के साथ रावण की सब योजनाओं का वर्णन करके उसने बतलाया कि राक्षसराज की माँ ने तुम्हें छोड़ आने के लिए प्रेमपूर्वक अपने पुत्र को बहुतेरा समझाया। वृद्ध मंत्री ने भी उसे बहुतेरा उपदेश दिया। पर लोभी मनुष्य जैसे मरते दम तक धन को नहीं छोड़ते वैसे ही दुष्ट रावण भी तुम्हें छोड़ने के लिए राजी न हुआ। उसने निश्चय किया है कि शरीर में प्राण होते हुए मैं सीता को राम के सुपुर्द नहीं करूँगा। निश्चय ही उसकी मृत्यु आपहुँची है। इसी से ऐसी मति हो रही है। अतः इस युद्ध में रावण जरूर माराजायगा और तुम पति के साथ सुखपूर्वक अयोध्या जाओगी।"

इस प्रकार निर्जन स्थान में जब सीता को सलाह या आश्वासन देनेवाला कोई भी न था, उस समय सरमा ने सच्चे दिल से उनकी मदद की और उनके शोक-संतप्त हृदय को आश्वासन देकर सच्चे सखी-धर्म का पालन किया। सुख और वैभव के समय तो सब स्नेह करने को तैयार हो जाते हैं; पर विपत्ति के समय स्नेह करनेवाले विरले ही होते हैं। सरमा ने विपत्ति के समय सीताजी को सलाह और आश्वासन देकर उनके दुःख को बटाया, यह उसके लिए विशेष श्रेय की बात है।

भारत के स्त्री-रत्न

[पहला भाग]

महाभारत-काल

१

कौरव-जननी

गान्धारी

कौरव-जननी गान्धारी बहुत ही धर्मशीला और तेजस्वी महिला थीं। पुत्र-स्नेह की दृष्टि से माता स्वभावतः दुर्बल हुआ करती है। पुत्र में चाहे हजार दोष हों, फिर भी माता उसका पक्षपात अवश्य करती है। परन्तु ज्ञानवती और उन्नत-चरिता गान्धारी ने कभी अपने पापिष्ठ पुत्रों का समर्थन नहीं किया; बल्कि, उलटे, उसने अनेक बार उनके कुकृत्यों का खुल्लमखुल्ला तीव्र विरोध किया। धृतराष्ट्र पुरुष होकर भी कभी-कभी पुत्र-स्नेह के कारण दुर्बलता प्रकट किया करते थे, परन्तु गान्धारी के चरित्र में इस प्रकार की दुर्बलता कभी देखने में न आई। गान्धारी के जीवन के अनेक चरित्र इस आख्यान में चित्रित किये जायँगे। इन चरित्रों से इस तेजस्विनी प्राचीन आर्य-नारी के असामान्य मानसिक बल का परिचय मिलेगा।

बहुतसे लोग यह मानते हैं कि भारतवर्ष के पश्चिम में आज-कल क़न्धार नामका जो प्रदेश है वही प्राचीन काल में गान्धार कहलाता था। गान्धारी इसी गान्धार देश के राजा सुबल की कन्या थी। जिस समय जन्मान्ध धृतराष्ट्र के साथ उसका विवाह हुआ उस समय उसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर देवताओं

की आराधना करते हुए इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि मैं कभी अपने पति को अन्धा समझकर उनपर अपनी भक्ति कम न होने दूँगी। गान्धारी जब कुरुराज के घर गई उसके बाद के उसके चरित्र और व्यवहार के सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है कि इसके सदाचार और सुशीलता से कौरव-वंश के सभी लोग बहुत अधिक सन्तुष्ट हुए थे। यह बड़ों की सदा सेवा किया करती थी। इसने कभी किसीकी कोई निन्दा नहीं की।

गान्धारी का भाई शकुनी बड़ा पापी और नीच-बुद्धि का क्रूर मनुष्य था। दुर्योधन आदि को उनके पाप-कार्य में प्रोत्साहन और सहायता देनेवाला शकुनी ही था। कौरवों की सभा में जुआ खेलकर पांडवों का सत्यानाश करनेवाला भी वही था। पांसा फेंकने में वह बहुत निपुण था, उसीके बतलाये हुए कपटपूर्ण दाव के कारण ही राजा युधिष्ठिर को हराने में दुर्योधन समर्थ हुआ था। धर्मात्मा युधिष्ठिर अन्त में द्रौपदी तक को हार गये। दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन जाकर द्रौपदी को उसकी चोटी पकड़ कर राज-सभा में खींच लाया था। वहाँ दुर्योधन और उसके संगी-साथी तरह-तरह का हँसी-मजाक करके द्रौपदी का अपमान करने लगे। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि वृद्ध पुरुष उस सभा में उपस्थित थे। धर्मपरायण और तेजस्वी होने पर भी युधिष्ठिर जुए में द्रौपदी को हार गये थे, इसलिए द्रौपदी उस समय दुर्योधन के अधिकार में थी। केवल इसी विचार से वे सब चुप थे। दुर्बल धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र के भय से उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। लेकिन अन्तःपुर में गान्धारी ने यह समाचार सुना तो उससे चुप नहीं बैठा रहा गया। वह तुरन्त सभा में आ पहुँची और द्रौपदी का अपमान

रोकने के लिए धृतराष्ट्र से आग्रह करने लगी। इसपर धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को धैर्य दिलाया और पांडवों को दासत्व से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन जब पांडवों को मनमाना कष्ट न दे सका तब वह मन-ही-मन बहुत खिजलाया। कुछ दिन बाद शकुनी की सम्मति से उसने फिर धृतराष्ट्र से इस बात का आग्रह किया कि युधिष्ठिर को फिर से जुआ खेलने के लिए बुलाया जाय। पुत्रों के आग्रह के कारण धृतराष्ट्र ने फिर युधिष्ठिर को निमन्त्रण भेजा। दुर्योधन यह चाहता था कि इस बार जुए में पांडवों का सर्वस्व जीत लिया जाय और उन्हें एक लम्बी अवधि के लिए देश-निकाला दिया जाय। गान्धारी ने देखा कि एकबार तो किसी तरह झगड़ा शान्त हो गया, पर मेरे पापी पुत्र अब फिर से नया झगड़ा खड़ा करना चाहते हैं। उसने अपने पति धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज, आप इस समय यह क्या सत्यानाश करने पर उतारू हुए हैं? अपने दुर्बुद्धि और पापी पुत्रों की बात मानकर आपने कुल का नाश करनेवाले प्रपंच का क्योंकर अनुमोदन कर दिया? जो आग एकबार बुझ चुकी है उसे आप फिर से क्यों सुलगा रहे हैं? पांडव बहुत ही धर्मशील और शान्त-स्वभाव के हैं। वे लोग जल्दी किसीके साथ कोई झगड़ा नहीं करते। तो फिर क्यों व्यर्थ उनके साथ शत्रुता खड़ी करके उन्हें क्रोध दिलाते हैं? दुर्योधन आपका पुत्र है, उसे आपकी आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। आप क्यों उलटे उसके वश होकर उसके पापपूर्ण विचारों का समर्थन करने लगजाते हैं? पुत्र-स्नेह के वश होकर आप अपना ज्ञान और अपनी धर्म-बुद्धि न खो दिया करें। आप पहले स्थिरचित्त हो सब बातों पर भलीभाँति विचार करलें, और तब अपने पापी

पुत्रों की पापपूर्ण अभिलाषा का विरोध करें । हा ! जिस समय इस पापी पुत्र दुर्योधन का जन्म हुआ था उसी समय चारों ओर अशकुन होने लगे थे, जिन्हें देखकर महात्मा विदुरजी ने कहा था कि यह पुत्र कुलांगार होगा । उन्होंने तो यहाँतक कह दिया था कि अभी इसे मार डालो, नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं है । महाराज ! आपने उस समय पुत्र-स्नेह के वश होकर भाई विदुरजी का कहना नहीं माना । इसलिए इस दुर्योधन के पाप के कारण कुल के सत्यानाश के लक्षण दिखाई देने लगे हैं । महाराज ! मैं तो अब भी यही कहती हूँ कि यदि कुरुवंश का कल्याण चाहते हों तो आप कुलांगार दुर्योधन का इसी समय त्याग कर दीजिए । नहीं तो इसके पाप से जो आग सुलग रही है वह किसी-न-किसी दिन कुरुवंश को भस्मीभूत करके ही छोड़ेगी । कुरु-कुल की लक्ष्मी सदा के लिए उसका परित्याग करके चली जायगी ।"

धर्म के लिए, कुल की रक्षा के लिए, स्वामी को पापी पुत्र का परित्याग करने की सलाह देनेवाली महान् मातायें पृथ्वी में कितनी हैं ? लाड़-प्यार करके अपने पुत्रों के दोषों को छिपानेवाली आज-कल की मातायें क्या इस उदाहरण से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगी ? लेकिन, तेजस्वी गान्धारी का तेज-पूर्ण उद्देश्य व्यर्थ गया । उससे धृतराष्ट्र की मोहान्धता और दुर्बलता दूर नहीं हुई । उन्होंने धीरे-से कहा—"मुझसे पुत्रों की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया जाता । यदि इससे कुल का नाश होता हो तो हुआ करे । मेरे पास इसका कोई उपाय नहीं है ।"

युधिष्ठिर के पास जुआ खेलने के लिए फिर से निमन्त्रण भेजा गया । उस समय शर्त यह बदी गई थी कि जो पक्ष हारे

वह अपनी स्त्री के साथ बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार करें। युधिष्ठिर के हार जाने के कारण, पांडवों को द्रौपदी के साथ तेरह वर्षों तक वन में रहना पड़ा। जब ये तेरह वर्ष बीत गये तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के द्वारा दुर्योधन से सन्धि करने के लिए यह कहलाया कि अब मुझे पूर्व-निश्चय के अनुसार राज्य का आधा भाग दे दो। श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि अमात्यों तथा सभा में बैठे हुए बड़े-बड़े राजाओं ने युधिष्ठिर का संधि संबंधी यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लेने के लिए दुर्योधन को बहुत समझाया-बुझाया। परन्तु दुर्योधन तो यह प्रतिज्ञा कर चुका था कि मैं बिना युद्ध किये युधिष्ठिर को सुई की नोक के बराबर भी जमीन न दूँगा। इसलिए उसने किसीकी बात नहीं मानी और क्रोध-पूर्वक सभा में से उठकर चला गया।

उसी समय धृतराष्ट्र ने विवश होकर गान्धारी को सभा में बुलाने के लिए आग्रह किया। जब गान्धारी सभा में आई तब उसने सब बातें सुनकर धृतराष्ट्र से कहा—"आपका ही सारा दोष है। महाराज, आज आपके ही दोष के कारण यह आपत्ति खड़ी हुई है। इसके लिए आपही पूर्ण-रूप से उत्तरदायी हैं। आप जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट और पापी है। फिर भी आप सदा उसीके कहने के माफिक चला करते थे। अब आज आपमें इतनी शक्ति नहीं रह गई कि आप उसके विचारों को पलट सकें। जो व्यक्ति धर्म-द्वेषी, असभ्य और दुष्ट स्वभाववाला होता है वह कभी राज्य करने के योग्य नहीं होता। आपने अपने दुष्ट पुत्र के हाथ में राज्य सौंपा, उसका उचित बदला आपको मिल चुका। पांडव

भी आपके अपने और सगे ही हैं। आज आप उनके साथ घोर संग्राम करने के लिए किस प्रकार तैयार होंगे? इससे आपके शत्रु हँसेंगे और जगत् में आपकी अपकीर्त्ति होगी। अतः चाहे जैसे हो, आप इसी समय दुर्योधन को सभा में बुलवाइए और मैंने जो कुछ कहा है वह सब उसे बतला दीजिए।"

माता की आज्ञा से दुर्योधन फिर सभा में आया। माता ने उसे सम्बोधन करके शिक्षा के रूप में कहा—"पुत्र! तुम क्यों भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि गुरुओं और बड़ों का उचित उपदेश नहीं मानते? पांडव भी तुम्हारे भाई ही हैं। तुम क्यों उनके हिस्से का राज्य उन्हें नहीं देते? यदि तुम और पांडव दोनों अपने-अपने हिस्से का राज्य बचा लोगे तो संसार के दूसरे शत्रुओं का नाश करके सुखपूर्वक और निष्कटक राज्य करोगे। पर यदि तुम लोग आपस में ही लड़ मरोगे तो कुल का नाश होगा, शक्ति का नाश होगा, राज्य का नाश होगा, और तुम लोगों को अन्त में बहुत पछताना पड़ेगा। तुम सब एक ही और सगे हो। क्या तुम लोग आपस में ही लड़-भिड़कर एक-दूसरे का नाश कर डालोगे और इस प्रकार बाहरी शत्रुओं के आनन्द की वृद्धि करोगे? आधे राज्य पर तुम्हारा अधिकार है। तुम अपनी बुद्धि ठिकाने लाओ और बड़ों के उपदेश के अनुसार काम करो। तुम आधा राज्य पांडवों को लौटा दो और बाकी आधा राज्य लेकर सुख से सब भाई उसका भोग करो। बहुत अधिक लोभ पापों का मूल हुआ करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर के वश होकर तुमने पाण्डवों को बहुत अधिक दुःख दिया है। तुमने उनकी बहुत अधिक हानि की है। आज भी तुम इन्हीं षड्रिपुओं के वश होकर शुभ-

चिन्तकों की सम्मति की अवहेलना करना चाहते हो। अपनी इन्द्रियों का दमन करो। बुद्धि स्थिर करो। इन्द्रियों के वश होकर मनुष्य कभी राज्य का संचालन नहीं कर सकता। आज तक संसार में कभी ऐसा कोई मनुष्य विजयी नहीं हुआ। तुममें इतना बल हर्गिज़ नहीं कि तुम पांडवों पर विजय प्राप्त करके सारा राज्य अपने अधिकार में कर सको। मोह के वश होकर तुम यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि योद्धा तुम्हारी सहायता करने के लिए प्राण रहते तक तुम्हारी ओर से युद्ध करेंगे। पर यह बात कभी होने की नहीं। इस राज्य पर तुम्हारा और पांडवों का समान रूप से अधिकार है। इन शुभ-चिन्तकों का तुमपर और पांडवों पर समान रूप से स्नेह है। तब तुम किस बिरते पर यह आशा रखते हो कि ये लोग पाण्डवों के विरुद्ध होकर तुम्हारी सहायता करेंगे? तुम राजा हो। तुम्हारे अन्न से इन लोगों का पोषण होता है। इसलिए लोग तुम्हारी सहायता करने के लिए कर्त्तव्य की दृष्टि से बँधे हुए हैं। फिर भी धर्मात्मा युधिष्ठिर पर हाथ उठाने की अपेक्षा ये लोग मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द करेंगे। पुत्र, तुम मोह को त्याग दो। लोभ और मोह के वश होकर पांडवों का अमंगल करने का विचार मत करो। लड़ाई-झगड़ा करने का विचार छोड़ दो और पाण्डवों को उनके हिस्से का राज्य दे दो। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो कुरु-कुल का सत्यानाश हो जायगा।"

परन्तु दुष्टमति दुर्योधन ने अपनी माता के इस उपदेश पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ऐसे सुन्दर उपदेश से भी उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं आई। भीष्म, द्रोण तथा सभा में बैठे हुए दूसरे बड़े

बड़े राजाओं ने भी दुर्योधन को बहुतेरा समझाया, पर वह किसी तरह मानता ही न था। अन्त में गान्धारी को बहुत अधिक क्रोध हो आया और उसने तीव्र शब्दों में दुर्योधन का तिरस्कार करते हुए कहा—"दुर्योधन! आज मैं इस सभा में सबके सामने कहे देती हूँ कि तू बड़ा ही दुष्ट और नीच है। कुरुवंश के राजा लोग बहुत दिनों से यह राज्य भोगते चले आरहे हैं। पर आज तू इस राज्य को रसातल में पहुँचाने के लिए उतारू हुआ है। धर्मात्मा शान्तनु-पुत्र भीष्म के जीवित रहते, तेरे पिता धृतराष्ट्र और चाचा विदुर के जीवित रहते, इन लोगों की इच्छा से ही तुझे यह राज्य मिला है। इसीलिए आज तू राजा बना हुआ है। आज तू क्या मुँह लेकर इन लोगों की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है? तू इस राज्य का होता कौन है? इस राज्य पर तेरा क्या अधिकार है? धर्मात्मा पाण्डु इस राज्य के राजा थे और उनके पुत्र युधिष्ठिर तथा उनके वंशज इस राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। इसपर किसी दूसरे का कोई अधिकार नहीं है। मैं सब लोगों से प्रार्थना करती हूँ कि आप सब लोग मिलकर इस पापात्मा दुर्योधन का तिरस्कार करें। कुरु-कुल-भूषण भीष्म-पितामह की आज्ञा के अनुसार आप लोग काम करें। मैंने अपना अभिप्राय आप लोगों पर प्रकट कर दिया है। मेरी सम्मति यही है कि धर्मात्मा युधिष्ठिर ही राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। भीष्म और धृतराष्ट्र के अनुमोदन से उन्हींको इस राज्य का संचालन करना चाहिए।"

परन्तु फिर भी दुर्योधन टस-से-मस न हुआ। उसने किसी-का कहना नहीं माना। उसे राजा समझकर धर्म-भीरु भीष्म,

द्रोण या और कोई उसकी आज्ञा की अवज्ञा न कर सके। आखिर कौरव और पाण्डव कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए तैयार होगये।

अठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र में भीषण युद्ध होता रहा। हज़ारों वीर घायल हुए और मारे गये। नित्य युद्ध आरम्भ होने के पहले दुर्योधन अपनी माता से आशीर्वाद लेने के लिए जाया करता था, परन्तु धर्मशीला गान्धारी रोज दुर्योधन को यही उत्तर देती—"जहाँ धर्म है, वहीं विजय होती है। अधर्म की कभी विजय नहीं होती।"

धीरे-धीरे बहुतसे कौरव अपने भाइयों और बन्धु-बान्धवों सहित युद्ध में मारे गये।

पुत्र चाहे हज़ार अपराध करे फिर भी माता का हृदय बिलकुल स्नेह शून्य नहीं हो सकता। परन्तु गान्धारी ने कभी अपने पुत्रों का पक्ष नहीं लिया। वह सदा अपने पुत्रों को पाप-मार्ग से बचाने के लिए फटकारा करती थी। कुरु-सभा में उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि दुर्योधन को राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। युधिष्ठिर ही राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। उन्हींको राज्य-कार्य का संचालन करना चाहिए। अधर्म के मार्ग में चलनेवाले अपने पुत्रों को उसने घोर संग्राम में जाने के समय भी आशीर्वाद नहीं दिया।

परन्तु गान्धारी अपने सौ पुत्रों की मृत्यु के शोक के कारण, वृद्ध धृतराष्ट्र के करुण क्रन्दन के कारण, पुत्र-शोकातुर, दुर्बल, अपनी एकमात्र कन्या के वैधव्य के कारण, युद्धक्षेत्र में अपने-अपने मृत पतियों के शवों के पास बैठकर रोती हुई पुत्रवधुओं के दारुण शोक का हृदयभेदी दृश्य देखकर—असाधारण मानसिक

बल होने पर भी—धैर्य धारण न कर सकी। वह अपने-आपको भूल गई और पांडवों को शाप देने के लिए तैयार हुई।

इतने में श्रीकृष्ण भी पाण्डवों को दिलासा देकर और अपने साथ लेकर क्रोध के आवेश में भरी हुई शोकातुर गान्धारी को सान्त्वना देने और उसका क्रोध शान्त करने के लिए उसके पास आ पहुँचे।

उसी समय महर्षि व्यास भगवान् भी इसी उद्देश्य से गान्धारी के पास पहुँचे। गान्धारी को सम्बोधन करके व्यासजी ने कहा—"देवी! तुम सदा सुशील और क्षमाशील रही हो। फिर तुम आज किसलिए क्रोध कर रही हो? युद्ध के समय दुर्योधन तुम्हारे पास आशीर्वाद लेने के लिए रोज जाया करता था। उस समय तुम उससे कहा करती थीं कि जहाँ धर्म है वहीं विजय है। तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्री का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। इसीलिए कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में धर्म की ही जीत हुई। अधर्म का पराजय हुआ है। बस, इसी बात का ध्यान करके तुम अपना क्रोध शान्त करो। तुम पाण्डवों को क्षमा करो।"

महर्षि व्यास की बात सुनकर महानुभावा गान्धारी ने उत्तर दिया—"आर्य, मैं पाण्डवों के साथ किसी प्रकार का द्वेष नहीं करती। मेरा यह कभी अभिप्राय नहीं है कि इन लोगों का नाश हो। कुन्ती जिस प्रकार पाण्डवों की हितैषिणी है उसी प्रकार मुझे भी उनकी हितैषिणी होना चाहिए। इसके सिवा मैं यह बात भी बहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि केवल मेरे पुत्रों के दोषों के ही कारण कुरु-कुल का नाश हुआ है। ये लोग अपने पाप के कारण ही नष्ट हुए हैं। इसमें पाण्डवों का कोई अपराध नहीं है। परन्तु देव,

दारुण पुत्र-शोक से मेरा हृदय भरा आता है। इसीलिए कभी-कभी मैं अपने आपे से बाहर हो जाती हूँ। उस समय मेरे दुर्बल चित्त को किसी प्रकार का बोध नहीं होता। जबसे मैंने यह सुना है कि भीम ने दुःशासन की छाती फाड़कर उसका रुधिर पान किया है तबसे मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ है। नाभि के नीचे के भाग में गदा का प्रहार करना युद्ध-नीति के विरुद्ध है। श्रीकृष्ण के सामने रहते हुए भीम ने युद्ध-नीति का उल्लंघन करके दुर्योधन की जाँघ में गदा का प्रहार किया और इस प्रकार उसके प्राण लिये। गदा-युद्ध में भीम की अपेक्षा दुर्योधन बहुत निपुण था। यदि इस प्रकार नीति-विरुद्ध कार्य न होता तो दुर्योधन सहज में नहीं मारा जाता। जबसे मैंने यह सुना है कि भीम के इस नीति-विरुद्ध कार्य से मेरे पुत्र की मृत्यु हुई है तबसे मेरे हृदय में क्रोधाग्नि सुलग रही है।"

उस समय भीम ने विनय-पूर्वक गान्धारी को समझाया कि केवल अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए ही मैंने दुःशासन का रुधिर पान किया था और दुर्योधन का उरु भंग किया था। इसपर गान्धारी ने कहा—"दुर्योधन और दुःशासन ने तुम्हारा अपराध किया था, इसके लिए तुमने उनको जो दण्ड दिया वह उचित ही किया। इसके लिए मैं तुम्हें दोषी नहीं ठहराती। परन्तु यदि तुम मेरे सौ पुत्रों में से सबसे कम अपराध करनेवाले एक पुत्र को भी जीवित रहने देते तो वृद्ध अन्धराज धृतराष्ट्र और मुझ अभागी को इस वृद्धावस्था में कुछ तो धीरज होता। परन्तु जो कुछ होने को था वह तो हो ही गया। अब तुम्हीं लोग मेरे पुत्रों की जगह हो।"

पांडवों ने बहुत तरह से गान्धारी को धैर्य दिलाकर सन्तुष्ट

किया। इससे गान्धारी का क्रोध शान्त हो गया और उसने माता की भांति पांडवों को आशीर्वाद दिया।

इस भीषण युद्ध में दोनों ही पक्षों को बहुत अधिक शोक सहन करना पड़ा था। पांडवों, द्रौपदी और सुभद्रा सभीको दारुण पुत्र-शोक हुआ था। जब गान्धारी का शोक कम हो गया तब वह पांडवों की स्त्रियों को सांत्वना देने के लिए उनके घर गई। द्रौपदी, सुभद्रा आदि शोकविह्वल पांडव-बधुओं को सम्बोधन करके देवी गान्धारी ने स्नेहपूर्वक कहा—"हम सभी लोग एक-समान पुत्र-शोक से व्याकुल हैं। अब हम लोगों को एक-दूसरे की ओर देखकर धैर्य धारण करना चाहिए। अब तो यही मानना चाहिए कि विधाता के अलंघनीय नियम से काल ही इन सबको खा गया है। हम लोगों के पुत्र तो युद्ध में घायल होकर उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं। इससे अब हम लोगों को शान्त होकर मन में संयम रखना चाहिए। हम सभी समान-रूप से शोकार्त्त हैं। हम लोगों को शान्ति देने के लिए इस विचार से बढ़कर और कौन-सा विचार हो सकता है? कर्मों के दोष से मेरे गर्भ में से कपूतों ने ही जन्म लिया; इसीसे आज कुरु-कुल का नाश हुआ है।"

पांडवों की बहुओं को सान्त्वना देकर श्रीकृष्ण के साथ गान्धारी कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में गई। पुत्रों और पौत्रों, कौरवों और पांडवों के पक्षवालों और असंख्य वीरों के रुधिर से सने हुए शव समरक्षेत्र में पड़े हुए थे। रक्त और मांस के लालच से सियार, कौवे और गिद्ध चारों ओर जमा हो गये थे और शवों पर बैठे हुए मांस खा रहे थे। कुरुवंश की बहुयें, भारत के विविध देशों के राजाओं की राज-मातायें, महारानियाँ, जननियाँ और

वीर पत्नियाँ अपने-अपने पति-पुत्रों के मृत-शरीरों को आलिंगन करके दारूण विलाप कर रही थीं।

एक-एक करके सभी शोकावह चित्र दिखलाती हुई गान्धारी श्रीकृष्ण से कहने लगी—"हे कृष्ण! देखो, हमारी बहुयें बाल बिखरे हुए और विच्छिन्न वेश में समरभूमि में मृत पतियों के शवों के पास बैठी हुई रो रही हैं। कोई पागलों की तरह इधर-उधर घूम रही हैं। हे कृष्ण! देखो, भारत की पुत्रहीन वीर जननियों और पतिहीन वीर पत्नियों से सारा समर-क्षेत्र भरा पड़ा है। देखो, पुरुष-व्याघ्र द्रोण, कर्ण, अभिमन्यु, द्रुपद, शल्य, दुर्योधन, दुःशासन, भूरिश्रवा आदि असंख्य वीरों के छिन्न-भिन्न मृत शरीर रुधिर में भरकर कितने विकराल होगये हैं। यह देखो, कभी तो भानुमती अपने पुत्र लक्ष्मण का माथा सूँघती है और कभी दुर्योधन का शरीर पोंछती है। यह देखो, पद्मावती उन्मत्त हो कभी तो वीर पति कर्ण का और कभी अपने पुत्र का शरीर गले से लगाकर आर्त्तनाद कर रही है। यह देखो, द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी रोती हुई अपने वृद्ध वीर पति की अन्त्येष्टि-क्रिया की तैयारी कर रही है। यह देखो, दुःशला जयद्रथ का कटा हुआ सिर ढूँढने के लिए पागलों की तरह इधर-उधर घूम रही है। यह देखो, मेरी छोटी बहू गीदड़ों और गृद्धों को भगाकर यत्नपूर्वक बालक पुत्र विकर्ण के मृत शरीर की रक्षा कर रही है।"

इतना कहते-कहते गान्धारी का गला भर गया। थोड़ी देर बाद अपने-आपको सम्हालकर उसने कहा—"कृष्ण! जिस दिन दुःशासन, दुर्योधन और कर्ण ने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया था, जिस दिन मेरे पुत्रों ने सब लोगों के आग्रह की उपेक्षा

करके पाण्डवों को उनका हिस्सा देना नामंजूर किया था, उसी दिन मैं समझ गई थी कि एक-न-एक दिन मुझे यह दृश्य देखना पड़ेगा। जब युद्ध के समय दुर्योधन मेरे पास आशीर्वाद लेने के लिए आया, तब मैंने यही कहा था कि अधर्म की कभी विजय नहीं हो सकती। उसी समय मैं यह जानती थी कि मुझे दारुण पुत्र-शोक सहना पड़ेगा। पर आज यह दृश्य अपनी आँखों से देखकर मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। मुझे एकमात्र इसी बात का सन्तोष है कि मेरे पुत्रों ने जो-कुछ अधर्म किया था उसके बदले में वे वीरतापूर्वक युद्ध करके आज इस वीर शरशय्या पर सोते हुए स्वर्ग को सिधारे हैं। परन्तु कुरुवंश निर्मूल हो गया और भारत के वीरवंश का ध्वंस होगया, इसकी शान्ति किस प्रकार हो ? हे कृष्ण ! तुम्हारा ज्ञान असीम है। तुम्हारी शक्ति भी असीम है। यदि तुम चाहते तो अवश्य यह युद्ध रोक सकते थे। तुमने शक्ति रहते भी यह युद्ध नहीं रोका; आज मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हारे ही हाथ से तुम्हारे यादव-वंश का नाश होगा। तुम्हें वह ध्वंस अपनी आँखों से देखकर वन में बहुत ही निकृष्ट रीति से प्राण त्यागने पड़ेंगे।"

युद्ध के उपरान्त कुरुराज्य पर युधिष्ठिर का अधिकार हुआ। कुछ दिनों तक गान्धारी अपने पति के साथ पाण्डवों के आश्रय में रही। इस बीच में पाण्डवों ने हर प्रकार से इनका सम्मान रखने और इन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। कुन्ती भी अपने दूसरे बहुतसे काम छोड़कर दिन-रात इन्हींकी सेवा में लगी रहती थी। पर कुछ दिनों बाद धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी वन को चली गईं और वहीं रहकर तपस्या करने लगी।

५

पाण्डव-माता

कुन्ती

पाण्डवों की माता कुन्ती के समान उन्नत-हृदय और तेजस्विनी स्त्रियाँ जगत में दुर्लभ होती हैं। जिस प्रकार वीरता और महत्व के लिए पाण्डव संसार में श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार उन्नत-चरित्र और महत्व के लिए कुन्ती भी संसार में अतुलनीय समझी जाती हैं। वीर पुत्रों की योग्य माता के रूप में वह अनेक गुणों से आर्यभूमि को गौरवान्वित कर गई हैं।

यह यदुवंशी राजा शूरसेन की कन्या और भगवान् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं। इनका वास्तविक नाम पृथा था। परन्तु शूरसेन के भाई राजा कुन्तिभोज ने, जिनके अपनी कोई सन्तान नहीं थी, इन्हें अपनी कन्या के समान पाला था, इसलिए कुन्ती नाम से प्रसिद्ध हुईं।

उन दिनों कुरुवंश का राजा भारतवर्ष में सबसे श्रेष्ठ और पराक्रमी समझा जाता था। आधुनिक दिल्ली के पास हस्तिनापुर में उसका राज्य था। इसी कुरुवंश के राजा पाण्डु के साथ स्वयंवर द्वारा कुन्ती का विवाह हुआ था। पाण्डु का धृतराष्ट्र नामक एक बड़ा भाई था। परन्तु धृतराष्ट्र जन्म से अन्धा था, इसलिए छोटा भाई पाण्डु ही हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा। गान्धार देश के राजा सुबल की कन्या गान्धारी के साथ धृतराष्ट्र का

विवाह हुआ था। कुन्ती के गर्भ से परम-धर्मात्मा युधिष्ठिर, महाबलवान भीमसेन तथा तेजस्वी महच्चरित्र और महावीर अर्जुन ने जन्म ग्रहण किया था। मद्र देश के राजा की माद्री नाम की एक कन्या कुन्ती की सपत्नी थी। उसके गर्भ से नकुल और सहदेव नामक युग्म-पुत्र उत्पन्न हुए थे। ये पाँचों पुत्र पाण्डव के नाम से प्रसिद्ध हुए। गान्धारी के गर्भ से दुर्योधन और दुशासन आदि एकसौ पुत्र और दुःशीला नाम की एक कन्या ने जन्म लिया था। यद्यपि पाण्डु और धृतराष्ट्र दोनों ही कुरुवंश के थे, लेकिन धृतराष्ट्र के पुत्र ही कौरव नाम से प्रसिद्ध हुए।

पुत्रों के जन्म के थोड़े दिनों बाद ही महाराज पाण्डु की मृत्यु हो गई। माद्री ने अपने सब पुत्र कुन्ती को सौंप दिये और आप पति के साथ सती हो गई। कुन्ती अपने पुत्रों के साथ साथ अपनी सौत माद्री के पुत्रों का भी समान स्नेह से पालन-पोषण करने लगी। नकुल और सहदेव को कभी इस बात का गुमान भी न होता कि कुन्ती हमारी सौतेली माँ है। ये दोनों भाई सबसे छोटे थे, इसलिए कुन्तीदइनपर अपने पुत्रों से भी बढ़कर स्नेह करती थीं।

पाण्डवों और कौरवों में युधिष्ठिर सबसे बड़े थे। इसलिए उनके वयस्क होते ही धृतराष्ट्र ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। वीरता में, अस्त्र-शस्त्र आदि चलाने में, धर्मनिष्ठा में और उच्चचरित्र में कौरवों की अपेक्षा पाण्डव सभी प्रकार से कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। दुर्योधन बाल्यावस्था से ही पाण्डवों के साथ ईर्षा करता था और उसी ईर्षा के वश होकर वह उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट देने का भी प्रयत्न किया करता था। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों की अपेक्षा

पाण्डवों को अधिक श्रेष्ठ समझता था। वह संकीर्ण-हृदय नहीं था। अपने पुत्रों के ख़राब चालचलन से वह भलीभाँति परिचित था। वह यह भी जानता था कि दुर्योधन बिना कारण ही बेचारे पाण्डवों को बराबर दिक़ किया करता है। इन सब कारणों से वह मन-ही-मन बड़ा दुःखी हुआ करता था। परन्तु उसका मन जितना चाहिए उतना दृढ़ नहीं था। दुर्बलचित्त धृतराष्ट्र कभी तो ईर्षा के वश होकर और कभी पुत्र-स्नेह के कारण अपने पुत्र के दुष्ट कर्मों का अनुमोदन भी कर दिया करता था।

दुर्योधन के आग्रह से धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को यह आज्ञा दे दी कि तुम कुन्ती के साथ वारणावर्त नामक स्थान में चले जाओ और वहीं रहो। बेचारे धृतराष्ट्र को इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि इसके अन्दर क्या चाल है। वारणावर्त में पाण्डवों को जला देने के लिए दुर्योधन के साथियों ने शीघ्र जल उठनेवाले तरह-तरह के पदार्थों से लाक्षागृह नाम का एक महल बनाया था। उन्होंने यह प्रपंच रचा था कि रात के समय लाख के बने हुए महल में आग लगा दी जाय और उसमें कुन्ती के साथ-साथ पाण्डव भी जीते-जी जल मरें। पर पाण्डवों को इस जाल का पहले से ही पता चल गया और वे रात होने से पहले-पहले लाख के बने हुए उस महल में से चुपचाप भाग गये। दैव योग से नीचे कहे जाने वाले वर्ण की एक स्त्री अपने पाँच पुत्रों के साथ घर में आ ठहरी थी। जब दुर्योधन के साथियों ने उस घर में आग लगाई तो वह बेचारी अपने पाँचों पुत्रों के साथ जल गई। इन लोगों के जले हुए शरीरों का अवशेष देखकर दुर्योधन के आदमियों को विश्वास होगया कि कुन्ती ही पाण्डवों के साथ जल गई है।

अब पाण्डव लोग इस विचार से गुप्तवेष में भिन्न-भिन्न देशों में भ्रमण करने लगे कि कहीं फिर हम लोगों पर इसी प्रकार की विपत्ति न आ जाय।

इस प्रकार दरिद्र ब्राह्मणों के वेश में पाण्डव अपनी माता के साथ कुछ दिनों तक एक ब्राह्मण के घर में रहे। उस नगर के पास ही बक नाम का एक प्रचण्ड राक्षस रहता था। उस नगर पर उसका अधिकार था। उस राक्षस ने यह नियम कर रक्खा था कि नगर के निवासियों में से नित्य एक आदमी अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री लेकर मेरे पास आया करे। भोजन के और-और पदार्थों के साथ वह राक्षस उस आदमी को भी खा जाया करता था। जिस ब्राह्मण के घर पाण्डव ठहरे हुए थे एक दिन उसकी भी बारी आई। ब्राह्मण के घर रोना-पीटना मच गया। उस ब्राह्मण की स्त्री, पुत्र, कन्या और स्वयं वह ब्राह्मण इन चारों में से हरेक अपने प्राण देकर दूसरों के प्राण बचाने को तैयार होने लगा।

कुन्ती और भीमसेन भी उस दिन वहीं थे। बाक़ी चारों भाई भोजन-सामग्री लाने के लिए बाहर गये हुए थे। ब्राह्मण और उसकी स्त्री तथा पुत्र आदि का रोना-धोना सुनकर कुन्ती उनके पास गई और उनके रोने का कारण पूछा। हाल सुनकर उसने कुछ मुस्कुराते हुए कहा—"वाह! तुम लोग इतना रोते किस लिए हो? तुम लोग ज़रा भी चिन्ता न करो। आज इस घर की बारी है। हम लोग भी इसी घर में रहते हैं। आज भीम ही तुम लोगों की ओर से भोजन-सामग्री लेकर उस राक्षस के पास जायगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"माता! भला हम ऐसा कैसे कर सकते

हैं ? तुम लोग तो हमारे अतिथि हो । भला, हम अतिथि के प्राण देकर अपने प्राण बचा सकते हैं ? हमसे कभी ऐसा अधर्म नहीं हो सकता।"

कुन्ती ने कहा—"महाराज ! आप ऐसा विचार न करें । राक्षस मेरे भीम को मार नहीं सकेगा। उलटे यह भीम ही उस राक्षस को मार आवेगा। अभी आप नहीं जानते कि इसके शरीर में कितना बल है। इसने पहले बड़े-बड़े राक्षसों को मार डाला है। और फिर, यदि यह उसे न भी मार सका तो क्या हो जायगा ? यह भी तो आपके ही घर में रहता है। आपके ही आश्रय में जीता है। इसलिए यह आपके कुटुम्ब का ही आदमी गिना जायगा। आप वृद्ध हैं और यह बलवान् युवक है। ऐसी अवस्था में भला क्या यह आप सरीखे कृपालु को राक्षस के मुँह में जाने देगा और आप अपना इतना मोटा शरीर लेकर घर के अन्दर बैठा रहेगा ? यदि यह विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य को विपत्ति से रक्षा न करेगा तो फिर इसका इतना मोटा शरीर किस दिन काम आयगा ? मैंने इसके शरीर को किसलिए पुष्ट किया है ? जबतक भीम के शरीर में प्राण हैं तबतक इससे ऐसा अधर्म का काम कभी न हो सकेगा। स्वयं मैं भी माँ होकर उसके ऐसे अधर्म का कभी अनुमोदन नहीं करूँगी। आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे तथा मेरे पुत्र को इस आवश्यक और उचित धर्म का पालन करने दें। यदि आप नहीं मानेंगे तो भीम जबरदस्ती आपको रोककर चला जायगा और मैं भी उसे भेज दूँगी। इसलिए उचित यही है कि आप पहले से ही इसमें कोई बाधा न दें।"

ब्राह्मण ने पहले तो हीला-हवाला किया; पर फिर कुन्ती की बात मान ली। माता की आज्ञा से भीमसेन उस दिन राक्षस के पास जाने को तैयार हुआ। इतने में युधिष्ठिर आदि चारों भाई भी घर आ पहुँचे। युधिष्ठिर यह सुनकर कुछ भयभीत हुए कि माता की आज्ञा से भीमसेन आज बक राक्षस के साथ लड़ने के लिए जा रहा है। इसलिए उन्होंने माता से यह विचार छोड़ देने का आग्रह किया।

कुन्ती ने कहा—"युधिष्ठिर, अपने आश्रयदाता इस ब्राह्मण कुटुम्ब की रक्षा के लिए और इस नगर की प्रजा के हित के लिए आज मैंने भीम को भेजना निश्चय किया है। तुम इसमें बाधक क्यों होते हो? भीम का बल तो तुम लोग देख हो चुके हो। मुझे पूरा विश्वास है कि यह उस राक्षस का वध करके ही आवेगा। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र में से किसीपर कोई विपत्ति आवे तो क्षत्रियों का यह परमकर्त्तव्य है कि वे उनकी रक्षा करें। और फिर अपने आश्रयदाता के उपकार का बदला चुकाना तो मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है। अपने आश्रयदाता के उपकारार्थ क्षत्रियों के धर्म का पालन करने के लिए ही मैंने यह काम भीम को सौंपा है। अपने धर्म का पालन करने से भीम का क्षत्रिय-जीवन सार्थक होगा।"

युधिष्ठिर ने अपनी ग़लती मान ली और उसे दुरुस्त करते हुए कहा—"माँ, तुमने भीम को बहुत ही उचित कार्य पर नियुक्त किया है। तुम्हारे पुण्य और तुम्हारे आशीर्वाद से वह बक राक्षस का वध करके ही आवेगा।"

अपनी माता और बड़े भाई की आज्ञा लेकर भीम बड़े

प्रसन्नता से दूसरे दिन उस राक्षस को मारने के लिए गया और अपने अमानुषिक पराक्रम से राक्षस का वध करके लौटा।

इसके उपरान्त पाण्डव पाञ्चाल देश में गये। उस समय पाञ्चाल राज्य में राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। देश-देश के राजा पाञ्चाल नगर में एकत्र थे। राजा ने यह प्रण किया था कि जो व्यक्ति धनुर्विद्या में विशेष पारदर्शिता दिखला-वेगा उसीके साथ द्रौपदी का विवाह होगा। इसके लिए वहाँ मत्स्यवेध का आयोजन किया था। एक-एक करके सभी राजाओं ने मछली बेधने का प्रयत्न किया, पर किसीको सफलता नहीं हुई। अन्त में ब्राह्मण-वेषधारी अर्जुन ने लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया। अस्त्रविद्या में प्रवीण बड़े-बड़े क्षत्रिय जो वेध न कर सके थे एक ब्राह्मण वही वेध करके द्रौपदी जैसी परमसुन्दरी को पा गया, यह देखकर राजाओं को बड़ा क्रोध हुआ। फलतः बहुतसे राजा अर्जुन पर टूट पड़े। परन्तु भीम और अर्जुन ने अपनी अतुलनीय वीरता से बहुतों को परास्त किया और वे द्रौपदी को अपनी माता कुन्ती के पास लेगये।

स्वयंवर में अर्जुन और भीम ने जो पराक्रम दिखलाया था उसके कारण पाण्डवों का समाचार गुप्त न रह सका। धृतराष्ट्र ने हस्तिनापुर राज्य का आधा भाग युधिष्ठिर को दे दिया और पाण्डवों को खाण्डवप्रस्थ में रहने की आज्ञा दी। दुर्योधन हस्तिनापुर का राजा हुआ। खाण्डवप्रस्थ की युधिष्ठिर वाली राजधानी इन्द्रप्रस्थ कहलाने लगी। यही इन्द्रप्रस्थ आजकल की दिल्ली है।

थोड़े दिनों बाद पराक्रमी पाण्डवों ने दिग्विजय करके बहुत धूमधाम से राजसूय यज्ञ किया। पापिष्ठ दुर्योधन पाण्डवों का यह

गौरव देखकर ईर्षा की आग से जलने लगा। उसने कुटिल बुद्धिवाले अपने मामा शकुनी की सलाह से जुआ खेलने के लिए युधिष्ठिर को बुलाया। पासा फेंकने में शकुनी सिद्धहस्त था। जुए में युधिष्ठिर अपना सब-कुछ हार गये और उन्हें बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का गुप्तवास मंजूर करना पड़ा। कुन्ती के पुत्र जब प्रतिज्ञानुसार बन को जाने लगे तब कुन्ती ने उसमें कोई बाधा नहीं दी। द्रौपदी ने भी अपनी सास से पतियों के साथ जाने की आज्ञा माँगी। शान्तचित्त से आज्ञा देते हुए कुन्ती ने कहा—"बेटी, तू धर्मशीला और गुणवती है। तेरे जैसी स्त्रियों से मैके और ससुराल दोनों कुलों की प्रतिष्ठा बढ़ती है। तुझे यह सिखलाने की आवश्यकता नहीं है कि स्वामी के प्रति पतिव्रता स्त्री का क्या धर्म और कर्त्तव्य हुआ करता है। प्रसन्नता-पूर्वक अपने पतियों के साथ बन में जा। तू दुःख में अधीर न होना। जब बुरे दिन आते हैं तब किसीकी कुछ नहीं चलती। इस बात का ध्यान रखना कि रास्ते में इन लोगों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। धर्म और गुरुजनों के आशीर्वाद से सदा तेरी रक्षा होती रहेगी।"

जब बारह वर्षों का बनवास और एक वर्ष का गुप्तवास पूरा होगया तब भी दुर्योधन ने पाण्डवों को राज्य में से एक तस्सू जमीन भी देना मंजूर नहीं किया, इसलिए कुरुक्षेत्र में महायुद्ध की तैयारी हुई। यह निश्चय था कि इस युद्ध में कुरुवंश का सर्वनाश हो जायगा। यही सोचकर धर्मात्मा युधिष्ठिर ने इस बात का बहुत अधिक प्रयत्न किया कि किसी प्रकार सन्धि हो जाय। भीम और अर्जुन ने अनेक प्रकार के अपमान सहे, फिर भी

अपने कुल की रक्षा के विचार से उन्होंने युधिष्ठिर के विचार का प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को इस-लिए दूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा कि वे मीठे वचनों से समझा-बुझाकर दुर्योधन को ठीक मार्ग पर ले आवें और वह पाण्डवों को राज्य का भाग दे दें। पिता धृतराष्ट्र, माता गान्धारी और दूसरे सगे-सम्बन्धियों तथा मित्रों ने दुर्योधन को बहुतेरा समझाया। परन्तु बलगर्वित दुर्योधन ने साफ़ कह दिया कि बिना युद्ध किये मैं युधिष्ठिर को सुई की नोक के बराबर भी ज़मीन न दूँगा। इस-पर कुन्ती का अभिप्राय जानने के लिए श्रीकृष्ण उसके पास गये।

जिन कौरवों ने बाल्यावस्था से ही कुन्ती के पुत्रों को अत्यन्त दुःख दिया था, जिन्होंने भरी सभा में द्रौपदी का हद से ज़्यादा अपमान किया था, जिनके कपटपूर्ण व्यवहार के कारण उसके पुत्रों को द्रौपदी के साथ तेरह वर्षों तक बनवास और अज्ञातवास का महादुःख भोगना पड़ा था, उन्हीं कौरवों के सम्बन्ध में जब कुन्ती ने यह सुना कि मेरे युधिष्ठिर ने उनके यहाँ दीनतापूर्वक सन्धि करने के लिए सन्देसा भेजा था तब उस तेजस्विनी और वीरप्रसविनी कुन्ती को बहुत दुःख हुआ। परन्तु सन्धि तो कौरवों ने ही नामंजूर करदी थी। फिर भी जब कुन्ती को यह आशंका हुई कि कोमल स्वभाव के युधिष्ठिर असंख्य मनुष्यों के प्राण बचाने के विचार से युद्ध करना नहीं चाहते और कौरवों की शरण में रहने का विचार कर रहे हैं तब कुन्ती ने बड़े ही तेजोमय शब्दों में श्रीकृष्ण से कहा—"श्रीकृष्ण! इस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के कष्ट सहे हैं। वैधव्य का अपार दुःख भी मैं सह रही हूँ। पुत्रों के राज्यनाश और बनवास का दुःख भी मैं सह

चुकी हूँ। तेरह वर्षों तक मैं अपने पुत्रों का मुँह भी न देख सकी, यह भी कुछ कम दुःख नहीं है। ये सब बातें मैंने जैसे-तैसे सह लीं। परन्तु कौरवों की भरी सभा में मेरी बहू द्रौपदी का चीर खींचा गया—यह अपमान मैं कभी सहन नहीं कर सकती। जिस दिन मैंने देखा कि भरी सभा में दुष्ट कौरवों ने द्रौपदी का उसके पतियों और बन्धु-बान्धवों के सामने ऐसा अपमान किया उस दिन से मेरे मन में शान्ति नहीं है। मैं पुत्रवती हूँ। तुम और बलदेव मेरे सहायक हो। महावीर भीम और अर्जुन भी जीते हैं। तो फिर भला, तुम्हीं बताओ, ऐसे दुःसह अपमान की ज्वाला मैं कैसे सह सकती हूँ? क्या कोई क्षत्रिय सन्तान अपनी कुल-वधू का ऐसा अपमान सह सकती है? मेरे पुत्र भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव क्षत्रिय-धर्म का पालन करनेवाले हैं। फिर भी मैं नहीं समझती कि वे इतना बड़ा अपमान सहने के लिए किस प्रकार तैयार हो गये। युधिष्ठिर को मैं क्या कहूँ। वह राजपुत्र और राजा होकर भी राजधर्म का पालन करने में आगा-पीछा कर रहा है, इसलिए वह इस पाप का संचय भी कर रहा है। जो वेद का अर्थ बिना समझे ही वेद पढ़ता है वह कोरा वेदुआ पशु ही रह जाता है। क्षत्रिय वीर राज्य के लिए किसीसे प्रार्थना नहीं किया करते। वे दान के रूप में कोई चीज नहीं लेते। वे जो कुछ लेते हैं अपने बाहु-बल से लेते हैं। प्राचीन काल में भंडारी कुबेर ने प्रसन्न होकर राजर्षि मुचुकुन्द को पृथ्वी दे न दी थी। परन्तु मुचुकुन्द अपने भुजबल से राज्य प्राप्त करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने वह दान लेना मंजूर नहीं किया। राजधर्म और राजर्षि धर्म यही है। आज उसी राज-

धर्म को भुलाकर युधिष्ठिर भिखारियों के वेष में ब्राह्मणों की भाँति हाथ पसार कर राज्य माँगने के लिए तैयार हुआ है। वह क्षत्रिय है और भिक्षा-वृत्ति क्षत्रियों का धर्म नहीं है। प्रजा का पालन करना और विपत्ति में पड़े हुए लोगों की रक्षा करना ही उसका धर्म है। उसे अपने बाहुबल से अपना निर्वाह करना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि उसके बाप दादाओं ने किस प्रकार राज-धर्म का पालन किया है। तुम उससे जाकर कह दो कि वह जिस धर्म को आधार बनाना चाहता है वह राजर्षियों का धर्म नहीं है। जो लोग दुर्बल और बहुत अधिक दयालु हुआ करते हैं वे राजधर्म का पालन करने और प्रजा की रक्षा करने के योग्य नहीं होते। वह ऐसा आचरण करने के लिए तैयार हुआ है जिसके लिए मैं, पाण्डुराज की आत्मा, पितामह भीष्म या और कोई कभी सलाह नहीं दे सकते। उसे कोई इस प्रकार का आशीर्वाद नहीं देता कि 'जाओ, सन्धि-कार्य में तुम्हें सफलता हो।' केशव! तुम जाकर युधिष्ठिर से कह देना कि तुम्हें राज-धर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए, जिससे तुम्हारे बाप-दादा का नाम न डूबे और तुम्हें धर्मभ्रष्ट होने के कारण अपने भाइयों के साथ नरक-गामी न होना पड़े। हे कृष्ण! तुम भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव से भी कह देना कि तुम लोग क्षात्र-धर्म को भूल न जाओ। तुम लोग यह बात स्मरण रक्खो कि तुम्हारे जैसे चार पुत्रों की माता होनेपर भी मैं इस समय पराधीन होकर जीवन बिता रही हूँ। वीर पति की सहधर्मिणी होकर भी द्रौपदी एक छोटी स्त्री की भाँति कौरवों की सभा में अपमानित हुई है। यह कलंक योंही नहीं भूल जाना चाहिए। मैं द्रौपदी को अच्छी तरह जानती हूँ। उसे

वीरत्व का अभिमान है। वह पाण्डवों को अवश्य ही युद्ध के लिए उत्तेजित करेगी। हे केशव ! मेरे पुत्रों से तुम यह भी कह देना कि वे द्रौपदी के परामर्श के अनुसार जरूर कार्य करें। कह देना कि क्षत्राणी जिसलिए गर्भ धारण किया करती है उस काम का समय अब आ पहुँचा है। क्षत्राणी के गर्भ से लिये जन्म को सफल करके दिखलाना चाहिए। वे इसके विपरीत आचरण कभी न करें। यदि वे इसके विपरीत आचरण करेंगे तो अपने इस छोटे कर्म के कारण सारे संसार में सदा के लिए तिरस्कार और निन्दा के पात्र होजायँगे। मैं भी फिर सदा के लिए उन लोगों का परित्याग कर दूँगी। क्षत्रिय जननी तेजोहीन पुत्र को कभी अपना पुत्र ही नहीं गिनती। यदि आवश्यकता हो तो धर्म की रक्षा के लिए समर भूमि में अपनेप्राण तक अर्पित कर देना चाहिए। क्षत्रिय-कुल का पालन करने के लिए मेरे पुत्रों को अपने प्राण देने में कभी आगा-पीछा नहीं करना चाहिए।"

इतना सब कुछ कह चुकने पर कुन्ती ने अपने पुत्रों का उत्साह बढ़ाने के लिए श्रीकृष्ण को संजय और विदुला का इतिहास कह सुनाया। आदि से अन्त तक विदुला की उत्साह-वर्धक बातें सुनाकर अन्त में कुन्ती ने कहा "केशव! दुर्बल-चित्त और शोक-ग्रस्त युधिष्ठिर को यह सारा उत्साहवर्धक वृत्तान्त सुना देना। जिस प्रकार संजय ने माता की बातों से उत्साहित होकर शत्रुओं को पराजित किया था उसी प्रकार मेरे पुत्रों को भी उचित है कि मेरे उपदेश से उत्साहित होकर कौरवों के साथ युद्ध करें और अपने राज्य का उद्धार करके अपने शत्रुओं का नाश करें। बस, यही मेरी सबसे बड़ी इच्छा है।"

कुन्ती की इस तेजस्विता से श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और उसकी यथेष्ट प्रशंसा करके वह युधिष्ठिर के पास गये। उनके द्वारा सब बातें विस्तारपूर्वक सुनकर और अपनी माता कुन्ती का अभिप्राय जानकर पाण्डव युद्ध के लिए तैयार होगये। तुरन्त कुरुक्षेत्र में महायुद्ध करने की तैयारियाँ होने लगीं।

इस भयंकर युद्ध में जन्मान्ध धृतराष्ट्र, पाँचों पाण्डवों और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ में के एक बालक के सिवा पाण्डव और कौरवों के वंश के और सभी लोग मारे गये। भारतवर्ष और उसके आस-पास के अनेक देशों के राजा इस युद्ध में सम्मिलित होकर मरे थे। ऐसे भयानक युद्ध में इस प्रकार का रोमांचकारी हत्याकाण्ड मचा-कर विजय प्राप्त करने से पाण्डवों को भी कोई प्रसन्नता नहीं हुई। कुन्ती के मन में भी एक प्रकार का वैराग्य उत्पन्न होगया। कुन्ती ने ही अपने पुत्रों को युद्ध करने के लिए इस प्रकार उत्तेजित किया था। पर इस युद्ध में भारत के वीरकुल का ऐसा भीषण नाश देखकर उसी कुन्ती के मन में बहुत अधिक शोक उत्पन्न हुआ। पुत्रों की विजय से प्रसन्न होने के बदले उसने पुत्र शोका-तुर धृतराष्ट्र और हतभागिनी कौरव-जननी गान्धारी को सान्त्वना देने और उनकी हर प्रकार से सेवा करने को ही अपने जीवन का एकमात्र व्रत बना लिया।

थोड़े दिनों बाद धृतराष्ट्र ने गान्धारी के साथ वन में जाने का विचार किया। कुन्ती ने भी अपने पुत्रों और राजवैभव का परित्याग करके अपने जेठ और जेठानी की सेवा करने के विचार से उनके साथ वन में जाने का निश्चय किया।

युधिष्ठिर ने कुन्ती से घर पर ही रहने के लिए बहुत आग्रह किया। परन्तु कुन्ती ने कहा—"बेटा, अब इस संसार के प्रति मेरा कोई मोह नहीं रह गया। वीरकुल का यह भीषण नाश देखकर मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ है। अब तो मेरी यही इच्छा है कि मैं अपना शेष जीवन जंगल में रहकर तपस्या और धृतराष्ट्र तथा गान्धारी की सेवा करने में ही बिताऊँ। तुम्हें इसके लिए दुःखी न होना चाहिए। बेटा, आज से कुरुवंश का सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम कभी किसी बात से ज़रा भी न घबराना और सदा अपने कर्त्तव्य का ठीक तरह से पालन करते जाना। द्रौपदी को कभी किसी प्रकार का दुःख न देना या उसका अपमान न करना। भाइयों को सदा अपने ही समान समझना और उनकी रक्षा करना।"

युधिष्ठिर ने माता कुन्ती को बहुतेरा समझाया, पर उन्हें उनके निश्चय से किसी प्रकार हटा न सके। अन्त में युधिष्ठिर ने गद्‌गद् स्वर से कहा "माता ! जब तुम्हारे लिए अपने पुत्रों का राज-वैभव भोगने और उन्हें राज-धर्म की शिक्षा देने का समय आया तब तुम्हारा विचार इस प्रकार कैसे बदल गया ? हम लोगों ने युद्ध में विजय प्राप्त करके इतना बड़ा राज-पाट प्राप्त किया है; अब हम लोग सुखी तथा गौरवान्वित हुए हैं; ऐसे समय में तुम हम लोगों को त्याग कर चली जा रही हो ! यदि तुम्हें यही करना था, तो फिर तुमने हम लोगों को युद्ध के लिए इतना उत्तेजित ही क्यों किया था ?"

कुन्ती ने कहा—"बेटा, तुम्हारे शत्रुओं के षड्यन्त्र और दुर्व्यवहार से मुझे बहुत अधिक अपमान सहना पड़ता था, उसी अपमान-

जनित दुःख को दूर करने के लिए मैंने तुम्हें युद्ध के लिए उत्तेजित किया था। कौरवों की सभा में पाण्डवों की वधू द्रौपदी का जो भारी अपमान हुआ था उसी अपमान का बदला चुकाने के लिए मैंने तुम्हें युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया था। मैंने तुम्हें इसी-लिए युद्ध करने की प्रेरणा की थी कि जिसमें तुम महाराज पाण्डु के पुत्र होकर संसार में कंगाल बनकर न रहो, विनष्ट और निन्द-नीय न गिने जाओ। इन्द्र के समान बलवान होकर भी शत्रुओं के वश में होकर न रहो। वीरकुल में उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष होकर दुःख में जीवन न बिताओ। मैंने तुम लोगों को इस विचार से युद्ध के लिए प्रेरित नहीं किया था कि मैं स्वयं राज-सुख भोगूँ और भोग-विलास करूँ। केवल तुम्हारे भले के लिए ही उस समय तुम्हें वह उपदेश दिया था। अब मेरी वह इच्छा पूरी हो गई है। आज मैं तुम्हारे गौरव से गौरवान्वित हो गई हूँ। अब मुझे इस संसार में और किसी बात की आकांक्षा नहीं रह गई है। अब मैं वनवासी शोकार्त्त महाराज धृतराष्ट्र और देवी गान्धारी की सेवा करके जंगल में तपश्चर्यापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करूँगी। बस, यही मेरी कामना है। अब तुम मुझे मत रोको। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम परम-सुखपूर्वक राज्य का भोग करो। धर्म में तुम्हारी बुद्धि बढ़ती जाय और तुम्हारा मन उदार हो।"

इस प्रकार अपने प्रिय पुत्रों के बहुत नम्रतापूर्वक प्रार्थना करने पर भी कुन्ती ने अपना संकल्प नहीं छोड़ा और शान्त चित्त से धृतराष्ट्र व गान्धारी के साथ वन को चली गई।

३

पाण्डु-पत्नी

माद्री

यह मद्रदेश के राजा की कन्या और भारताधिपति महाराज पाण्डु की द्वितीय पत्नी थीं। यह बहुत रूपवती और परम सती थीं। पाण्डुराज की मृत्यु होने पर अपने दोनों पुत्रों को अपनी सौत कुन्ती के सुपुर्द करके वह अपने पति के साथ सती हो गई थीं। महाराज पाण्डु ने पृथ्वी विजय करके बहुत-कुछ धन और साम्राज्य प्राप्त किया था परन्तु अन्त में राज्य के प्रति उनके मन में कोई अनुराग न रह गया था, इसलिए वह अपनी धन-सम्पत्ति भीष्म पितामह को सौंपकर माद्री और कुन्ती के साथ बनवासी हुए थे और हिमालय के पास के प्रदेश में निवास किया करते थे। इस बनवास के समय में कुन्ती की अपेक्षा माद्री अपने पति की बहुत अधिक सेवा किया करती थीं; अतएव वह पति को बहुत अधिक प्रिय हो गई थीं। ये दोनों सपत्नियाँ मुनि-पत्नियों की भाँति हिमालय के दक्षिण भाग में तपश्चर्या करती हुई अपना जीवन व्यतीत किया करती थीं। एकबार महाराज पाण्डु जंगल में शिकार करने के लिए गये थे, वहाँ उन्होंने एक ऐसे मृग को मार डाला जो उस समय अपनी मृगी के साथ सम्भोग कर रहा था। इसपर मृग-रूप-धारी महामुनि किनिंग ने मरते-मरते उन्हें शाप दिया कि "जिस प्रकार तुमने स्त्री और पुरुष के साथ घातकी

व्यवहार किया है उसी प्रकार तुम्हारी भी उस समय मृत्यु होगी जब कि तुम कामातुर होकर अपनी प्रिया के साथ संभोग कर रहे होगे। जिस प्रकार तुमने सुख के समय दुःख पहुँचाया है उसी प्रकार तुम्हें भी सुख का अनुभव करते समय ही दुःखी होना पड़ेगा।"

इसपर राजा पाण्डु ने बहुत अधिक शोक और विलाप किया और वह संसार से विरक्त होगये। अब वह मुनियों की भाँति आत्म-संयम-पूर्वक तपस्या में प्रवृत्त हुए। उसी समय उन्होंने अपनी स्त्रियों से हस्तिनापुर जाने के लिए आग्रह किया। पर स्त्रियों ने नहीं माना और उन्होंने भी अपने स्वामी के साथ वान-प्रस्थ-आश्रम ग्रहण किया। उन्होंने अपने स्वामी को धैर्य दिलाते हुए कहा—"हे भरतर्षभ! आपको ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। वह ऐसा आश्रम है, जिसका अवलम्बन करके आप हम लोगों को अपने साथ रखकर भी तपस्या कर सकते हैं और शरीर का दमन करते हुए अन्त में स्वर्गलोक के स्वामी बन सकते हैं। हम दोनों भी स्वामी-परायण होकर इन्द्रियों का दमन करके और कामनाओं तथा सुख का त्याग करके यथेष्ट तपस्या करेंगी। हे महाज्ञानी, आप यदि हम लोगों का त्याग करेंगे तो हम यों ही मर जायँगी।" तब महाराज पाण्डु ने कहा—"अच्छा, आज से हम केवल कन्द-मूल खाया करेंगे और कठिन तपस्या किया करेंगे।" इतना कहकर उन्होंने अपने राजसी वस्त्र उतारकर रख दिये और नौकर-चाकरों को विदा कर दिया। उस समय माद्री और कुन्ती ने भी अपने-अपने गले से हीरे के हार तथा जड़ाऊ गहने और बहुमूल्य वस्त्र आदि उतारकर गरीबों को दान कर दिये। पाण्डु-

राज केवल फलाहार करके रहने लगे और अपनी पत्नियों के साथ हिमालय के उसपार गन्धमादन वन में जा पहुँचे। इसके उपरान्त वे वहाँ से और भी आगे बढ़े और इन्द्रद्युम्न सरोवर तथा हंसकूट को पार करके शतशृङ्ग नामक पर्वत पर घोर तपस्या करने लगे।

वीर्यवान पाण्डुराज परमोत्तम तपस्या में निमग्न होकर गुरुजनों की सेवा करने लगे और इंद्रियों का संयम करते हुए अहङ्कार से शून्य और जितेन्द्रिय होकर स्वर्ग में जाने के लिए पुण्यरूपी सामग्री संचित करने लगे। वन के ऋषि भी उनको अपने भाई के समान समझने और उनके साथ प्रेम करने लगे। वे ऋषि ब्रह्मलोक को जा रहे थे। महाराज पाण्डु ने भी उनके साथ जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु ऋषियों ने कहा, "तुममें पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति है। इसलिए तुम पुत्र उत्पन्न करो। हे नर-व्याघ्र! तुम कार्य द्वारा देवताओं का उद्देश्य सिद्ध करो। तुम्हारे यहाँ अवश्य सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र उत्पन्न होंगे। तुम्हारी तपस्या का फल अब पक चला है।"

तपस्वियों का यह परामर्श मानकर राजा ने उनके साथ जाने का विचार छोड़ दिया। पर जब उन्हें यह याद आया कि ऋषि के शाप के कारण मैं स्वयं पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ हूँ, तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। बहुत-कुछ सोच-विचार करने के उपरान्त अन्त में उन्होंने नियोग-प्रथा की शरण ली और कुन्ती के गर्भ से धर्म के द्वारा युधिष्ठिर, पवन के द्वारा भीमसेन और इन्द्र के द्वारा अर्जुन नामक तीन पुत्र उत्पन्न कराये।

महाराज पाण्डु का माद्री पर बहुत अधिक प्रेम था, पर माद्री के कोई सन्तान नहीं हुई थी, इसलिए वह मन में बहुत दुःखी और

चिन्तित होने लगी। एक दिन उसने अपने मन की यह बात अपने पति के सामने इस प्रकार कही—"प्राणनाथ! आपके लिए हम दोनों ही बराबर हैं। परन्तु, कुन्ती के पुत्र हुए और मुझे कोई सन्तान नहीं हुई, इससे मुझे बहुत अधिक दुःख हो रहा है। यदि कुन्ती मुझे सन्तान उत्पन्न करने की युक्ति बतला दे तो मैं उसका बहुत अधिक उपकार मानूँगी। कुन्ती मेरी सौत है, इसलिए उस-से किसी बात की प्रार्थना करने में मुझे संकोच होता है। अब आप कृपाकर मेरी ओर से उससे यह बात कहिए।"

महाराज पाण्डु को माद्री की यह इच्छा सर्वथा उचित और समीचीन जान पड़ी और उन्होंने कुन्ती को समझा दिया कि तुम माद्री को सन्तान उत्पन्न करने की विद्या सिखला दो और इस प्रकार उसे वन्ध्यापन की चिन्ता से मुक्त करो। उदारमना कुन्ती ने देवताओं को बुलाने का मन्त्र माद्री को सिखला दिया और माद्री ने उस मन्त्र के द्वारा अश्विनीकुमारों का आवाहन करके नकुल और सहदेव नाम के दो पुत्रों को जन्म दिया। उस समय आकाशवाणी हुई कि ये दोनों सत्त्वगुणी बालक अश्विनीकुमारों से भी बढ़कर होंगे।

इसके उपरान्त पाण्डुराज पर्वत पर महानन्द-वन में समय बिताने लगे। इसी बीच में संसार को मुग्ध करनेवाली वसन्तऋतु आई और अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से भरे हुए वृक्षों के जंगल में पाण्डुराज अपनी स्त्री के साथ घूमने लगे। चारों ओर पलास, आम, चम्पा, पारिजात, कनेर, केसर, अशोक आदि वृक्ष और अनेक प्रकार के फलों तथा फूलों के वृक्ष लगे हुए थे, जिनके कारण सारे वन में सुगन्ध फैल रही थी और उन फूलों का रस

चूमने के लिए भौंरे चारों ओर गूँज रहे थे। जलाशयों में कमलों की शोभा का कहीं अन्त न था। हृदय में उन्माद उत्पन्न करने-वाले ऐसे वन को देखते ही महाराज पाण्डु के हृदय में काम का संचार हुआ। दैवयोग से माद्री भी सफेद साड़ी पहने हुए प्रफुल्ल अन्तःकरण से राजा के पीछे-पीछे जारही थीं। माद्री को महीन वस्त्र पहने हुए और यौवन में मस्त देखकर राजा के मन में कामाग्नि एकबारगी जोरों के साथ जल उठी। उस निर्जन-स्थान में अपनी कमल-नयनी पत्नी को देखते ही वह काम के वशीभूत होगये और अपने मन को बहुत-कुछ समझाने पर भी काम के आवेग को रोक न सके। उन्होंने माद्री को जोर से पकड़ लिया। माद्री ने जहाँतक हो सका राजा को समझाया और रोकने के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर राजा उस समय इतने अधिक कामान्ध होगये थे कि जब उन्हें मुनि के दिये शाप के भय का स्मरण दिलाया गया तबभी उन्होंने उसकी कोई परवा नहीं की। काम के वशीभूत होकर पाण्डु ने शाप का भय मन से बिलकुल निकाल दिया और बलपूर्वक माद्री के साथ सम्भोग करने लगे। बस उसी अवस्था में ऋषि के शाप के अनुसार उनकी मृत्यु होगई।

राजा के मृत शरीर को छाती से लगाकर माद्री जोर से रोने-चिल्लाने लगी। उसी समय कुन्ती अपने पुत्रों के साथ उस ओर से कहीं जारही थीं। माद्री ने उससे कहा, "पुत्रों को छोड़-कर जरा यहाँ आओ।" राजा की यह दशा देखकर कुन्ती रोती हुई कहने लगी—"माद्री, मैं इन जितेन्द्रिय वीर को सदा काम-चेष्टा से बचाया करती थी। माद्री! तुम्हारा कर्तव्य था कि तुम राजा को इस काम से रोकतीं। भला, तुम ऐसी वसन्त ऋतु में एकान्त

में इनके पास क्यों गई ? तुमने किसलिए इनको ऐसे काम के लिए प्रलोभन दिया ?" माद्री ने कहा—"जीजी, मैं तो इन्हें बारबार रोकती थी। परन्तु दुर्दैव के आगे किसीकी कुछ नहीं चलती। राजा को मैंने बहुत समझाया, परन्तु यह अपने काम को रोक न सके।" इसके उपरान्त कुन्ती ने कहा—"मैं बड़ी पत्नी हूँ, इसलिए बड़ा फल भी मुझको ही मिलना चाहिए; मैं पतिदेव के साथ चिता में जल सकूँगी। तुम यहीं रहकर इन बालकों की रक्षा करना।" माद्री ने कहा—"मैंने पतिदेव को पकड़ रक्खा है। मैं इसी प्रकार इनके साथ चली जाऊँगी, क्योंकि मेरी कामना अभीतक तृप्त नहीं हुई है। तुम बड़ी हो, इसलिए तुम मुझे ऐसा करने की आज्ञा दो। यह भरतकुल के दीपक राजा मेरे साथ विलास करते-करते खतम हुए हैं, इसलिए मैं ही इनके साथ यमराज के यहाँ जाकर इन्हें तृप्त करूँगी। यदि मैं जीती भी रही तो मैं देखती हूँ कि मैं पुत्रों का तुमसे अच्छी तरह लालन-पालन न कर सकूँगी, जिससे मैं फिर पाप की भागिनी होऊँगी। इसलिए हे कुन्ती ! तुम्हीं मेरे दोनों पुत्रों का भी अपने ही पुत्रों की भाँति लालन-पालन करना। ये राजा मुझपर ही मोहित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, इसलिए मैं ही इस शरीर के साथ अपना शरीर भी अग्नि में जला दूँगी। मेरी यह अभिलाषा तुम पूरी होने दो और मुझे इस काम से मत रोको।"

इतना कहकर पाण्डु राजा की धर्मपत्नी माद्री अपने पति के साथ सती होगई और अक्षय-कीर्त्ति की अधिकारिणी हुई। मुनि लोग कुन्ती तथा उसके पुत्रों को हस्तिनापुर छोड़ आये।

४

पाण्डव-पत्नी

द्रौपदी

द्रौपदी पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद की कन्या थी। अपने पिता के नाम के कारण ही द्रौपदी कहलाती थी। इसका वास्तविक नाम कृष्णा था। यह श्याम वर्ण की थी, इसलिए पिता ने इसका नाम कृष्णा रक्खा था। गौर वर्ण न होने पर भी कुछ स्त्रियाँ बहुत अधिक सुन्दर हुआ करती हैं। कृष्णा इस बात का एक स्पष्ट दृष्टान्त है।

द्रौपदी बड़ी तेजस्वी क्षत्राणी थी। हीनता, अन्याय, अविचार और अत्याचार वह कभी सहन नहीं कर सकती थी। जो कोई इस प्रकार की बातें सहन करता उसे वह मनुष्यत्व-हीन समझती थी। इस प्रकार की हीनता के लिए वह अपने पिता, भाई, स्वामी या दूसरे गुरुजनों को भी क्षमा नहीं करती थी। वह जब कभी न्याय की रक्षा और अन्याय के दमन में किसी प्रकार की तेजोहीनता देखती, तो बड़ों को भी कठोर वाक्य कहने में सङ्कोच नहीं करती थी। परन्तु उसके चरित्र में किसी प्रकार के अहंकार, दम्भ या निष्ठुरता का लेश भी नहीं था।

बल-गर्वित शत्रु का दमन करने के लिए वह अग्नि का रूप धारण कर लिया करती थी। पर जब वह शत्रु पराजित होकर उसकी शरण में आता तब उसे निर्मल चित्त से क्षमा भी कर देती

थी। वह स्नेहमयी माता के समान अपने आश्रितों और दुर्बलों की रक्षा करती थी। पाण्डवों के राजगृह की गृहिणी होने पर भी आश्रितों की सेवा-शुश्रूषा दासियों के समान किया करती थी। अपनी सपत्नियों से सगी बहन के समान स्नेह रखती और उनके पुत्रों का अपने पुत्रों के समान पालन करती थी। जितनी ही तीक्ष्ण बुद्धिवाली थी, उतनी ही अपने समय की धर्मनीति, राजनीति आदि विषयों में भी प्रवीण थी। एक अवसर पर इसने कहा था कि जिस समय पण्डित लोग मेरे भाइयों को अनेक प्रकार के नीतिशास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे, उस समय मैं भी पिताजी के पास बैठकर ध्यानपूर्वक उन सबकी बातचीत सुनकर शिक्षा प्राप्त किया करती थी।

इस सर्वगुण-सम्पन्न आर्य महिला का जीवन-चरित्र महत्वपूर्ण बातों से परिपूर्ण है।

राजा द्रुपद की यही इच्छा थी कि प्रसिद्ध धनुर्विद अर्जुन के साथ इसका विवाह किया जाय। परन्तु जिस समय द्रौपदी विवाह-योग्य हुई, उस समय लाक्षागृह में आग लग जाने के कारण पाण्डव लोग गुप्तवेश में कहीं छिपे हुए थे। इसलिए द्रुपद ने बहुत ही कठिन लक्ष्यवेध की प्रतिज्ञा करके द्रौपदी के स्वयंवर की घोषणा की। भारत के भिन्न-भिन्न देशों के राजा लोग परमसुन्दरी द्रौपदी को प्राप्त करने की आशा से उस स्वयंवर-सभा में पहुँचे।

पाण्डव उस समय एकचक्रा नगर में ब्राह्मण के वेश में रहा करते थे और भिक्षा माँगकर किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। एक दिन महर्षि वेदव्यास उन लोगों के पास पहुँचे। उन्होंने

पाण्डवों को आशीर्वाद देकर कहा—"याज्ञसेनी द्रौपदी अब विवाह के योग्य हो गई है और उसके लिए स्वयंवर रचा गया है। कहीं ऐसा न हो कि ऐसी अपूर्व सौंदर्यमयी और लक्ष्मी-रूप कन्या किसी अयोग्य वर के हाथ में जा पड़े। इसी आशंका से राजा द्रुपद ने यह प्रतिज्ञा की है कि जो कोई स्वयंवर में मत्स्यवेध करेगा उसी-के साथ इस कन्या का विवाह किया जायगा। अतः तुम लोग तुरन्त पाञ्चाल देश में जाओ और वहाँ द्रौपदी के स्वयंवर में भाग लो। अर्जुन के हाथों मत्स्य-वेध कराके तुम कृष्णा को प्राप्त करो। मैं तुम लोगों को आशीर्वाद देता हूँ कि तुम लोगों का यह प्रयत्न सफल होगा।"

स्वयं वेदव्यासजी के मुँह से द्रौपदी का पूरा वृत्तान्त सुनकर पाण्डवों के मन में भी द्रौपदी को प्राप्त करने की इच्छा हुई। व्यासदेव के चले जाने के उपरान्त पाण्डवों ने अपनी माता कुन्ती को साथ लेकर पाञ्चाल देश की ओर प्रस्थान किया। उस समय अर्जुन के आनन्द का पार न था। उसने मन-ही-मन श्रीकृष्ण को स्मरण करके भक्तिपूर्वक गद्‌गद् चित्त से अपने मन की इच्छा प्रकट की और उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे यशस्वी करें।

रास्ते में प्रयाग तीर्थ में अंगारपर्ण नामक एक गन्धर्व के साथ अर्जुन की लड़ाई हुई। उस लड़ाई में गन्धर्वराज अर्जुन से हार गया और उसे अर्जुन ने कैद कर लिया। इस यात्रा में गन्धर्व की स्त्री भी उसके साथ ही थी। वह अपने पति की यह दशा देखकर रोने और अर्जुन से क्षमा-प्रदान के लिए प्रार्थना करने लगी। तब युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन ने उस गन्धर्व को छोड़ दिया।

जब गन्धर्व के इस प्रकार प्राण बच गये तब उसने पाण्डवों

का बहुत उपकार माना। उसने मित्रता के चिन्ह-स्वरूप उन्हें बहुत-से घोड़े, रथ तथा अस्त्र-शस्त्र आदि देने की इच्छा प्रकट की।

पाण्डवों ने कुन्ती के साथ आनन्दपूर्वक गंगा-स्नान किया और सन्ध्या-बन्दन करके उत्कोच तीर्थ में गये। वहाँ उन लोगों ने धौम्य ऋषि को अपना पुरोहित बनाया और अपने सारे दुःख उन्हें कह सुनाये। धौम्य ऋषि ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वह भी उन लोगों के साथ पाञ्चाल देश को चलने के लिए तैयार होगये।

ये सब लोग बहुत जल्दी-जल्दी चलते हुए पाञ्चाल देश की राजधानी में जा पहुँचे। रास्ते में इन लोगों को बहुतसे राजा-महाराजा मिलते थे। वे सभी स्वयंवर में जा रहे थे। राजधानी में पहुँचने पर इन्होंने कृष्णा की बहुत प्रशंसा सुनी।

द्रौपदी में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जैसा उसका असाधारण रूप था वैसे ही उसमें असाधारण गुण भी थे। उसमें तेजस्विता और नम्रता, गर्व और विनय, कठोरता और मधुरता, गृहस्थ के कामों की कुशलता और बुद्धिमत्ता आदि परस्पर-विरोधी गुणों का एक अपूर्व समावेश था। उसके असाधारण रूप और गुणों से प्रसन्न होकर कुछ ऋषि-मुनियों ने उसके पिता से कहा था, "कृष्णा का पति होनेवाला पुरुष साधारण नहीं होगा। स्वयं नारायण अथवा उन्हींके समान किसी और नर-रत्न को छोड़कर दूसरा कोई इस रत्न को धारण न कर सकेगा।"

महाराज पाण्डु के साथ द्रुपद की मित्रता थी, परन्तु जब महाराज पाण्डु की मृत्यु हो गई तब द्रोणाचार्य ने द्रुपद से अपने अपमान का बदला लेने के लिए गुरु-दक्षिणा में अर्जुन को पाञ्चाल देश पर लड़ाई करने के लिए भेजा और राजा द्रुपद को पकड़वा मँगाया।

यद्यपि अर्जुन की अवस्था उस समय बहुत ही कम थी, तथापि उसने जो अद्भुत पराक्रम दिखलाया था उसके कारण राजा द्रुपद उसपर मुग्ध हो गया। उस समय तक द्रौपदी का जन्म नहीं हुआ था। परन्तु जब द्रौपदी का जन्म हुआ तब अर्जुन के उस पराक्रम का स्मरण करके द्रुपद की यह इच्छा हुई कि मैं अपनी कन्या का विवाह अपने स्वर्गीय मित्र के इसी पुत्र के साथ करूँ। इसी उद्देश्य से उसने कृष्णा को ऐसी शिक्षा दी जिससे वह अर्जुन सरीखे वीर की सहधर्मिणी होने के लिए उपयुक्त हो परन्तु इसी बीच में जब उसने सुना कि वारणावर्त्त के लाक्षागृह में सब पाण्डव जल मरे तब उसकी निराशा का ठिकाना न रहा। उसकी समझ में नहीं आता था कि अब मैं क्या करूँ और किस के साथ कृष्णा का विवाह करूँ? उसी समय उसने शास्त्रदर्शी और त्रिकालज्ञ मुनि की सहायता से कृष्णा के स्वयंवर में लक्ष्य-भेद कराने की योजना की थी। उसने सोचा था कि अर्जुन तो अब इस संसार में है ही नहीं, परन्तु फिर भी जो व्यक्ति इतना विकट लक्ष्यभेद कर सकेगा वह अवश्य ही बहुत बड़ा शस्त्र-विशारद और वीर होगा और ऐसा ही वीर पुरुष कृष्णा के लिए उपयुक्त वर भी होगा।

स्वयंवर-मण्डप की उत्तम रचना तथा अतिथियों के स्वागत-सत्कार आदि के प्रबन्ध में राजा द्रुपद ने अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रक्खी थी। अपनी धात्री तथा सखियों के साथ कृष्णा स्वयंवर में पहुँची। उस समय वह बहुत ही सुन्दर वस्त्र और आभूषण आदि पहने हुए थी। उसके हाथ में माला और चन्दन था। वह आते ही धृष्टद्युम्न के पास खड़ी होगई। उस

देखते ही सारी सभा स्तब्ध रह गई। सब लोग मुग्ध-चित्त से टक-टकी लगाकर सुन्दरी कृष्णा के मुख की ओर देखने लगे। कृष्णा का वह अलौकिक और अपूर्व रूप देखकर सब राजा उस-पर मोहित होगये। उनमें अच्छे-बुरे की परख करने की शक्ति न रही। इस स्त्री-रत्न को प्राप्त करने के लिए वे सब उतावले होने लगे। सभा में गड़बड़ी मच गई। यह दशा देखकर द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने ऊँचे स्वर से सब लोगों को सूचित किया कि "आप लोग इस प्रकार आकुल न हों। आप सब लोगों में से जो क्षत्रिय राजा सबसे अधिक वीर होगा और जो अपने बाहुबल से यह धनुष चढ़ाकर सामने की ओर देखता हुआ ऊपर के चक्र के छेद में से बाण पार करके मछली की आँख बेधेगा, वही मेरी बहन को वरण कर सकेगा। नीचे यह जो पानी का कुण्डा है, उसीमें लक्ष्य का प्रतिबिम्ब देखकर बाण चलाना पड़ेगा। जिसमें ऐसी शक्ति हो, वह इस प्रकार मत्स्यवेध करके द्रुपद-नन्दिनी को प्राप्त करे।"

धृष्टद्युम्न की यह बात सुनते ही सब राजा तथा राजकुमार आदि एक-दूसरे को धक्का दे-देकर अपनी धनुर्विद्या की परीक्षा करने के लिए आगे आने लगे। पहले जरासन्ध आया, पर धनुष की डोरी तक न चढ़ा सका। अन्त में निराश होकर वह पीछे हट गया। इसके उपरान्त विराटराज, कीचक, सुशर्मा, शिशुपालादि अनेक प्रसिद्ध राजाओं ने मत्स्यवेध करने का प्रयत्न किया; पर सबका प्रयत्न निष्फल हुआ। अनेक क्षत्रियों को इस प्रकार विफल होते देखकर भीष्म से न रहा गया। उन्होंने जोर से चिल्लाकर कहा—"क्षत्रियों की इतनी बड़ी सभा के लिए यह बहुत ही लज्जा की बात है कि इतने लोगों में से कोई ऐसा शक्तिमान नहीं निकला जो

यह धनुष चढ़ाकर मत्स्यवेध कर सके। मैं आप लोगों का यह कलंक दूर करूँगा। परन्तु आप सब लोग जानते हैं कि मैंने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए मैं इस कन्या को ग्रहण न कर सकूँगा। यदि मैं मत्स्यवेध कर दूँगा तो मेरे पौत्र दुर्योधन के साथ कृष्णा का विवाह करना होगा।"

इतना कहकर भीष्म पितामह आगे आये, परन्तु अपने सामने ही शिखण्डी को देख वह स्तब्ध होकर खड़े होगये। सामने नपुंसक का आना बहुत बड़ा अपशकुन था, इसलिए उन्होंने धनुष हाथ से रख दिया और फिर पीछे हटकर अपने स्थान पर जा बैठे।

धृष्टद्युम्न बार बार ललकारकर क्षत्रियों को लक्ष्यवेध करने के लिए आमंत्रित करने लगा, परन्तु किसीने उठने का साहस नहीं किया। जब धृष्टद्युम्न ने देखा कि कोई क्षत्रिय वीर इस काम के लिए आगे नहीं बढ़ता, तो उसने ऊँचे स्वर से पुकारकर कहा—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी भी जाति का पुरुष यदि मत्स्य को बेधेगा तो उसके साथ मेरी बहन का विवाह होगा।" इसके उत्तर में द्रोणाचार्य ने भी इस शर्त पर लक्ष्यवेध करने का प्रयत्न किया कि कृष्णा का विवाह दुर्योधन से होगा। पर उनका प्रयत्न भी निष्फल हुआ। उनके बाद अश्वत्थामा की भी वही दशा हुई। इसके उपरान्त अङ्ग देश का राजा कर्ण सामने आया। धनुर्विद्या में वह अर्जुन के समान ही था उसके हाथ से लक्ष्यवेध होना सम्भव था। परन्तु वह सूत जाति का था और द्रौपदी उसे वरण करना नहीं चाहती थी। इसलिए ज्योंही कर्ण ने लक्ष्यवेध करने के लिए धनुष की प्रत्यंचा बढ़ानी चाही, त्योंही द्रौपदी ने

भरी सभा में निर्भयतापूर्वक गरजकर कह दिया कि "मैं सूत-पुत्र को वरण नहीं करूँगी।"

राजा द्रुपद का तो यही प्रण था कि जो कोई लक्ष्यवेध कर सकेगा उसीके साथ मैं द्रौपदी का विवाह कर दूँगा। परन्तु द्रौपदी की यह साहसपूर्ण बात सुनकर सब राजा स्तब्ध हो गये। कर्ण अब क्या करता ? उसने लज्जित होकर धनुष-बाण रख दिया और अपने आसन पर जा बैठा।

अन्त में ब्राह्मण-सभा में से अर्जुन ने उठकर लोगों को सूचित किया कि मैं लक्ष्यवेध करूँगा। इसपर सब चौंक पड़े। पर अर्जुन ने किसीकी परवा नहीं की और तुरन्त लक्ष्यवेध कर दिया। द्रौपदी ने भी प्रसन्नतापूर्वक उस वीर ब्राह्मण युवक के गले में वरमाला पहना दी।

जो काम क्षत्रियों से नहीं हो सका, वही काम करके एक गरीब ब्राह्मण राज-कन्या द्रौपदी को वर ले गया, यह देखकर राजाओं को बहुत क्षोभ हुआ और वे यह बात सहन न कर सके। वे सब मिलकर अर्जुन पर टूट पड़े। पर भीम और अर्जुन ने अपने अतुल पराक्रम से सबको हरा दिया और द्रौपदी को लेकर अपनी माता कुन्ती के पास अपनी झोंपड़ी में जा पहुँचे।

घर के द्वार पर पहुँचकर पाण्डवों ने अपनी माता को आवाज देकर कहा—"माता! आज हम लोग एक रत्न लाये हैं।" माता ने द्रौपदी को बिना देखेही अन्दर से उत्तर दिया—'पाँचों भाई बाँटलो।'

माता की बात सुनकर सब लोग चौंक पड़े। युधिष्ठिर ने क्षुब्ध होकर कहा—"माँ ! यह तुम क्या कह बैठीं ? अर्जुन आज लक्ष्यभेद करके पाञ्चालराज की कुमारी कृष्णा को लाया है।"

अभीतक कुन्ती ने कृष्णा को नहीं देखा था। क्योंकि वह सब लोगों के पीछे बहुत ही विनयपूर्वक खड़ी हुई थी। युधिष्ठिर की बात सुनकर कुन्ती बहुत ही चिन्तित हुई। उसने सोचा कि आज अनर्थ होगया। इतने में पुत्रों और पुत्रवधू ने उसे प्रणाम किया। कुन्ती ने उन सब लोगों को आशीर्वाद दिया और बहुत ही दुःखित भाव से कहा, "हाय! तुम लोगों की बुद्धि क्यों मारी गई थी? यदि तुम लोग इस अमूल्य रत्न के सम्बन्ध में यह नहीं कहते कि इसे हम लोग भिक्षा में माँगकर लाये हैं, तो मैं यह क्यों कहती कि तुम सब लोग मिलकर इसे बाँट लो? अपने जीवनभर में मैं आजतक मिथ्या वचन नहीं बोली। पर क्या आज मेरा यह वचन मिथ्या हो जायगा? जब अचानक मेरे मुँह से यह बात निकल गई है, तो तुम लोग इस बात का विश्वास रक्खो कि मेरे हृदय-स्थित भगवान ने ही यह बात मुझसे कहलाई है। परन्तु आखिर अब इसका उपाय क्या हो?" इसके उपरान्त कुछ देर तक चुपचाप सोचकर उसने युधिष्ठिर से कहा—"बेटा! तुम धर्म-पुत्र हो, धर्म-वीर हो, सब वेद-विद्याओं के जाननेवाले हो। अब तुम्हीं कोई ऐसा उपाय ढूँढ निकालो, जिसमें मेरा यह क्षोभ दूर हो। तुम कोई ऐसा रास्ता बतलाओ जिसमें मेरा यह वचन भी मिथ्या न होने पावे और धर्म की भी किसी प्रकार हानि न हो।"

माता के मन का यह क्षोभ देखकर युधिष्ठिर ने कहा, "माता, एक दिन महर्षि वेदव्यास ने हम लोगों को कृष्णा के पूर्वजन्म की कथा सुनाई थी। क्या तुमने वह कथा सुनी है? इसे पूर्वजन्म में जो शाप मिला था उसीके कारण आज तुम्हारे मुँह से यह वचन

निकला है, जो कदापि मिथ्या न हो।" और उधर अपने भाई की इच्छा जानने के लिए उन्होंने अर्जुन से कहा, "हे अर्जुन ! स्वयंवर-मंडप में तुम्हीं ने अद्भुत कौशल से लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया है। इसके ऊपर तुम्हारा ही अधिकार है। चलो हम लोग धौम्य पुरोहित को बुलाकर विवाह की तैयारी करें।"

अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—"भैया ! आपका इस प्रकार बातें करना ठीक नहीं है। यदि मैं द्रौपदी के साथ विवाह करूँगा तो मैं धर्मशास्त्र के अनुसार भी निन्दित होऊँगा और संसार भी मेरी निन्दा करेगा। आप बड़े हैं। पहले आपका विवाह होना चाहिए। आपके उपरान्त भैया भीम का और तब मेरा विवाह होना चाहिए।"

अर्जुन की यह बात सुनकर युधिष्ठिर को बहुत अधिक आनन्द हुआ। उसी दिन से कृष्णा ने घर का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और एक कुशल गृहिणी की भाँति वह सब लोगों की परिचर्या करने लगी। उसके आजाने से इन सब लोगों को दरिद्रता और पराये घर में रहने का दुःख कुछ मालूम ही न होता था। घर-गृहस्थी की व्यवस्था तथा भोजन आदि बनाने में कोई कृष्णा की बराबरी नहीं कर सकता था। उसके हाथ के बने हुए भोजन में अमृत का-सा स्वाद आता था। पाण्डवों को तो उसी दिन से यह जान पड़ने लगा मानों लक्ष्मी और अन्नपूर्णा दोनों साथ मिलकर कृष्णा के रूप में हमारी झोंपड़ी में आ विराजी हैं।

भोजन करने के उपरान्त जब पाँचों भाई सो जाते तब द्रौपदी भी उन सब लोगों के पैरों के पास सो जाती।

अपने स्वामी के वीरत्व पर मुग्ध वीरांगना द्रौपदी को इस

दरिद्रावस्था में भी राजवैभव से बढ़कर आनन्द मालूम होता था।

ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन के पराक्रम से राजा द्रुपद बहुत अधिक प्रसन्न हुआ था। परन्तु उसे यह नहीं मालूम हुआ कि यह कौन है ? इसलिए उसका ठीक ठीक पता लगाने के विचार से उसने एक ब्राह्मण को उन लोगों के पीछे-पीछे भेजा। पाण्डवों ने उस ब्राह्मण का बहुत अधिक आदर-सत्कार किया। पर जब उन्होंने यह सुना कि राजा द्रुपद हम लोगों का परिचय जानना चाहते हैं, तब युधिष्ठिर ने कुछ हँसते हुए कहा कि "हमारे परिचय की क्या आवश्यकता है ? लक्ष्यभेद के समय तो राजा ने यही प्रतिज्ञा की थी कि हम जात-पाँत की कोई परवा नहीं करेंगे और जो कोई लक्ष्यभेद करेगा उसीके साथ कृष्णा का विवाह किया जायगा। मेरा भाई इस परीक्षा में पूरा उतरा और वह कृष्णा को घर लाया। अब जात-पाँत पूछने से क्या लाभ ? आप राजा से जाकर कहदें कि अब इन सब बातों की चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं है। ऐसा कठिन लक्ष्यभेद करना किसी ऐसे-वैसे आदमी का काम नहीं है।" ब्राह्मण ने जाकर ज्यों-की त्यों सब बातें राजा से कहदीं। दूसरे दिन राजा ने बड़े समारोह के साथ पाण्डवों को अपने राजमहल में बुलवाया। वहाँ जब उसने युधिष्ठिर के मुँह से उनका वास्तविक परिचय सुना, तब उसके आनन्द का ठिकाना न रहा। परन्तु जब धर्मराज ने यह बताया कि कृष्णा का विवाह हम पाँचों भाइयों से होगा, तब राजा को बहुत अधिक आश्चर्य और दुःख हुआ। अन्त में वेदव्यास तथा दूसरे अनेक ऋषियों ने आकर राजा का अच्छी तरह समाधान किया, तब राजा द्रुपद ने पाँचों पाण्डवों के साथ कृष्णा का विवाह किया। क्षत्रियों में

इस प्रकार का यह पहला ही विवाह था, जो बिलकुल अपवाद-रूप था। सभी लोग धर्म की रक्षा करना चाहते थे, इसलिए यह व्यवस्था कर दी गई कि जिस समय एक पाण्डव द्रौपदी के घर में हो उस समय और कोई पाण्डव उस घर में प्रवेश न कर सके और यदि कोई पाण्डव इस नियम का उल्लंघन करे तो उसे तीन वर्ष तक वनवास भोगना पड़े।

विवाह हो जाने के उपरान्त पाण्डवों के गुप्तवास की बात प्रकट हो गई। धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को बुलाकर राज्य का आधा भाग उन्हें दे दिया। अब इन्द्रप्रस्थ नगर को अपनी राजधानी बनाकर युधिष्ठिर राज्य करने लगे।

एक दिन युधिष्ठिर के पास द्रौपदी थी, इतने में किसी काम से अर्जुन वहाँ जा पहुँचे। नियम का भंग करने के कारण अर्जुन को तीन वर्ष तक वन में जाकर रहना पड़ा। उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ विवाह किया। जब तीन बरस बीत गये तब सुभद्रा को साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये। सुभद्रा ने द्रौपदी के पास पहुँचकर और उसे प्रणाम करके कहा, "आज से मैं आपकी दासी हूँ।" द्रौपदी ने भी सुभद्रा को स्नेहपूर्वक गले लगा लिया और प्रसन्नतापूर्वक कहा—"तुम्हारा स्वामी निःसपत्न हो, अर्थात् वह तुम्हारे सिवा और किसी स्त्री का स्वामी न हो।" सुभद्रा ने हँसते हुए द्रौपदी की ओर देखकर 'तथास्तु' कहा। तबसे जन्मभर सुभद्रा और द्रौपदी में इतना अधिक दृढ़ प्रेम रहा कि यह कोई नहीं कह सकता था कि ये दोनों सौतें हैं।

इसके थोड़े दिनों बाद कौरवों ने युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए हस्तिनापुर में बुलवाया। युधिष्ठिर यद्यपि परम-धर्मात्मा थे,

तथापि जुआ खेलने के समय वह अपने-आप तक को भूल जाया करते थे। दुर्योधन का मामा शकुनी पासा फेंकना बहुत अच्छा जानता था। उसे पासा फेंकने की तरकीबें भी बहुत-सी आती थीं। उसके दाव-पेंच के कारण युधिष्ठिर हार गये। धन, रत्न, राज्य, दास-दासी, जो-कुछ उनके पास था वह सब हार गये। यहाँतक कि वह एक-एक करके अपने चारों भाइयों को और अन्त में स्वयं अपने-आपको भी हार गये और कौरवों के दास बन गये। हारते-हारते युधिष्ठिर की मूर्खता यहाँतक बढ़ गई कि अन्त में द्रौपदी को भी दाव पर लगाया और उसे भी हार गये!

स्वामी की बुद्धि के दोष से द्रौपदी को भी दुष्ट कौरवों की दासी होना पड़ा। पापी दुर्योधन को द्रौपदी के साथ यथेष्ट दुर्व्यवहार करने का अधिकार मिल गया। क्रूर दुर्योधन पहले से ही पाण्डवों के साथ ईर्षा और द्वेष किया करता था। पाण्डवों का अपमान और अनिष्ट करने में ही उसे सबसे अधिक आनन्द आता था। केवल इसीलिए उस दुष्ट ने पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए अपने यहाँ बुलवाया था और इस प्रकार अपनी दुष्ट-वासना पूरी की थी। वीरश्रेष्ठ पाण्डव आज उसके जीते हुए दास थे। परन्तु इतने पर भी उसकी पाप-वासना पूरी नहीं हुई। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि जुए में जीती हुई द्रौपदी को राजसभा में बुलाकर सबके सामने उसका अपमान किया जाय, पाण्डवों पर लाञ्छन लगाया जाय और उनको व्यथित किया जाय।

पापिष्ठ दुर्योधन ने अपने चाचा विदुर को आज्ञा दी कि आप जाकर द्रौपदी को पकड़कर सभा में ले आवें। इसपर धर्मात्मा विदुर ने बहुत-कुछ क्रुद्ध होकर दुर्योधन को बहुत धमकाया और

उसकी इस आज्ञा की अवज्ञा की। तब दुर्योधन ने अपनी सभा के प्रतिकामी को यह काम करने के लिए भेजा।

प्राचीन काल में क्षत्रिय वीर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना अपना परम-कर्त्तव्य समझते थे। अपने इस धर्म-पालन के लिए वे मृत्यु तक का दारुण दुःख शान्तिपूर्वक सह लिया करते थे। इसीलिए पाण्डव लोग अपना प्रण पूरा करने के विचार से चुप-चाप यह असह्य अत्याचार सहन करने के लिए तैयार हुए। केवल इसीलिए महातेजस्वी वीरश्रेष्ठ भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि सभा में उपस्थित रहकर भी यह अत्याचार रोकने का प्रयत्न न कर सके। वे लोग जानते थे कि युधिष्ठिर जुए में द्रौपदी को हार चुके हैं, इसलिए द्रौपदी पर दुर्योधन का पूरा अधिकार है—वह उसके साथ जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता है। पुत्र स्नेह से दुर्बल और पुत्र-भय से भयभीत धृतराष्ट्र से भी इसके प्रतिकार की कोई आशा नहीं थी।

प्रतिकामी ने द्रौपदी के पास जाकर उसे सब बातें सुनाईं। सब-कुछ सुन चुकने पर अन्त में द्रौपदी ने बहुत ही विस्मित होकर कहा—"प्रतिकामी! क्या तू पागल हो गया है? भला, जुए में स्त्री को भी दाव पर कोई लगाया करता है? और यदि यह बात ठीक भी हो, तो यही समझना चाहिए कि युधिष्ठिर पागल हो गये हैं। क्या उनके पास दाव पर लगाने के लिए और कुछ नहीं था?"

प्रतिकामी ने फिर जुए की सब बातें विस्तार-पूर्वक कह सुनाईं। द्रौपदी सब बातें चुपचाप सुनती रही। दुर्बलचित्त स्त्रियों की तरह वह भयभीत या अस्थिर नहीं हुई; पर मन-ही-मन दुर्योधन के हाथ से अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने का उपाय सोचने लगी।

वह जानती थी कि जबतक मैं कोई युक्ति न निकालूँगी तब तक मेरे बचने का कोई उपाय नहीं है। बुद्धिमती द्रौपदी ने युधिष्ठिर के प्रण में एक बहुत बड़ी बारीकी ढूँढ निकाली। वह यह कि युधिष्ठिर ने पहले अपने-आपको दाव पर लगाया था या द्रौपदी को? यदि उन्होंने पहले अपने-आपको दाव पर लगाया हो और इस प्रकार वह हारकर दुर्योधन के दास हुए हों, तो दूसरे के दास हो चुकने के उपरान्त उन्हें द्रौपदी को दाव पर लगाने का कोई अधिकार ही नहीं था। ऐसी दशा में द्रौपदी को दाव पर लगाकर हार ही क्योंकर सकते थे? और फिर द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की ही तो स्त्री नहीं थी। वह पाँचों भाइयों की समान-रूप से पत्नी थी। यही सब बातें सोच विचारकर द्रौपदी ने प्रतिकामी से कहा—"प्रतिकामी! तुम पहले जाकर युधिष्ठिरजी से कुछ बातें पूछ आओ। उन बातों का उत्तर पाकर, यदि फिर आवश्यकता हो तो, तुम मेरे पास आना। तुम उनसे यह पूछना कि युधिष्ठिर पहले अपने आपको हारे थे, या मुझे? वह उस समय स्वयं किसी वस्तु के मालिक भी थे, या पराधीन अवस्था में ही रहकर उन्होंने मुझे दाव पर लगाया था?"

प्रतिकामी ने राजसभा में जाकर युधिष्ठिर से द्रौपदी के वे प्रश्न कह सुनाये। उन प्रश्नों का भाव समझकर युधिष्ठिर चुप रहे। इसपर दुर्योधन ने कहा—"यदि द्रौपदी को कुछ पूछना हो, तो वह यहाँ आकर पूछे।"

प्रतिकामी फिर द्रौपदी के पास गया। द्रौपदी ने कहा—"धर्म का जो-कुछ विधान हो वह मैं करने के लिए तैयार हूँ। कुरुवंशी कभी धर्म का उल्लंघन नहीं करते। तुम जाओ और

राजसभा में बैठे हुए सब सभासदों से पूछो कि ऐसी अवस्था में मेरा क्या कर्तव्य है ? वे लोग मुझे जैसी आज्ञा देंगे उसीके अनुसार मैं काम करूँगी।"

प्रतिकामी ने फिर सभा में जाकर द्रौपदी का प्रश्न निवेदन किया। इस कठिन प्रश्न का उत्तर कोई न दे सका। यह बात भी ठीक थी कि जिस समय युधिष्ठिर स्वयं दासत्व ग्रहण कर चुके थे, उस समय वह द्रौपदी को दाव पर लगाने का अपना अधिकार खो चुके थे; और शास्त्र का यह विधान भी सत्य था कि सभी अवस्थाओं में स्त्री को अपने स्वामी की अनुवर्त्तिनी होना चाहिए। अतः द्रौपदी के प्रश्न का कोई उत्तर न हो सकता था और इसी लिए सब चुप थे।

जब दुर्योधन ने देखा कि द्रौपदी बराबर मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर रही है तब उसने दुःशासन को आज्ञा दी कि तुम जाकर द्रौपदी को पकड़कर सभा में ले आओ। दुःशासन भी आखिर दुर्योधन का ही भाई था। बड़े भाई की आज्ञा मिलते ही वह तुरन्त दौड़ा हुआ गया और द्रौपदी के क्रोध, आग्रह तथा प्रार्थना पर बिना कुछ ध्यान दिये वह पापी रजस्वला द्रौपदी को उसके सिर के बाल पकड़कर राजसभा में खींच लाया, जहाँ उसके अनेक शुभ-चिन्तक और भिन्न-भिन्न देशों के अनेक राजा बैठे हुए थे। जब द्रौपदी ने देखा कि सब लोगों के सामने इस प्रकार मेरी अप्रतिष्ठा की जा रही है, तब उसने कहा—"यह क्या हो रहा है ? आज मेरे ससुराल के पक्ष के सम्बन्धियों और कुरु-वंश के वीर पुरुषों के सामने मेरा इतना अपमान ! आप सब लोग बैठे हुए चुपचाप इस अपमान को

अनुमोदन कर रहे हैं !! निर्दोष कुलवधू की प्रतिष्ठा बचाने के लिए आप लोगों में से कोई एक शब्द भी नहीं बोलता !!! क्या आज सबका क्षात्र धर्म नष्ट हो गया है ? भीष्म, विदुर आदि में से किसी में भी मनुष्यत्व नहीं रह गया है ? आज ये लोग किस प्रकार ऐसा अनर्थ अपनी आँखों से देख रहे हैं ?"

इतना कहकर द्रौपदी ने रोषभरे नेत्रों से पाण्डवों की ओर तीव्र कटाक्ष किया। उस तीव्र कटाक्ष का विष पाण्डवों की रग-रग में प्रवेश कर गया और उन्हें असह्य पीड़ा होने लगी। परन्तु वे क्षत्रिय अपनी प्रतिज्ञा से बँधे हुए थे, इसलिए मर्मघातक वेदना चुपचाप सहने लगे।

भीष्म ने कहा—"पाञ्चालि ! जो मनुष्य स्वयं किसी दूसरे के अधिकार में चला जाता है, वह पराई चीज दाव पर नहीं लगा सकता। परन्तु दूसरी ओर स्त्री भी स्वामी की अधीनता में ही होती है। इसलिए तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन काम है। धर्मात्मा युधिष्ठिर अपनी इच्छा से पासा फेंककर तुम्हें हारे हैं। वह तुम्हारे स्वामी हैं। केवल प्रण से बँधे होने के कारण ही वह इस समय चुपचाप तुम्हारा यह अपमान देख रहे हैं। ऐसी अवस्था में हम लोग अपना मत किस प्रकार बतला सकते हैं ?"

द्रौपदी ने कहा—"युधिष्ठिर कभी अपनी इच्छा से जुआ खेलने के लिए यहाँ नहीं आये थे। कौरवों का निमन्त्रण पाकर ही वह विवश होकर यहाँ जुआ खेले थे। उनके साथ कपटपूर्वक जुआ खेला गया इसीलिए वह हार गये। जो हो, सभा में कुरु-वंश के सभी मुख्य लोग विराजमान हैं। आप सब लोग विचार करके मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए। आप लोग मुझे जो उचित आज्ञा देंगे उसे मैं शिरोधार्य करूँगी।"

परन्तु किसीने भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण आदि अनेक प्रकार के कटु वाक्य कहकर और हँसी-मजाक करके द्रौपदी को दुःखित और अपमानित करने लगे। दुर्योधन की आज्ञा से अन्दर लेजाने के लिए दुःशासन द्रौपदी को खींचने लगा। द्रौपदी ने क्रोधपूर्वक कहा—"पापी! तू मुझे मत छू। तू जानता है कि अभी मुझे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। जबतक मुझे इस प्रश्न का उत्तर न मिलेगा, तबतक तुझे मेरे ऊपर किसी प्रकार का अधिकार न होगा।" परन्तु दुरात्मा दुःशासन ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वह द्रौपदी को खींचने लगा।

उस समय सभा में बैठे हुए सब राजाओं और दूसरे लोगों को सम्बोधन करके द्रौपदी ने कहा—"मैं सती स्त्री हूँ। युधिष्ठिर की सवर्णा भार्या हूँ। द्रुपदराज की कन्या और श्रीकृष्ण की सखी हूँ। आज मैं इस भरी सभा में सब लोगों के सामने एक अनाथ स्त्री की तरह अपमान सह रही हूँ। राजाओ! आज आप लोगों का राजधर्म कहाँ चला गया? कुरुवंशियो! आज आप लोगों का कुल-धर्म कहाँ चला गया? आज इस सभा में कोई ऐसा नहीं है, जो मेरा यह भीषण अपमान रोक सकता हो? यदि कोई इतना भी नहीं कर सकता है, तो क्या किसीमें इतना साहस भी नहीं है कि वह मेरे प्रश्न का उत्तर दे सके? वीर पतियों के सामने, ससुरालवाले महात्माओं के सामने, भारत के राजाओं के सामने, मैं निर्दोष कुलवधू आप लोगों से यह पूछती हूँ कि धर्म की दृष्टि से देखते हुए क्या मैं वास्तव में जुए में हारी गई हूँ? आप सब लोग यह बतलायें कि जब युधिष्ठिर दूसरे के दास हो गये तब

फिर उन्हें मुझे दाव पर लगाने का अधिकार था या नहीं ? आप लोग जो-कुछ कहें वह मैं करने को तैयार हूँ।"

द्रौपदी की इस बात का और किसीने तो कोई उत्तर नहीं दिया, केवल भीष्म ने इतना कहा—"हममें से कोई इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ नहीं है। तुम जुए में हारी गई या नहीं, इस सम्बन्ध में स्वयं युधिष्ठिर जो-कुछ कहें वही प्रमाण माना जायगा।"

परन्तु युधिष्ठिर ने कुछ भी नहीं कहा। निलज्ज कौरवों का हँसी-मजाक धीरे धीरे असह्य होने लगा। पाण्डवों के पास जो-कुछ धन आदि था वह सब कौरवों का हो चुका था। इस कपट-व्यवहार से उन लोगों ने पाण्डवों के सब आभूषणों आदि के अतिरिक्त उनके पहनने के कपड़े-लत्ते तक छीन लिये। द्रौपदी के वस्त्र उतारने के लिए भी दुःशासन तैयार होगया। निरुपाय होकर द्रौपदी अपनी लाज बचाने के लिए लज्जानिवारक मधुसूदन श्रीकृष्ण के शरणापन्न हुई। उसने कातर वचनों से उन्हींसे आश्रय के लिए प्रार्थना की।

श्रीकृष्ण की कृपा से द्रौपदी की लाज रह गई। दुःशासन ज्यों-ज्यों वस्त्र खींचता गया त्यों-त्यों वह बढ़ता गया। अन्त में लाचार होकर दुःशासन ने सती द्रौपदी को भरी सभा में बेइज्जत करने का विचार छोड़ दिया।

इस बीच में दुर्योधन ने द्रौपदी को अपनी बाई जाँघ पर बैठने का संकेत किया। महातेजस्वी भीमसेन से यह बात नहीं सही गई। उन्होंने उसी भरी सभा में प्रतिज्ञा की कि—'मैं दुःशासन की छाती चीरकर उसका लहू पीऊँगा और गदा मारकर दुर्योधन

की वह जाँघ तोड़ डालूँगा ।" परन्तु उस समय बड़े भाई की प्रतिज्ञा से बँधे हुए थे, इसलिए इस समय शरीर में यथेष्ट बल रहते हुए भी भीम ने उस पापिष्ठ को किसी प्रकार का दंड नहीं दिया। कहते हैं कि भीमसेन की यह प्रतिज्ञा सुनकर द्रौपदी ने भी प्रतिज्ञा की कि "चोटी पकड़कर भरी सभा में खींच लाकर दुःशासन ने मेरा जो अपमान किया है उसके बदले में मैं भी यह प्रतिज्ञा करती हूँ कि जबतक भीमसेन अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार दुःशासन की छाती का लहू न पीयेंगे और उन्हीं खूनभरे हाथों से आकर मेरा जूड़ा न बाँधेंगे तबतक मैं अपने इस अपमान के स्मरण-रूप अपने बाल यों ही खुले रक्खूँगी और कभी जूड़ा न बाँधूँगी।"

धीरे-धीरे द्रौपदी के अपमान की बात अन्तःपुर में जा पहुँची। गान्धारीदेवी ने तुरन्त उस भरी राजसभा में पहुँचकर धृतराष्ट्र से द्रौपदी का यह अपमान रोकने के लिए आग्रह किया। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन का तिरस्कार करके द्रौपदी को धैर्य दिलाते हुए कहा, "देवी! जो-कुछ हो गया उसके लिए तुम क्षमा करो। अब कोई तुम्हारा किसी प्रकार का अपमान न कर सकेगा। तुम्हारी तेजस्विता और धर्म-परायणता से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। इस समय तुम मुझसे जो वरदान चाहो, माँग लो।"

द्रौपदी ने कहा—"आर्य! यदि आप प्रसन्न हैं, तो युधिष्ठिर को दासत्व से मुक्त कीजिए।"

इसपर धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को दासत्व से मुक्त कर दिया और द्रौपदी से दूसरा वर माँगने के लिए कहा। तब द्रौपदी ने भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के छुटकारे की प्रार्थना की। उन चारों को दासत्व से मुक्त करने के उपरान्त धृतराष्ट्र ने द्रौपदी

से कहा— "अच्छा, अब तुम और कोई वर माँगो।" परन्तु द्रौपदी ने कहा —"आर्य! बहुत अधिक लोभ तो पाप का मूल हुआ करता है। अब मैं कोई वर नहीं माँगना चाहती। मेरे स्वामी दासत्व से मुक्त होगये हैं। ये लोग अपने धर्म-बल और बाहुबल से सब-कुछ पैदा कर सकते हैं। इसलिए मुझे और कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।"

धृतराष्ट्र ने पाण्डवों का सब कुछ उन्हें लौटा दिया और मीठे वचनों से उन्हें सन्तुष्ट करके इन्द्रप्रस्थ भेज दिया।

इस बात से दुर्योधन और उनके सब भाई बहुत नाराज़ हुए। उन लोगों ने धृतराष्ट्र से फिर आग्रह किया कि आप वनवास का प्रण करके फिर से युधिष्ठिर को बुलाइए। धृतराष्ट्र का निमंत्रण पाकर युधिष्ठिर फिर जुआ खेलने के लिए आये। इस बार भी वह जुए में हार गये और प्रण के अनुसार निश्चय हुआ कि वह अपने चारों भाइयों के साथ बारह वर्षों तक वनवास और एक वर्ष तक गुप्तवास करेंगे। इसी प्रण के अनुसार उन्हें वनवास के लिए घर से निकलना पड़ा। कुन्तीदेवी की आज्ञा लेकर द्रौपदी भी उन लोगों के साथ वन को चली गई। पाण्डवों की जो दूसरी स्त्रियाँ थीं वे अपने-अपने मैके चली गईं।

पाण्डव लोग प्रजा को बहुत अधिक प्रिय थे। इसलिए बहुत-से लोग उनके साथ वन जाने को तैयार होगये। युधिष्ठिर ने उन सब लोगों को बहुत समझा-बुझाकर वापस किया। परन्तु जो ऋषि और ब्राह्मण उनके साथ चलने के लिए तैयार हुए थे, उनको वे किसी प्रकार समझा-बुझाकर वापस न कर सके। वे स्वयं तो बहुत ही दीन होगये थे। उनके पास कुछ भी नहीं था। इसलिए

सब पाण्डवों को और विशेषतः कृष्णा को इस बात की बहुत अधिक चिन्ता हुई कि इन ब्राह्मणों और ऋषियों आदि का भरण-पोषण किस प्रकार होगा ? कृष्णा गृहस्थ श्रम का धर्म बहुत अच्छी तरह जानती थी। वह यह बात अच्छी तरह समझती थी कि अतिथियों को अन्न जल आदि देना गृहस्थ का परम-धर्म है और यदि इस धर्म का पालन न किया जाय तो दान, यज्ञ, तप आदि सब अनुष्ठान व्यर्थ होते हैं। यही प्राचीन आर्य सिद्धान्त था। वह पाण्डवों के साथ गृहिणी के रूप में थी, इसलिए वह यह सोचकर बहुत चिन्तित होने लगी कि यदि मैं इन ब्राह्मणों और ऋषियों का पालन न कर सकूँगी तो मेरे गृहिणी धर्म की हेटी होगी। वनवास का दुःख उसके लिए कुछ भी दुःखदायक नहीं था। वह दिन रात अपने पतियों की सेवा करती थी। परन्तु केवल गृहस्थाश्रम-धर्म के पालन की चिन्ता ही उसे सदा व्याकुल किये रहती थी। युधिष्ठिर उसके मन का यह भाव समझ गये और उन्होंने धौम्य पुरोहित के परामर्श से उसे बतलाया कि तुम सूर्यदेव की आराधना किया करो। उसकी आराधना से सूर्यदेव प्रसन्न होगये और उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया कि "पाण्डव लोग फल-फूल आदि जो कुछ थोड़ी-बहुत चीजें रसोई में लावेंगे वे तबतक समाप्त न होंगी जबतक तुम स्वयं भोजन न कर लोगी। इस अक्षय भण्डार में से तुम जितने आदमियों को चाहोगी बहुत अच्छी तरह भोजन करा सकोगी" यह वरदान पाकर कृष्णा के आनन्द का ठिकाना न रहा। बढ़िया रसोई बनाने में तो उसका मन पहले ही अधिक लगता था, इसलिए वह साधारण सामग्री से भी ऐसे स्वादिष्ट भोजन बनाया करती थी कि जो कोई उसके हाथ का खाना खाता वह कभी

उसका स्वाद न भूलता था। अब वह बहुत ही सरल और आनन्दपूर्वक गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन करने लगी। पाण्डव लोग जंगल में भी मंगल करने लगे।

वनवास में भी द्रौपदी के सहवास से युधिष्ठिर को अपूर्व सुख मिलने लगा और वह बहुत निश्चिन्त होकर दिन बिताने लगे। जिस दुष्ट शत्रु की कुटिल नीति के कारण उन्हें राज्य-भ्रष्ट होकर अपने छोटे भाइयों तथा स्त्री के साथ वनवास ग्रहण करना पड़ा था उस दुष्ट के प्रति कभी उनके मन में किसी प्रकार का क्रोध या वैर भाव नहीं उत्पन्न हुआ। युधिष्ठिर के मन की स्थिति को देखते हुए यही जान पड़ता था कि वह कभी इस वैर का कोई बदला नहीं लेंगे। परन्तु द्रौपदी से यह बात नहीं सही गई। उसने युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए एक दिन कहा—"महाराज! आप राजा हैं और आपके भाई राजकुमार हैं। मैं भी राजकन्या और राजमहिषी हूँ। आप लोग इस समय किसलिए पर्णकुटी में इतना दुःख भोग रहे हैं? आपने धर्म का उल्लंघन नहीं किया है। कौरव बिना कारण ही आपके शत्रु हो रहे हैं। उन्हींकी कुटिल नीति और चालबाजी के कारण आप आज इस आपत्ति में पड़े हुए हैं। तो फिर क्या कारण है कि अब भी आपके मन में इन शत्रुओं के प्रति तिरस्कार का संचार नहीं होता? लोग कहते हैं कि क्षत्रिय कभी तेज और क्रोध से हीन नहीं हो सकता, परन्तु मैं केवल आपको ही इस नियम के अपवाद-रूप में देख रही हूँ। यह क्या बात है? तेज ही क्षत्रियों का मुख्य धर्म है, जो क्षत्रिय तेजो-हीन होता है वह सदा अपने शत्रुओं से अपमानित होता रहता है। वह कभी इस संसार में किसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं

कर सकता। उसे सदा बिलकुल अधर्मी और हीन दास की भाँति जीवन व्यतीत करना होता है।

"मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं क्षमा-गुण की निन्दा कर रही हूँ। मनुष्य को अपने मनुष्यत्व की रक्षा करने के लिए, क्षत्रियों को अपने क्षात्र-धर्म की रक्षा करने के लिए, कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में क्षमा आवश्यक हुआ करती है। इसी प्रकार कुछ विशिष्ठ अवसरों पर क्रोध और तेज के उपयोग की आवश्यकता रहती है। यदि कभी कोई उपकारी मनुष्य किसी प्रकार का अपराध करे तो उसे क्षमा करना पड़ता है। यदि किसी-से अनजान में कभी कोई अपराध हो जावे तो उसे भी क्षमा करना पड़ता है। यदि इच्छापूर्वक भी कोई अपराध करे तो उसे भी दो-एक बार क्षमा करना पड़ता है। परन्तु यदि कोई कुटिल-चरित्र अभिमानी शत्रु किसीको दिन-रात कष्ट दिया करे तो उसे क्षमा करना मानों उस दुष्ट-चरित्र को आश्रय देने के ही समान है। विशेषतः जो क्षत्रिय राजा हो, जिसे लोगों का पालन करना हो और जिसे राज्य चलाना हो, उसे हमेशा केवल क्षमा ही शोभा नहीं देती। यदि वह उपयुक्त अवसर पर दुष्टों का शमन करने में क्रोध और तेज प्रकट न करे तो फिर वह आगे चलकर अपनी प्रजा की रक्षा किस प्रकार करेगा और अपना राज्य किस प्रकार चलावेगा?"

इसके बाद युधिष्ठिर के वैराग्य और निश्चेष्टता को देखकर द्रौपदी ने कहा—"इस संसार में आकर कर्म करने में ही पुरुष का पुरुषत्व है। जो पुरुष निश्चेष्ट होता है वह कभी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। दैव चाहे कितना ही अधिक बलवान

क्यों न हो, परन्तु पुरुष के लिए उसका पुरुषत्व ही मुख्य आधार हुआ करता है। जो व्यक्ति केवल भाग्य पर ही निर्भर रहता है वह कभी इस संसार में अपना गौरव नहीं दिखला सकता। कर्म ही जीवन है, कर्म ही सुख का मूल है और संसार में कर्म ही मनुष्य का मुख्य धर्म है। मनुष्य को कर्म ही करना चाहिए। जिसका जीवन कर्महीन है वह जड़पदार्थ के समान असार है। इस संसार में उद्यमहीन मनुष्य का जीवन इसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार जल में कच्चा घड़ा नष्ट हो जाता है। इस बात का विचार करना भी ठीक नहीं है कि कर्म सफल होगा अथवा निष्फल जायगा। कर्म चाहे सफल हो चाहे निष्फल जाय, परन्तु कर्मवीर मनुष्य सदा सदा कर्म ही में प्रवृत्त रहता है। जो व्यक्ति सदा कर्म के अनुष्ठान के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करता रहता है, यदि उसका प्रयत्न निष्फल भी हो, तो भी वह किसी प्रकार दोष का भागी नहीं हो सकता। यदि उसका कर्म निष्फल भी चला जाय तो भी उसे इतना तो सन्तोष रहता है कि मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन करने में कोई त्रुटि नहीं की। हे महाराज! मैं इसीलिए आपसे कहती हूँ कि आप अपना बदला चुकाने के लिए क्षात्र-तेज से उद्दीप्त हों। आप इस प्रकार शान्त और आलसी बनकर न बैठे रहें। आप क्षत्रियों की भाँति, राजाओं की भाँति, अपने उपयुक्त कर्म करने के लिए उद्यमशील हों। नहीं तो आपको सदा इसी प्रकार हीन और असार जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। आपके भाइयों का देवताओं से भी बढ़ा-चढ़ा बल बिलकुल व्यर्थ जायगा।"

परन्तु शान्त प्रकृति और मानवोपरि क्षमाशील युधिष्ठिर के

हृदय में क्रोध का संचार करने में द्रौपदी जैसी तेजस्वी स्त्री भी समर्थ नहीं रही ।

पाण्डवों के वनवास-काल में एक दिन श्रीकृष्ण अपनी रानी सत्यभामा के साथ उनसे मिलने के लिए वन में गये । सत्यभामा के साथ द्रौपदी की बहुत अधिक मित्रता थी । दोनों सखियाँ एकान्त में बैठकर बातें करने लगीं। इधर-उधर की बहुत-सी बातों के उपरान्त सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—"क्यों सखी ! तुम्हारे तो सिंह के समान महातेजस्वी पाँच स्वामी हैं। फिर भी वे पाँचों तुम्हारे वश में हैं। क्या तुम्हें कोई मन्त्र आता है, जिसके द्वारा तुमने इन सबको इस प्रकार अपने वश में कर लिया है? ज़रा मुझे भी वह उपाय बतलाओ, जिससे मैं भी श्रीकृष्ण को इसी प्रकार अपने वश में कर सकूँ ।"

द्रौपदी ने हँसते हुए कहा—"सखी ! भला मन्त्र और औषधि आदि से भी कभी कोई अपने स्वामी को वश में करता होगा ? जिन स्त्रियों में किसी प्रकार का कोई गुण नहीं होता वेही मन्त्र और औषधि आदि का प्रयोग करके उलटे अपने स्वामी को हानि पहुँचाया करती हैं । मैं तुम्हें बतलाती हूँ कि मेरे स्वामी किस प्रकार मेरे वश में हुए हैं। सुनो! मैं सदा यही समझती हूँ कि स्वामी ही स्त्रियों के एकमात्र देवता और एकमात्र गति होते हैं और यही समझकर मैं मन, वचन और कर्म से दिन-रात उनकी सेवा किया करती हूँ । एकमात्र स्वामी-सेवा ही मेरे जीवन का व्रत और वही मेरे जीवन का धर्म है। मैं उन्हें कभी कोई कटु-वचन नहीं कहती, और न कभी कोई ऐसा काम करती हूँ जो उन्हें बुरा मालूम हो। उनके भोजन करने से पहले मैं कभी भोजन

नहीं करती। उनके बैठे बिना मैं कभी बैठती नहीं। उनके सोने से पहले मैं कभी सोती नहीं। जो चीज उन्हें पसन्द नहीं होती उसका मैं त्याग कर देती हूँ। जिन लोगों के साथ बातचीत करने की उनकी इच्छा नहीं होती उन लोगों के साथ मैं कभी बात-चीत नहीं करती। जो मेरे स्वामी का प्रीतिपात्र है, वह यदि मेरा अप्रीतिपात्र भी हो तो भी, मैं उसका मान रखती हूँ और बहुत ध्यानपूर्वक उसकी सेवा करती हूँ। जिस समय मेरे स्वामी बाहर का काम-काज करके थके हुए घर आते हैं उस समय मैं उन्हें आसन और जल देकर उनकी थकावट दूर करती हूँ। ज्योंही मैं बाहर उनकी आवाज़ सुनती हूँ त्योंही आगे बढ़कर दरवाजे पर पहुँच जाती हूँ और उनका सत्कार करती हूँ। यदि वे कभी दासी से कोई वस्तु माँगते हैं तो मैं स्वयं उठकर उन्हें वह वस्तु ला देती हूँ। जिस समय मैं रानी थी उस समय भी मैंने घर बार और दास दासियों का सब भार अपनेपर ही ले रक्खा था। मैं नित्य अपने हाथ से स्नान आदि साफ करके रसोई बनाती और यथासमय सब लोगों को भोजन कराया करती थी। धन्य और घर की दूसरी बहुतसी चीजें मैं बहुतही होशियारी के साथ सजा और सम्हालकर रक्खा करती थी। अपने घर के नौकरों और गडरियों, ग्वालों आदि की भी खोज-खबर रक्खा करती थी। अपनी गृहस्थी के खर्च का हिसाब भी मैं ही रखती थी। महल के आश्रितों की सेवा करने में मुझे इस बात का भी पता न लगता था कि कब दिन चढ़ा और कब रात हुई। सब लोगों के भोजन कर लेने पर मैं भोजन करती थी। जब सब सो जाते थे तब मैं जाकर सोती और सब लोगों के उठने से पहले ही उठकर गृह-कार्य में लग जाती थी।

"मैं अपनी सास कुन्ती को भी भोजन कराके नित्य उनकी सेवा किया करती थी। मैं कभी उनपर यह प्रकट ही न होने देती थी कि मैं क्या-क्या काम करती हूँ। वे जैसे वस्त्र पहनतीं उनसे अच्छे वस्त्र मैं कभी नहीं पहनती थी। गृह-धर्म में मैं सदा उन्हींकी अनुवर्तिनी होकर रहा करती थी। इसके सिवा मैं अपनी सौतों को भी अपनी प्रतिष्ठित बहनों के समान ही समझा करती थी। मैं कभी किसी प्रकार उनका निरादर या अपमान नहीं करती थी, न उनसे कभी कडुआ वचन बोलती थी, और न कभी किसी प्रकार किसीका दिल दुखाती थी।

"हे सखी! अपने स्वामी को अपने वश में करने का इससे अच्छा उपाय और कोई नहीं है। यही स्वामी को अपने वश में करने का मन्त्र और औषधि है। तुम भी इसी मन्त्र और इसी औषधि का प्रयोग करके देखो। बस, इतने में ही श्रीकृष्ण पूर्णरूप से तुम्हारे वश में हो जायँगे।"

अब हम द्रौपदी के जीवन के एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख करेंगे जिसमें उसके नारी-गौरव का यथार्थ परिचय मिलेगा।

जब दुर्योधन को हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ दोनों राज्य मिल गये तब उसके मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं किसी प्रकार सारी पृथ्वी का स्वामी बन जाऊँ। कर्ण आदि के दुष्ट परामर्श से उसने पाण्डवों को अपना ऐश्वर्य दिखलाने के लिए यह निश्चय किया कि खूब ठाट-बाट से यात्रा करने के लिए निकलना चाहिए। यही सोचकर, प्रभास तीर्थ में स्नान करने के बहाने से अपने सब कुटुम्बियों और घर की सब स्त्रियों तथा बहुतसे सैनिकों आदिको लेकर, एकदिन बड़े समारोह से वह यात्रा करने के लिए निकल पड़ा।

प्रभास तीर्थ में, गन्धर्वराज चित्रसेन का, एक बहुत ही रमणीक प्रमोद-वन था। उस दिन गन्धर्वराज उसी बगीचे में हवाखोरी के लिए आया हुआ था। उसने सुना कि कौरवों की सेना बहुत आडम्बर के साथ इसी ओर आ रही है। वह यह जानने के लिए उन सब लोगों की प्रतीक्षा करने लगा कि ये किस लिए इधर आ रहे हैं और कहाँ जाना चाहते हैं। पर उसे बहुत अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। उच्छृङ्खल कौरव तुरन्त ही गन्धर्वराज के प्रमोद-वन में घुस आये और उस सुन्दर वन के फल-फूल आदि तोड़कर उसे नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। मना करने पर भी अधिकार और मद से भरे हुए उन सैनिकों ने किसीकी बात नहीं सुनी। यह उद्दण्डता गन्धर्वराज से नहीं सही गई। वह कौरवों के साथ युद्ध करने को तैयार हो गया। तब दोनों पक्षों में घोर युद्ध हुआ और कौरवों की सेना परास्त होकर भाग गई। दुर्योधन के प्रधान सेनापतियों ने वहाँ से भागकर अपने प्राण बचाये और सब कौरव अपनी स्त्रियों के साथ गन्धर्वराज के कैदी बने। कौरवों का सारा अहंकार चूर-चूर होगया। भय और अपमान से उनका मुख मलीन होगया। कौरव-स्त्रियों के मर्मभेदी रुदन से वायु-मण्डल काँपने लगा।

यह समाचार तुरन्त ही पाण्डवों के पास पहुँच गया, क्योंकि वह भी उस समय कहीं पास ही ठहरे हुए थे। कौरव-स्त्रियों का हृदय-विदारक रोना-चिल्लाना सुनकर कृष्णा का कोमल हृदय भी रो पड़ा। स्त्रियों में सहानुभूति का जो स्वाभाविक भाव हुआ करता है वही उस समय कृष्णा में जागृत हो उठा। कौरवों ने उसका और उसके पतियों का जो अपमान किया था और

कौरवों के साथ पाण्डवों की जो शत्रुता थी उसे उसने उस समय बिलकुल भुला दिया। भीम और अर्जुन के पास जाकर वह कौरवों का उस दुर्दशा से उद्धार करने के लिए आग्रह करने लगी।

परन्तु भीम और अर्जुन को तो कौरवों की इस दुर्दशा से आनन्द हो रहा था। उन्होंने कृष्णा का आग्रह न माना। यह देखकर कृष्णा की आँखों में क्रोध और अभिमान के मारे आँसू भर आये। वह बोली, "यदि शत्रु-पक्ष के ये लोग हमारे कुल की स्त्रियों को पकड़ ले जायँगे तो हम लोगों की नाक कट जायगी और सदा के लिए हम लोगों पर बड़ा भारी कलंक लग जायगा। अपने कुल की इस प्रकार की बदनामी तो केवल कुलांगार ही देख और सह सकते हैं। भला, तुम लोगों से और मुझसे यह कलंक कैसे सहा जायगा?"

जब द्रौपदी ने देखा कि भीम और अर्जुन पर मेरे कहने-सुनने का कुछ भी असर नहीं हुआ, तब वह दौड़ी हुई धर्मराज के पास गई और करुणा-पूर्ण हृदय तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसने कौरवों की स्त्रियों की दुर्दशा का सब हाल उन्हें कह सुनाया और अन्त में प्रार्थना की, कि "हे स्वामी! यह ठीक है कि कौरव आपके अपराधी हैं, परन्तु आज तो आपके कुल से कलंक लगने की बारी आगई है। आप अपने गुणों तथा बल से आपत्ति में फँसे हुए अपने भाइयों और उनकी स्त्रियों की सहज सहायता करके उनका इस कष्ट से उद्धार कीजिए। आपके कुटुम्ब की स्त्रियों को गन्धर्व हर ले गये हैं। आप तुरन्त आगे बढ़कर उनको पकड़ लीजिए, जिससे वे बहुत दूर न निकल जायँ और जहाँतक हो सके उचित उपायों का अवलम्बन करके आप अपने

कुल की स्त्रियों को बचाइए और अपने कुल-धर्म की रक्षा कीजिए।"

कृष्णा की ये बातें सुनकर धर्मराज के मन में इस बात से बहुत अधिक आनन्द और अभिमान हुआ कि हम लोगों को ऐसे उन्नत विचार की स्त्री प्राप्त हुई है। उन्होंने तुरन्त भीम और अर्जुन को आज्ञा दी कि "तुम लोग जल्दी जाओ और कौरवों तथा उनकी स्त्रियों को शत्रुओं के क़ब्ज़े से छुड़ा लाओ। द्रौपदी की सम्मति बहुत ठीक है। जिस समय हम लोग आपस में लड़ते हों उस समय तो कौरव सौ भाई हैं और हम लोग पाँच भाई हैं, परन्तु जिस समय और किसीके साथ लड़ने-भिड़ने का प्रसंग आवे उस समय हम लोग एक-सौ-पाँच भाई हैं, यह बात हम लोगों को सदा स्मरण रखनी चाहिए।"

युधिष्ठिर के इस प्रकार के उपदेश से भीम और अर्जुन ने भी अपने मन में से कौरवों के प्रति वह पहला द्वेष दूर कर दिया। वे तुरन्त हथियार लेकर गन्धर्वों के पीछे पहुँचे। वहाँ वे लोग उनसे लड़े और उन्हें पराजित करके दुर्योधन-सहित कौरवों को और उनकी स्त्रियों को छुड़ा लाये। शत्रुओं के प्रति कृष्णा का इतना सौजन्य सचमुच ही बहुत प्रशंसनीय है।

यदि साँप को दूध पिलाया जाय तो उससे केवल उसके विष की ही वृद्धि होती है और अन्त में वह अपने दूध पिलानेवाले को ही काटता है। खलों और दुष्टों की बुद्धि भी ठीक इसी प्रकार की हुआ करती है। कृष्णा और पाण्डवों ने दुर्योधनादि के साथ जो उपकार किया था उसका उचित बदला चुकाना तो दूर रहा, उलटे दुर्योधन के मन में हिंसा और वैर की मात्रा अब

पहले की अपेक्षा दस गुनी तीव्र हो गई। अब वह दिन रात इस विचार में रहने लगा कि किस प्रकार पाण्डवों का पूर्ण रूप से नाश कर डालना चाहिए। इसी बीच में एक दिन दुर्वासा मुनि अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर में आये।

दुर्योधन के मन में एक प्रकार की दुष्ट कल्पना उत्पन्न हुई। उसने दुर्वासा मुनि तथा उनके शिष्यों का बहुत अधिक आदर-सत्कार करके उन लोगों को बहुत सन्तुष्ट किया। जब मुनि चलने लगे तब उन्होंने दुर्योधन से कुछ वरदान माँगने के लिए कहा। उस समय उस दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन ने एक विचित्र वरदान माँगा। उसने कहा—"महाराज ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप एक दिन बिलकुल अचानक रात को ऐसे समय कृष्णा के पास पहुँचें जब कि वह भोजन कर चुकी हो, और उस समय आप अपने साथ अपने दस हजार शिष्य भी ले ले जायँ और जाकर युधिष्ठिर के अतिथि बनें।"

दुर्वासा मुनि दुर्योधन की इस चालबाज़ी का कुछ भी मतलब न समझ सके। दुर्योधन ने उनको समझाया कि सब लोग युधिष्ठिर को धर्मराज कहते हैं; मैं इस बात की परीक्षा लेना चाहता हूँ कि वह वास्तव में धार्मिक हैं अथवा कपटी हैं, और इसीलिए मैंने आपसे यह प्रार्थना की है।

दुर्वासा मुनि ने मुस्कराते हुए दुर्योधन की यह बात मान ली, और वहाँ से चले गये।

यह बात प्रायः सभी लोग जानते थे कि द्रौपदी के भोजन कर चुकने के उपरान्त दस हज़ार अतिथियों का सत्कार करने की शक्ति पाण्डवों में किसी प्रकार नहीं हो सकती। साथ ही,

दुर्योधन तथा दूसरे कौरव भी यह बात बहुत अच्छी तरह जानते थे कि दुर्वासा मुनि महाक्रोधी हैं। इसलिए उन लोगों ने समझ लिया था कि अब पाण्डवों का समूल नाश हो जायगा।

उधर वन में पाण्डवों की कुटी में कृष्णा नित्य अपने हाथ से भोजन बनाती और सब लोगों को भरपेट भोजन कराया करती थी। नित्य युधिष्ठिर के पास बहुतसे ब्राह्मण, ऋषि, अतिथि और अभ्यागत आदि शास्त्र-चर्चा करने के लिए आया करते थे और वे सबके सब गृह-लक्ष्मी कृष्णा की परिचर्या और सेवा आदि से प्रसन्न होकर उसे धन्यवाद देते और उसके मंगल की कामना किया करते थे। सूर्य के वरदान से पाण्डवों की उस झोंपड़ी में दीन-दरिद्रों और भिक्षुकों के लिए सदाव्रत-सा खुला हुआ था। अकेली कृष्णा ही सब लोगों के लिए भोजन बनाती और उन्हें भरपेट भोजन कराया करती थी। सबके अन्त में जो-कुछ बच रहता था वही प्रसाद-स्वरूप आप खाकर सो रहती थी। उस वन और कुटीर के मनुष्यों की तो बात ही क्या, जब-तक वहाँ के पशु-पक्षी आदि तक भोजन न कर लिया करते थे तबतक द्रौपदी कभी भोजन नहीं करती थी। तात्पर्य यह कि इस प्रकार परिश्रमपूर्वक कृष्णा गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन किया करती थी।

माघ मास के शुक्ल पक्ष की रात थी। काम्यक वन में चारों ओर शान्ति विराज रही थी। पहर रात बीतने तक कृष्णा चारों ओर सब लोगों को, यहाँतक कि पशु-पक्षियों तक को, बुला-बुलाकर भोजन कराके तृप्त कर चुकी थी और तब सबके अन्त में वह आप भोजन करने बैठी थी। वह भोजन कर ही रही

थी कि इतने में दस हज़ार भूखे शिष्यों को लेकर दुर्वासा ऋषि अतिथि के रूप में पाण्डवों के आश्रम में पहुँचे और कहने लगे—"महाराज की जय हो! मैं हस्तिनापुर में कुरुराज से मिलने गया था। वहाँ मैंने आपका भी समाचार सुना। मैंने सोचा कि चलो इधर से आपसे भी मिलता चलूँ और इस अरण्य के तीर्थ में स्नान भी करलूँ।"

पाण्डवों ने दुर्वासा ऋषि का बहुत अधिक आदर सत्कार किया और उनकी पूजा करके उन्हें आसन पर बैठाया। मुनि ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा कि "हम लोग जाकर तीर्थ में स्नान कर आते हैं, तबतक आप लोग हमारे भोजन की तैयारी करें।"

दुर्वासा ऋषि अपने साथ शिष्यों को लेकर स्नान-सन्ध्या के लिए गये। पाण्डवों के मन में बहुत अधिक चिन्ता हुई। कृष्णा उस समय भोजन कर चुकी थी। सारे बन में पशु-पक्षियों तक में से कोई भूखा नहीं था। ऐसे समय में, और वह भी इतनी रात को, दस हज़ार आदमियों के भोजन की किस प्रकार तैयारी की जा सकती थी। अतिथि का बिना भोजन किये खाली लौट जाना ठीक नहीं; और तिसपर यह दुर्वासा मुनि ठहरे। यदि ऐसे महाक्रोधी अतिथि अप्रसन्न हो गये तो सर्वनाश ही करके छोड़ेंगे। हाय! आज पाण्डवों का सारा पुण्य नष्ट हो जायगा, और कदाचित उनका नाम-निशान तक मिट जाय। यदि कृष्णा ने अबतक भोजन न किया होता तो कोई चिन्ता की बात नहीं थी। पर अब क्या किया जाय? पाण्डव लोग उस समय भय और शोक में लीन हो गये।

कृष्णा के भय और चिन्ता का तो कोई अन्त ही नहीं था। वह गृहिणी थी और गृह-धर्म के पालन का भार उसीपर था। वह सोचने लगी कि "मैं थोड़ी देर तक और भी क्यों न भूखी रही? यदि मैं सारी रात भी बिना भोजन के बिता देती तो मर थोड़े ही जाती। आज केवल मेरे ही अपराध से मेरे पति-कुल के नाश की बारी आई है।" दुःख और निराशा से कृष्णा का हृदय भर आया। जब उसे कोई और उपाय न सूझ पड़ा तब उसने अन्त में भक्त-वत्सल अनाथ-शरण दीनानाथ की शरण ली। उसने उस समय उन्हींको पुकारा। कौरवों की सभा में जिस समय उसका वस्त्र-हरण हो रहा था उस समय भी उस महाविपत्ति से बचने के लिए उसने उन्हीं हरि की शरण ली थी। आज भी कृष्णा ने अपनी सारी अवस्था श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदन की और वाह्य-ज्ञान से शून्य होकर उसने एकाग्रचित्त से उन्हींका स्मरण किया।

अब भला भगवान कैसे चुपचाप बैठे रह सकते थे? जहाँ तन्मयता होती है, जहाँ एकाग्रचित्त से उनका चिन्तन होता है, वहाँ वह तुरन्त जा पहुँचते हैं। जिस समय कृष्णा को होश हुआ, उस समय उसने दुःखियों की रक्षा करनेवाले परमबन्धु श्रीकृष्ण को अपने सामने खड़ा पाया। कृष्णा कुछ कहना ही चाहती थी कि उससे पहले ही कृष्ण ने अधीर होकर कहा— "बहन कृष्णा, मुझे बहुत भूख लगी है। पहले तुम मुझे कुछ खिला दो, फिर और कोई बात करना।"

कृष्णा के मुँह से एक भी शब्द न निकला। वह सोचने लगी कि मैं इनकी बात का क्या उत्तर दूँ? जिस आपत्ति से

छुटकारा पाने के लिए मैंने इन्हें पुकारा था, उलटे उसी आपत्ति को और बढ़ाने का ही ये उपाय कर रहे हैं। उसके मुँह से कुछ भी बात न निकली और रोने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसके रोने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और बोले—"देखो तो सही, उस हाँडी में क्या है? जो कुछ थोड़ा-बहुत बचा-कुचा हो वही मुझे दे दो। उतने से ही मेरा सन्तोष हो जायगा।"

परन्तु द्रौपदी तो पहले ही पोंछ-पाँछकर सब-कुछ खा चुकी थी और बरतन भी माँज चुकी थी। वह सोचती थी कि उसमें तो अन्न का एक दाना भी नहीं है। अब मैं क्या करूँ और इन्हें क्या उत्तर दूँ? उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण को उसके मन का भाव समझने में देर नहीं लगी। वह बिना विलम्ब रसोईघर में जा पहुँचे। कृष्णा भी चुप-चाप उनके पीछे-पीछे चलकर वहाँ पहुँच गई।

रसोईघर बिलकुल साफ और स्वच्छ था। कहीं गन्दगी आदि का नामोनिशान भी नहीं था। वहाँ इतनी अधिक स्वच्छता थी कि उसे देखकर कोई यह बात सहज में मान ही नहीं सकता था कि अभी थोड़ी देर पहले यहाँ हजारों आदमियों की रसोई बनी होगी और हजारों आदमियों ने यहाँ बैठकर भोजन किया होगा। द्रौपदी ने धोई और साफ की हुई हाँडी लाकर श्रीकृष्ण के सामने रख दी। श्रीकृष्ण ने जब उसमें झाँककर देखा तब उन्हें एक कोने में अन्न का बहुत छोटा-सा दाना और एक जगह साग के जैसी कोई चीज लगी हुई दिखाई दी। उसे देखते ही श्रीकृष्ण बहुत अधिक प्रसन्न हुए और उसी पात्र में से बहुत ही आनन्द-

पूर्वक भोजन करने लगे । जब सर्वभूतों के आत्मा-रूपी नारायण प्रसन्न हो गये तब फिर बाकी ही क्या रह गया ? अब तो मानों सारा विश्व तृप्त हो गया । श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को आश्वासन देते हुए कहा—"बहन, अब तुम किसी बात की चिन्ता मत करो । मेरा पेट भर गया है । अब मुझे डकार आ रही है । अब और सब लोग भी इसी तरह तृप्त हो जायँगे, कोई भूखा न रह सकेगा ।"

जिस समय दुर्वासा मुनि तीर्थस्थान में सन्ध्या कर रहे थे उस समय अचानक ऐसा चमत्कार हुआ कि मुनि तथा उनके शिष्यों को जान पड़ने लगा मानों पेट में बहुत अधिक भोजन पहुँच चुका है । उन सब लोगों को डकार भी आने लगी और आलस्य भी मालूम होने लगा । सब लोग यही सोचने लगे कि इस तीर्थ के पानी में ही ऐसी अद्भुत शक्ति है, और इस सम्बन्ध में आपस में बातचीत करने लगे । सब लोगों का पेट बिलकुल भरा हुआ जान पड़ता था और सबको बहुत जम्हाइयाँ आ रही थीं । इसलिए वे सोचने लगे कि आज यहीं पड़े रहना चाहिए और कल सवेरे उठकर पाण्डवों के आश्रम में चलकर भोजन करना चाहिए । अन्त में सोच-विचारकर सब लोगों ने ऐसा ही किया । दूसरे दिन सवेरे दुर्वासा मुनि अपने दस हजार शिष्यों को साथ लेकर पाण्डवों के आश्रम में गये । अन्नपूर्णा-रूप द्रौपदी ने उन सब लोगों का बहुत आदर-सत्कार किया और उन्हें भरपेट बहुत अच्छा और स्वादिष्ट भोजन कराया । मुनि बहुत ही प्रसन्न हुए और चलते समय द्रौपदी और पाण्डवों को बहुत-बहुत आशीर्वाद देते गये ।

दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। अब उसने देखा कि मेरी यह चाल भी उलटी ही पड़ी, तब उसने एक और ही प्रपंच सोचा। इस बार उसे एक बहुत ही अधम और पैशाचिक उपाय सूझा। उसने साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूपा द्रौपदी का हरण कर लाने के लिए अपने बहनोई जयद्रथ को भेजा।

जयद्रथ पाण्डवों के आश्रम में जा पहुँचा। पाण्डवों ने यह सोचकर उसका बहुत अधिक आदर-सत्कार किया कि जो कौरवों का दामाद है वह हम लोगों का भी दामाद ही है। द्रौपदी ने भी सच्चे मन से उसकी उसी प्रकार सेवा-शुश्रूषा की जिस प्रकार अपने किसी कुटुम्बी की की जाती है। किसीको खयाल भी नहीं हुआ कि जयद्रथ अपने मन में कोई पाप-वासना रखकर यहाँ आया है। एक कुटुम्बी के मिलने पर जो स्वाभाविक आनन्द होता है उसी आनन्द के साथ सब लोग दिन बिताने लगे।

एक दिन पाण्डव भिक्षा माँगने के लिए कहीं बाहर गये हुए थे। उस समय एकान्त पाकर जयद्रथ ने सोचा कि कृष्णा को बलपूर्वक हरण करके ले चलना चाहिए। पहले तो उसने द्रौपदी से अपने साथ चलने के लिए योंही बहुत-कुछ आग्रह किया, परन्तु जब द्रौपदी ने उसकी इस पाप-पूर्ण इच्छा का तिरस्कार किया, तब जयद्रथ उसे बलपूर्वक अपने साथ ले चलने को तैयार हुआ। तेजस्वी सती ने लात मारकर जयद्रथ को जमीन पर गिरा दिया—परन्तु, फिर भी वह स्त्री ही थी और जयद्रथ वीर पुरुष था। वह जमीन पर से उठ खड़ा हुआ और द्रौपदी को बलपूर्वक रथ पर बैठा कर वहाँ से चलने लगा।

उस समय द्रौपदी ने समय सूचकता दिखलाई। वह भयभीत होकर रोने नहीं लगी। वह क्रोधभरे नेत्रों से पाण्डवों के रास्ते की ओर देखने लगी। थोड़ी देर में उसे पाण्डवों के पैरों की आहट सुनाई दी। अब द्रौपदी पास आते हुए पाण्डवों के पराक्रम का अभिमान-पूर्वक एक-एक करके जयद्रथ को परिचय देने लगी। जिस समय सैनिकों को मारकर पाण्डव जयद्रथ के रथ के पास आ पहुँचे उस समय वह अपने रथ पर से उतरकर भाग खड़ा हुआ। तुरन्त ही भीम और अर्जुन उसके पीछे दौड़े और उसे पकड़कर युधिष्ठिर के सामने ले आये। जयद्रथ ने युधिष्ठिर के पैरों पड़कर उनकी दासता स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी। इसपर द्रौपदी ने कहा "जब यह दुर्बुद्धि जयद्रथ आपके पैरों पर गिरकर दासत्व स्वीकार करते हुए क्षमा माँगता है तब आप इसके प्राण न लें और इसे योंही छोड़ दें।" द्रौपदी के इस प्रकार आग्रह करने से जयद्रथ छोड़ दिया गया और वह वहाँ से चुपचाप चला गया; परन्तु लज्जा के मारे वह अपने घर नहीं गया, बल्कि पाण्डवों को मार डालने की इच्छा से वन में जाकर शिवजी की तपस्या करने लगा।

द्रौपदी ने जयद्रथ को छुड़वा तो दिया, पर उसका पैशाचिक कृत्य उसके हृदय में जहरीले तीर की तरह दिन-रात खटकने लगा। उस समय मुनिवर मार्कण्डेय वहाँ आये और उसे पुराण, इतिहास, रामायण आदि में से अनेक कथायें सुनाने लगे। आखिर जब द्रौपदी ने सीता-हरण की कथा सुनी तब वह सीता के दुःख का स्मरण करके अपना सब दुःख भूल गई।

धीरे-धीरे पाण्डवों के वनवास के बारह वर्ष पूरे हो गये। अब अज्ञातवास का समय आया। इसलिए उन लोगों ने अलग-अलग वेश धारण करके राजा विराट के महल में रहना निश्चित किया। उन दिनों राजा-महाराजाओं को जुआ खेलने का बहुत अधिक शौक़ था। युधिष्ठिर पासा फेंकने में बहुत प्रवीण थे, इसलिए वह ब्राह्मण का वेष धरकर और अपना नाम कंक रखकर राजा विराट के सहचर के रूप में काम करने लगे। महाबलवान और महाकाय भीमसेन का काम थोड़े आहार से नहीं चलता था और वह रसोइ के काम में बहुत प्रवीण भी थे, इसलिए वह अपना नाम बल्लव रखकर रसोई बनाने के काम पर नौकर हो गये। अर्जुन ने किसी दैवी-शक्ति के द्वारा एक नपुंसक का रूप धारण कर लिया। वह नृत्य-गीत आदि में बहुत अधिक प्रवीण थे, इसलिए नपुंसक का रूप धारण करके और अपना नाम बृहन्नला रखकर राजा विराट की कन्याओं को नृत्य-गीत आदि की शिक्षा देने के काम पर नियुक्त हो गये। नकुल ने विराट राजा के अश्वपाल का और सहदेव ने गोपाल का पद ग्रहण किया। प्राचीनकाल में राजाओं के यहाँ सैरन्ध्री नाम की एक ऊँचे दरजे की दासी रहा करती थी। उसका काम रानी और राजकन्याओं तथा राज-परिवार की दूसरी स्त्रियों के बाल गूँथना, उनके शरीर में सुगन्धित तेल लगाना, उन्हें अलंकार पहनाना, तथा उन्हें अनेक प्रकार की ललित कलाओं की शिक्षा देना आदि होता था। द्रौपदी ने राजा विराट की रानी सुदेष्णा से प्रार्थना की कि आप मुझे अपने यहाँ सैरन्ध्री के काम पर नियुक्त कर लीजिए। परन्तु द्रौपदी का रूप देखकर सुदेष्णा को इस बात का

साहस न हो सका कि वह उसे अपने यहाँ दासी के रूप में नियुक्त करती। उसने कहा—"बेटी! तुम्हें इस रूप में अपनी सेवा में रखने का मुझे साहस नहीं होता। तुम्हारा बहुत सुन्दर रूप है। तुम्हें रखकर क्या मैं अन्त में स्वयं अपना ही सत्यानाश करूँ?"

द्रौपदी ने कहा "माताजी! आप किसी प्रकार का भय न करें। मैं कभी पर-पुरुष की ओर आँख उठाकर देखूँगी भी नहीं। पाँच बलवान गन्धर्व मेरे स्वामी हैं। वे गुप्त रूप से सदा मेरी रक्षा किया करते हैं। यदि कोई मन में बुरा विचार रखकर मुझसे बात भी करेगा तो वे तुरन्त उसकी अच्छी तरह ख़बर लेंगे। जो कोई मुझे स्नेह-पूर्वक रक्खेगा उसका वे गन्धर्व यथेष्ट कल्याण करेंगे। आप ज़रा भी भय न करें और मुझे अपने यहाँ आश्रय दें।"

राजा विराट स्वयं कोई बहुत सामर्थ्यवान नहीं थे। उनका कीचक नामका एक साला था, जो बहुत वीर था। उसीके पराक्रम से राजा विराट अपने राज्य का काम चलाया करते थे। उस कीचक का चाल-चलन अच्छा नहीं था। परन्तु फिर भी कोई उसका बाल तक बाँका नहीं कर सकता था। राजा विराट भी कीचक से डरते थे और उसे कुछ नहीं कह सकते थे। द्रौपदी का रूप देखकर कीचक उसपर मुग्ध होगया। पहले तो उसने द्रौपदी को अनेक प्रकार के लालच दिये; पर जब कुछ भी फल न हुआ तब अन्त में उसने एक युक्ति की। उसने रानी सुदेष्णा से आग्रह किया कि तुम किसी अवसर पर किसी बहाने से द्रौपदी को मेरे कमरे में भेज दो। इसपर सुदेष्णा ने द्रौपदी को आज्ञा दी कि तुम जाकर कीचक के कमरे में से मेरे लिए पानी ले आओ। द्रौपदी ने कीचक का जो रंग-ढंग देखा था, वह सब सुदेष्णा को कह सुनाया।

और कहा कि मैं उसके कमरे में नहीं जाना चाहती । पर जब सुदेष्णा ने नहीं माना और बहुत हठ किया, तब अन्त में उसे विवश होकर वहाँ जाना पड़ा ।

कीचक वहाँ बैठा हुआ द्रौपदी की प्रतीक्षा ही कर रहा था। द्रौपदी के आते ही उस पापी ने उससे कुछ अनुचित और अश्लील बातें कहीं । द्रौपदी तुरन्त घृणा प्रकट करती हुई पीछे की ओर हटी । इतने में उस पापी ने उसका हाथ पकड़ लिया । जिस प्रकार सिंहनी छेड़ी जाने पर गरज उठती है उसी प्रकार गरज-कर द्रौपदी ने ज़ोर से अपना हाथ छुड़ा लिया और कीचक को गिराकर वह तुरन्त दौड़ी हुई राजसभा में जा पहुँची, जहाँ राजा विराट और कङ्क के वेष में युधिष्ठिर बैठे हुए थे ।

कीचक भी मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया था । वह भी उसके पीछे-पीछे दौड़ता हुआ वहाँ पहुँच गया और उसने द्रौपदी के सिर के बाल पकड़कर उसे ज़मीन पर पटक दिया और ऊपर से एक लात मारी ।

कीचक के भय से राजा विराट चुपचाप बैठे रहे । यह देख-कर द्रौपदी ने उन्हें सम्बोधन करके कहा, "महाराज ! आप राजा होकर भी एक निरपराध अबला का अपमान इस प्रकार चुपचाप बैठे हुए देख रहे हैं और उसके रोकने का कोई उपाय नहीं कर रहे हैं ! इस समय आपका राज-धर्म क्या है ? आप राजा होकर भी दस्यु के समान हैं । आप क्या मुँह लेकर इस सिंहासन पर बैठे हैं ? सभासदो ! मैं आप लोगों से न्याय करने की प्रार्थना करती हूँ । कीचक पापी है और विराट राजा अपने कर्त्तव्य के पालन से विमुख हैं । यदि आप लोग भी चुपचाप बैठे रहेंगे तो मैं यह सम-

भूँगी कि अधार्मिक राजा के आश्रित और उपासक होने के कारण आप लोग भी अपना-अपना धर्म भूल गये हैं।"

राजा विराट की सभा के सभासदों और कंकवेशधारी युधिष्ठिर ने द्रौपदी को धैर्य देकर अन्तःपुर में भेजा। क्रोध और अभिमान से भरी हुई द्रौपदी रोती-रोती अन्तःपुर में जा पहुँची और वहाँ उसने रानी सुदेष्णा से सब वृत्तान्त कह सुनाया। रानी सुदेष्णा ने लज्जित होकर कहा, "क्या कीचक ने तुम्हारा इतना बड़ा अपमान किया? यदि तुम कहो तो मैं अभी महाराज से कहकर उसे प्राणदण्ड दिलवा दूँ।" परन्तु द्रौपदी ने अभिमानपूर्वक कहा, "मैं आपसे अपना बदला लेने की प्रार्थना नहीं करती। इस दुष्ट ने जिनकी स्त्री का अपमान किया है, वे गन्धर्व ही इसे उचित दण्ड देंगे।"

द्रौपदी जानती थी कि भीमसेन के सिवा और कोई इस अपमान का बदला लेने के लिए तैयार न होगा। और सब लोग तो अनेक प्रकार के सोच-विचार करके अपना क्रोध दबा लेंगे, पर भीमसेन किसी प्रकार नहीं मानेंगे।

रात के समय द्रौपदी भीमसेन के पास गई। भीमसेन को सोते देखकर द्रौपदी को बहुत अधिक क्रोध आया। क्रोध आने की बात ही थी। उसने सोचा कि स्त्री का इस प्रकार का अपमान देखकर भला कौन-सा तेजस्वी स्वामी होगा जो इस प्रकार सुख की नींद सोवेगा? द्रौपदी ने कहा, "वृकोदर! तुम्हें धिक्कार है। तुम क्या सुख से सो रहे हो! तुम जीवित हो या मृत? किसी जीवित पुरुष की स्त्री का इस प्रकार अपमान करके कीचक किसी प्रकार जीता बच सकता था?"

द्रौपदी की आवाज सुनकर भीमसेन जाग उठे। वह द्रौपदी

को धैर्य देने लगे। परन्तु द्रौपदी का मन किसी प्रकार की सांत्वना से शान्त होता ही नहीं था। वह रोष और क्रोध से कहने लगी, "यह मेरा बड़ा भारी दुर्भाग्य है कि तुम्हारे जैसे स्वामी की स्त्री होकर भी मुझे इतना बड़ा अपमान सहना पड़ा। तुम तेजस्वी वीर होकर भी अपनी स्त्री का ऐसा अपमान इस प्रकार चुपचाप सह रहे हो! भला, मैं तुमसे अब और क्या कहूँ? तुम्हें यह हीनता और दुर्दशा दिखलाई नहीं देती? पासा फेंकने में अपना सर्वस्व गँवाकर भी युधिष्ठिर फिर वही पासा फेंकने में अपने दिन बिता रहे हैं। जिन हाथों से तुमने हिडिम्ब, बक आदि राक्षसों का वध किया है, उन्हीं हाथों से तुम राजा विराट के लिए भात पकाया करते हो। जो अर्जुन अपने वज्र जैसे कठोर हाथों से धनुष धारण किया करते थे, उन्हीं हाथों में आज उन्होंने चूड़ियाँ पहन ली हैं। जिसके हुँकार से युद्ध-क्षेत्र में शत्रु काँप उठते थे, वही आज अन्तःपुर की कन्याओं को गाना सुनाकर तृप्त हो रहे हैं। जिन पैरों के भार से पृथ्वी काँप उठती थी, आज वही पैर राजा विराट की कन्याओं को नाचना सिखा रहे हैं। जिस मस्तक पर उज्ज्वल किरीट शोभा दिया करता था, वही मस्तक आज साड़ी के नीचे ढका हुआ है। और यह सब दुर्भाग्य मैं अपनी आँखों से देख रही हूँ! मैं अपनी बात क्या कहूँ? एक दिन वह था जब कि पृथ्वी मेरे अधिकार में थी, और एक आज का दिन है कि मैं सुदेष्णा की दासी बनी हुई हूँ! जिन हाथों से मैं केवल आर्या कुन्ती के सिर में तेल डाला करती थी, उन्हीं हाथों से मुझे सुदेष्णा के माथे पर चन्दन लगाना पड़ता है और सुदेष्णा का शरीर दबाना पड़ता है। हे भीम! और चाहे जो हो, पर आज का अपमान मुझ-

से सहा नहीं जाता । जबतक कीचक जीता है तबतक अपने पातिव्रत की रक्षा के विचार से मैं इस नगर में एक घड़ी भी नहीं ठहर सकती। तुमने अपनी आँखों से सब-कुछ देखा है और सारी अवस्था भी तुम समझ चुके हो। तुम इसका कोई उपाय करो । तुम जल्दी से कीचक का बध कर डालो; नहीं तो मैं जहर खाकर मर जाऊँगी । इस प्रकार का घृणित और लज्जित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मर जाना हजार दर्जे अच्छा है।"

भला द्रौपदी इससे अधिक क्या कह सकती थी ? भीमसेन ने कहा—"द्रौपदी, अब तुम और कुछ मत कहो। मैं कल ही कीचक को मार डालूँगा । तुम जाकर कीचक से कहना कि मैं कल रात को नृत्यशाला में आपसे मिलूँगी—और, तुम्हारे बदले मैं स्त्री का वेश धारण करके वहाँ पहुँच जाऊँगा और उस दुरात्मा कीचक का बध करके तुम्हें इस आपत्ति से सदा के लिए मुक्त कर दूँगा।"

भीमसेन की इस सलाह के अनुसार द्रौपदी ने कीचक से कह दिया कि मैं रात को तुमसे नृत्यशाला में मिलूँगी। तदनुसार रात के समय कीचक बहुत प्रसन्नता से नृत्यशाला में पहुँचा और वहाँ वह भीमसेन के हाथों मारा गया।

कीचक का बध करके और उसके हाथ, पैर, मुँह सब शरीर के अन्दर घुसाकर और उसे अच्छी तरह कुबड़ा बनाकर भीमसेन अपने स्थान पर चला गया । सवेरे सब लोग कीचक का मृत शरीर देखकर बहुत ही विस्मित हुए। किसीको यह पता ही नहीं चला कि किसने कीचक का हत्या की और किसने उसके मृत

शरीर की यह दुर्दशा की। द्रौपदी ने सब लोगों से कह दिया कि कीचक ने मेरा जो अपमान किया था उसीका बदला चुकाने के लिए मेरे गन्धर्व स्वामियों ने उसकी यह दुर्दशा की है।

कीचक के एक-सौ-पाँच भाई थे। उन्हें लोग उपकीचक कहा करते थे। कीचक की मृत्यु से उपकीचक बहुत क्रुद्ध हुए और वे कीचक के मृत शरीर के साथ जलाने के लिए द्रौपदी को भी बाँध ले गये। यह सुनकर भीम ने अपना वेश बदल लिया और गन्धर्वों के वेश में उन्होंने उपकीचकों पर आक्रमण करके उन सबका संहार कर डाला। उन लोगों के हाथों से छूटकर द्रौपदी फिर राजा विराट के महल में जा पहुँची।

जिस समय द्रौपदी ने अन्तःपुर में प्रवेश किया, उस समय अर्जुन नृत्यशाला में राज-कन्याओं को नृत्य सिखला रहे थे। द्रौपदी को देखकर अर्जुन हँस पड़े और उन्होंने उसके साथ बातें करके उपकीचकों के बध का हाल जानना चाहा। द्रौपदी ने व्यंग्यपूर्वक कहा—"बृहन्नला! तुम नाचो-गाओ। सैरन्ध्री की बात से तुम्हें क्या मतलब? मेरा दुःख तुमसे सहा नहीं जाता, इसीलिए न तुम हँस रहे हो?"

अर्जुन ने द्रौपदी को बहुत समझाया और मीठे वचनों से उसे धैर्य बँधाया।

द्रौपदी के कारण ही कीचक और उपकीचकों का बध हुआ था। राजा विराट ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि इस सैरन्ध्री के कारण कोई और भारी आफ़त आ खड़ी हो, इस लिए उन्होंने रानी को आज्ञा दी कि तुम इसे निकाल दो। जब द्रौपदी आई, तब सुदेष्णा ने उससे कहा, "बेटी! तुम्हारा रूप बहुत ही सुन्दर है

और पुरुषों का मन बहुत ही चंचल हुआ करता है। इसके सिवा तुम्हारे गन्धर्व भी बहुत अधिक बलवान हैं। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे यहाँ रहने से हम लोगों पर कोई और नई विपत्ति आ पड़े। इसलिए अब तुम यहाँ से और कहीं चली जाओ। तुम्हारी जैसी सैरन्ध्री का हमारे यहाँ काम नहीं है।"

अब पाण्डवों के गुप्तवास की अवधि समाप्त होने में थोड़ा ही समय बाकी रह गया था। इसलिए द्रौपदी ने उससे तेरह दिन का समय और माँगा। मारे भय के सुदेष्णा इन्कार न कर सकी।

पाण्डवों के गुप्तवास का समय भी पूरा हो गया। अब पाण्डवों ने अपना राज्य वापस माँगने के लिए श्रीकृष्ण को दूत के रूप में दुर्योधन के पास भेजा। परन्तु बिना युद्ध किये सुई की नोक के बराबर भी ज़मीन देने के लिए दुर्योधन तैयार न था, इसलिए कुरुक्षेत्र में महायुद्ध आरम्भ हुआ। अठारह दिनों तक वह युद्ध चलता रहा। उस युद्ध में कुरुवंश प्रायः निर्मूल हो गया।

जब दुर्योधन की जाँघ टूट गई, तब द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा रात के समय पाण्डवों के शिविर में आकर द्रौपदी के पाँच पुत्रों की हत्या कर गया। जब इस प्रकार अन्यायपूर्वक पुत्रों की हत्या हुई तब द्रौपदी को दुःख की अपेक्षा क्रोध ही अधिक हुआ। इसका बदला चुकाने की प्रबल अग्नि तेजस्विनी द्रौपदी के हृदय में प्रज्वलित हो उठी। उसने बहुत ही तीव्र शब्दों में पाण्डवों से कहा, "अश्वत्थामा गीदड़ों की तरह रात के समय हमारे शिविर में घुस आया और मेरे सोये हुए वीर पुत्रों की हत्या कर गया। यदि तुम लोग तुरन्त ही उसे उचित दण्ड न दोगे तो मैं अन्न-जल परित्याग कर अपने प्राण तज दूँगी।" युधिष्ठिर ने द्रौपद को

शान्त करने की बहुत चेष्टा की, परन्तु उसका कुछ भी फल न हुआ।

द्रौपदी ने कहा—"जबतक उस दुष्ट को उचित दण्ड न दिया जायगा तबतक मुझे जरा भी शान्ति न मिलेगी। तुम लोग अश्वत्थामा को मारकर उसके माथे की मणि मेरे पास ले आओ, तब मैं समझूँगी कि उसे उसके पाप का उचित दण्ड मिल गया; नहीं तो नहीं।"

भीमसेन तुरन्त ही अश्वत्थामा के पीछे जा पहुँचे। थोड़ी ही देर में वह उसके माथे की मणि ले आये। अश्वत्थामा उनके अस्त्र-गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र थे, इसलिए उन्होंने उसके प्राण तो नहीं लिए, पर उसके माथे की मणि अवश्य ले आये। यह सुनकर द्रौपदी ने कहा—"तुम्हारे गुरुपुत्र मेरे भी गुरुपुत्र हैं। वह चाहे जो-कुछ करें, पर हम लोगों के लिए वह अवध्य ही हैं। तुम उनके माथे की मणि ले आये, उनके लिए यही दण्ड बहुत है। युधिष्ठिर यह मणि अपने मस्तक पर धारण करेंगे। पुत्रों की हत्या के बदले के चिन्ह-स्वरूप उनके मस्तक पर यह मणि देखकर मुझे बहुत शान्ति मिलेगी।"

बालकों, वृद्धों और विधवा स्त्रियों के सिवा इस महावंश के और सब लोग मारे गये। श्रीकृष्ण ने धर्मराज का अभिषेक करके उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठाया और इस प्रकार पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना की। कृष्णा साम्राज्ञी बन धर्मराज के बाईं ओर सिंहासन पर बैठी। इतने दिनों के बाद अब जाकर उसके हृदय की ज्वाला शान्त हुई और उसके मन का क्षोभ दूर हुआ।

जब अन्धे धृतराष्ट्र और गान्धारी ने देखा कि इस प्रकार हमारे वंश का सर्वनाश हो गया, तब वे संसार छोड़कर वन में चले गये। कुन्तीदेवी और विदुर भी उनके साथ तपस्या करने के लिए चले गये।

इस महायुद्ध में बहुतसे वंशों का नाश हुआ। इस पाप के भय से धर्मराज के मन में भी बहुत अधिक खेद और ग्लानि उत्पन्न हुई। श्रीकृष्ण और ऋषियों के परामर्श से उन्होंने अश्वमेध-यज्ञ करके इन सब पापों का प्रायश्चित्त किया। सारी पृथ्वी कृष्ण और पाण्डवों के यश के गीत गाने लगी।

अश्वमेध-यज्ञ करने से पाण्डवों का पाप तो दूर होगया, परन्तु कुरुक्षेत्र में अपने असंख्य जाति-भाइयों और बन्धुओं की जो हत्या हुई थी उसके कारण धर्मराज के मन में जो दुःख और ग्लानि उत्पन्न हुई थी वह किसी प्रकार दूर न हो सकी। चारों ओर से केवल दीर्घ निःश्वास और हाहाकार की शोकमय ध्वनि निकल-निकलकर उनका हृदय चीरे डालती थी। यों तो देखने में संसार के सभी श्रेष्ठ सुख उन्हें मिल चुके थे, पर उनके हृदय में ज़रा भी शान्ति नहीं थी। किसी काम में उनकी रुचि या उमंग नहीं रह गई थी। वह केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए यंत्र की भाँति सब काम जैसे-तैसे किया करते थे। केवल धर्म-चर्चा करने में ही पाण्डवों का सारा समय बीतने लगा।

कृष्णा ने भी अपने हृदय का भार हलका करने के लिए सब विधवाओं और पुत्रहीन स्त्रियों की सेवा-शुश्रूषा करने में मन लगाया। वह इस पवित्र कार्य के लिए परम उपयुक्त भी थी। वह रोगिणी स्त्रियों की सेवा-शुश्रूषा और चिकित्सा आदि किया करती

थी और शोक-पीड़ित स्त्रियों को मीठे शब्दों में धर्मोपदेश देकर उनका दुःख दूर किया करती थी। जहाँ कहीं वह किसी दुःखी या पीड़ित का समाचार सुनती कि तुरन्त वहाँ जा पहुँचती थी। जब वह देखती कि किसीको किसी चीज की आवश्यकता है तो वह तुरन्त उसकी वह आवश्यकता पूरी करने के लिए तैयार रहती थी। यदि किसीको आश्रय की आवश्यकता होती तो द्रौपदी उसे आश्रय देती थी। जब कभी कोई बीमार पड़ता तब वह उसके पास पहुँचकर उसकी दवा-दारू किया करती थी। इस प्रकार द्रौपदी सारे हस्तिनापुर में सच्ची माता बन गई थी।



५

अर्जुन-पत्नी

सुभद्रा

सुभद्रा का जन्म यादव-कुल में हुआ था। श्रीकृष्ण और बलराम इसके सगे भाई थे। यह अत्यन्त रूपवती थी। प्रेमानन्द के शब्दों में कहें तो, इस विशाल भालवाली मृग-नयनी को बनाकर ब्रह्मा ने हद करदी थी। देवाङ्गना अप्सरा रम्भा भी इसकी रूप-राशि को देखकर लज्जित हो जाती थी। शरत्काल में प्रभात के समय निर्मल जल के ऊपर बाल-सूर्य की लाल-लाल किरणें पड़ने के कारण ताजे खिले हुए कमलों जैसी शोभा होती है। सुभद्रा के सौन्दर्य से भी वैसी ही अलौकिक शोभा चारों ओर फैला करती थी। उसकी चाल में ही कुछ अपूर्व छटा थी। जो लोग उसे देखते, वे यही समझते कि हमारे नेत्र सार्थक होगये।

सुभद्रा केवल परम-सुन्दरी ही नहीं थी, बल्कि रूप के अनुसार ही उसमें श्रेष्ठ गुण भी थे। वह बहुत शान्त, विनयी, नम्र और सदाचारिणी थी। श्रीकृष्ण उसे बहुत प्यार करते थे। उसकी शिक्षा का भार उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ले लिया था। बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण ने उसे निष्कामधर्म का पाठ पढ़ा दिया था। उसके पवित्र हृदय में भोग-विलास के नहीं, बल्कि धर्म के बीज खूब गहरे बोये गये थे। शस्त्र-विद्या का भी

उसे काफी ज्ञान करा दिया गया था। इसके अतिरिक्त वह प्रकृति-देवी की परम उपासक थी। अपनी बाल्यावस्था में ही वह घर से अकेली निकल पड़ती, और रैवतक पर्वत के ऊँचे शिखरों पर बैठकर काले-काले बादलों की क्रीड़ा, सूर्यास्त, वर्षाकालीन बिजली की चमक आदि सुन्दर दृश्यों को घण्टों देखती रहती। सयानी होने पर भी वह अभी कुमारी ही थी। संसार की हवा उसे अभी छू तक नहीं गई थी। स्वार्थ और कुटिलता से वह कोसों दूर थी। उसका हृदय निर्मल दया के सागर के समान था। दरिद्रों का दारिद्रय देखकर उसका हृदय पानी-पानी होजाता, यहाँतक कि अपने शरीर पर के जेवर तक उतार-उतारकर वह उन्हें दे डालती। रोगियों की सेवा करना और दुःखियों को सान्त्वना देना उसे बड़ा प्रिय था। सहानुभूतिशीलता का उसमें असाधारण विकास हो गया था। दुःख-शोक-तप्त स्त्री-पुरुषों के साथ बैठकर उनके साथ रोना, गहरे दर्द के गरम-गरम आँसू बहाना, उसके जीवन का महान् उद्देश्य था। साधु-सन्तों पर भी उसका असीम अनुराग था। उस समय रैवतक पर्वत पर अनेक ऋषि-मुनि रहते थे। सुभद्रा वहाँ जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषा स्वयं करती थी। अपने समस्त अलंकार उनके चरणों में अर्पण कर देती। उस समय यदुकुल में उसके समान कोई लड़की नहीं थी।

बीस वर्ष की अवस्था तक सुभद्रा का विवाह नहीं हुआ था। परन्तु ऐसी सुन्दर और सदाचारिणी राजकुमारी सदा कुँवारी तो नहीं रह सकती। उसके लिए योग्य वर ढूँढना उसके सगे-सम्बन्धियों का काम था और वे लोग अपना यह कर्त्तव्य पूरा करने की चिन्ता में लगे भी हुए थे। सुभद्रा के भाई श्रीकृष्ण की

इच्छा थी, कि उसका विवाह अर्जुन के साथ किया जाय। अर्जुन को जो उन्होंने पसन्द किया था, उसके अनेक कारण थे। अर्जुन एक तो श्रीकृष्ण की सगी भुआ के लड़के थे। सगे मामा और भुआ की सन्तानों में विवाह होने की बात सुनकर सम्भव है हमारे देश की आज-कल की स्त्रियों को कुछ आश्चर्य हो। पर प्राचीन-काल में इस प्रकार के विवाह हुआ करते थे, और अब भी दक्षिण भारत में इस प्रकार का विवाह प्रचलित है। फिर इतना निकट का सम्बन्ध होने के अतिरिक्त, सुभद्रा के भाई श्रीकृष्ण और अर्जुन में बहुत गहरी मित्रता भी थी। दोनों एक-दूसरे के सद्गुणों से भली-भाँति परिचित थे। उन दिनों पाण्डु-पुत्र अर्जुन के समान वीर पुरुष और कोई था भी नहीं। उसके यशोगान चारों दिशाओं में गाये जाते थे। सुभद्रा भी उसकी प्रशंसा सुन चुकी थी। प्राचीन काल की आर्य स्त्रियाँ वीरता की उपासक हुआ करती थीं। अतः सुभद्रा भी अर्जुन के गुणों पर मुग्ध हो चुकी थी और अपने मन में उसीको वर चुकी थी। पर इस समय अर्जुन तो देश-निकाले की सजा भोग रहे थे। जिस प्रसंग के कारण यह सजा मिली, यदि संक्षेप में उसका भी वर्णन यहाँ करदें तो अनुचित न होगा।

पाञ्चाली द्रौपदी से जब पाँचों पाण्डवों का विवाह हुआ, तब यह तय हुआ था कि पाँचों में से जो भाई दूसरे को द्रौपदी के साथ अन्तः-पुर में बैठा हुआ देख ले वह बारह वर्ष तक वनवास का पालन करे। पाँचों भाई इस नियम का पूर्णतया पालन करते थे। परन्तु एक दिन एक ब्राह्मण राज-दरबार में रोता-पीटता आया और उसने फर्याद की कि 'चोर मेरी गायों को लिये जा रहे हैं,' और

उसने गो-रक्षा के पवित्र कार्य में पाण्डवों की सहायता माँगी। अर्जुन ने यह पुकार सुनी। उन्होंने सोचा, "गो-रक्षा करके ब्राह्मण की सहायता करना तो क्षत्रिय का परम-कर्त्तव्य है। परन्तु मेरे हथियार तो युधिष्ठिर के भवन में रक्खे हैं। अब क्या करना चाहिए? भय्या वहाँ द्रौपदी के साथ सो रहे हैं। यदि मैं उस मकान में प्रवेश करता हूँ, तो यह अविवेक होगा। बारह वर्ष तक मुझे वनवास के लिए जाना होगा। और यदि शस्त्र लेने के लिए नहीं जाता, तो गो-रक्षा के पवित्र कर्त्तव्य से भ्रष्ट होता हूँ।" अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचे कि "भय्या के भवन में मेरे प्रवेश करने से अविवेक हो तो भले ही हो, और इसके लिए बारह वर्ष वनवास भोगना हो तो भले ही वह भी भुगतना पड़े।" यह सोचकर वह युधिष्ठिर की सम्मति से उनके अन्तःपुर में गये और अपने शस्त्रास्त्र लेकर ब्राह्मण के बताये मार्ग से चोरों का पीछा करके गौओं को छुड़ा लाये। ब्राह्मण की रक्षा करके अर्जुन घर को लौटे और उस नियम-भंग के लिए अपनेको उचित दण्ड देने के लिए युधिष्ठिर से प्रार्थना की। धर्मराज ने कहा—"छोटा भाई यदि बड़े भाई के अन्तःपुर में प्रवेश कर ले, तो इसमें कोई दोष नहीं है। इसलिए मुझे तो इसका ज़रा भी बुरा नहीं मालूम होता। मेरी बात मानकर तू वनवास का विचार छोड़ दे।" पर अर्जुन ने कहा—"आर्य! आप ही से मैंने सुना है कि धर्माचरण करने में कभी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिए। सत्य के लिए ही मैंने यह युद्ध ठाना है। मैं सत्य से कभी विचलित नहीं हूँगा।" यह कहकर वनवास की दीक्षा लेकर अर्जुन बारह वर्ष के लिए घर से निकल पड़े।

यशस्वी अर्जुन के साथ-साथ वेद-वेदान्त जाननेवाले ब्राह्मण, महात्मा, अध्यात्म-चिन्तक, भक्त, पौराणिक और कथावाचक भी चले। इस वनवास में उन्होंने पहले-पहल नागकन्या उलूपी से विवाह किया। आगे चलकर समुद्र-तीर पर मणिपुर के धर्मज्ञ राजा चित्रवाहन की सुन्दर और दर्शनीय कन्या चित्रांगदा के प्रेम-पाश में बँधकर अर्जुन को उससे भी विवाह करना पड़ा। वहाँ वह दो वर्ष रहे और बभ्रुवाहन नामक एक पुत्र उससे उन्हें प्राप्त हुआ। पर उसे ननिहाल में ही छोड़कर अर्जुन दक्षिण समुद्र के तीर्थों की ओर चले। दक्षिण से लौटकर अर्जुन एकबार फिर मणिपुर आये और पत्नी तथा पुत्र से मिलकर पश्चिम के प्रभास-तीर्थ की ओर चल पड़े।

अर्जुन की यात्रा का समाचार मिलते ही उनके परमसखा श्रीकृष्ण उनसे मिलने के लिए प्रभास पहुँचे। यह हम ऊपर कह ही चुके हैं कि वह अपनी प्यारी बहन सुभद्रा को अर्जुन से ब्याह देना चाहते थे। परन्तु सुभद्रा के विवाह के सम्बन्ध में राजमहल में कुछ मतभेद था। श्रीकृष्ण के साथ-साथ माता-पिता भी सुभद्रा का विवाह अर्जुन से ही करना चाहते थे; पर उनके बड़े भाई बलराम की इच्छा इसके विरुद्ध थी। बलराम की यह जिद थी कि सुभद्रा का विवाह धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के साथ किया जाय। बलरामजी अपनी बहन का विवाह दुर्योधन के साथ करने का आग्रह करते थे, उसका खास कारण यह था कि वह सुभद्रा का विवाह ऐसे पुरुष के साथ करना चाहते थे जिसके मस्तक पर राज-मुकुट विराजता हो। उनकी हार्दिक इच्छा थी, कि मेरी लाड़ली बहन किसी राजा की रानी हो। इसमें सन्देह नहीं कि अर्जुन

बहुत बड़े वीर थे; परन्तु वह पाण्डु राजा के बड़े पुत्र नहीं थे, अतः इस बात की कोई सम्भावना नहीं थी कि राजमुकुट उनके सिर विराजेगा। कौरवों में दुर्योधन सबसे बड़े थे, और वही राज्य के अधिकारी भी थे। आज भी राजा और धनिक पुरुषों की लड़कियों के विवाह पात्र की योग्यता के विचार से अथवा पुत्री के प्रेमाकर्षण का विचार करके शायद ही होते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण ऐसी संकुचित दृष्टिवाले पुरुष नहीं थे। बलराम की पसन्दगी श्री-कृष्ण को जरा भी अच्छी नहीं लगी। दुर्योधन आदि कौरव उनके पूरे पूरे शत्रु तो थे ही, पर साथ ही वे पूरे शठ और जुआरी भी थे। आरम्भ से ही पाण्डवों का सर्वनाश करने की चिन्ता में लगे हुए थे। उन्होंने पाण्डवों को लाक्षागृह में जीते-जी जलाने का प्रपंच रचा था। ऐसे दुष्ट पुरुष के साथ बलराम अपनी प्रिय बहन का विवाह करने के लिए तैयार थे, यह बात श्रीकृष्ण से देखी नहीं गई। बुद्धिमान श्रीकृष्ण कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ने लगे, जिससे बलराम की यह इच्छा पूरी न हो सके। उधर जब सुभद्रा को यह समाचार मिला कि मेरे बड़े भाई उस वर के साथ मेरा विवाह नहीं करना चाहते जिसे मैं पसन्द करती हूँ, तब उसका सुन्दर प्रफुल्लित मुख एकदम कुम्हला गया।

इस तरह सुभद्रा अर्जुन के गुणों पर लुब्ध होकर उन्हींके दर्शनों की अभिलाषा के कारण दिन-रात बेचैन रहती थी। उधर उसी समय अर्जुन भी प्रभास-तीर्थ में जा पहुँचे। वहाँ कुछ यादवों से उनकी मुलाकात हुई। उनसे सुभद्रा के माधुर्य, रूप, गुण आदि की प्रशंसा सुनकर उनके दिल में स्वभावतः उसके लिए अनुराग उत्पन्न हो गया। वह इस चिन्ता में मग्न हो गये

कि यह रत्न कैसे प्राप्त हो । श्रीकृष्ण भी इनसे मिलने के लिए प्रभास तीर्थ पर आये थे । उनके साथ इन्होंने रैवतक पर्वत के रमणीय दृश्यों को देखने में कितना ही समय व्यतीत किया । किसी प्रकार श्रीकृष्ण को भी पता चल गया. कि अर्जुन भी सुभद्रा पर अनुरक्त है । इससे उन्हें बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि 'मैं आगे चलता हूँ; तुम भी साधु का वेश बनाकर द्वारिका आओ । भाई बलराम जरूर तुम्हारा आदर-सत्कार करेंगे । तब मैं किसी युक्ति-द्वारा सुभद्रा को तुम्हारे सुपुर्द कर दूँगा ।'

कृष्ण के बिदा होने पर अर्जुन ने गेरुए वस्त्र धारण करसाधु का वेश बनाया । अर्जुन एक अद्भुत योगी, संत और संन्यासी-से दिखाई देने लगे । उनके चेहरे पर अप्रतिम तेज चमक रहा था । शरीर पर भस्म रमाये वह साधुओं के शिरोमणि दिखाई देते थे । उनके विशाल तेजस्वी भाल-प्रदेश पर दीर्घ जटा और जटा पर पीताम्बर लपेटा हुआ था । कंधे पर व्याघ्र-चर्म तथा व्याघ्र-चर्म के ऊपर गेरुए वस्त्रों में बँधी एक छोटीसी गठड़ी भी पड़ी हुई थी । कण्ठ में सुवर्ण-रुद्राक्षों की माला परम-सुहावनी और उनके कान्तिमान् शरीर पर अनुपम सौन्दर्यशाली प्रतीत होती थी । कटि में पीताम्बर और हाथों में दण्ड-कमण्डलु धारण किया हुआ था । कमर में एक सुन्दर मेखला भी थी । उनकी झोली में भस्म के गोले, पोथी, पुस्तक, मुद्रिका आदि और हाथों में सुवर्ण-कंकण थे । उनका वक्षःस्थल विशाल और आँखें अरुण थीं ।

इस तरह विचित्र वेश बनाकर अर्जुन ने द्वारिका में प्रवेश किया । तमाम नगरवासी उनके अद्भुत रूप को देखकर मोहित हो गये और विस्मयपूर्वक एक-दूसरे से कहने लगे, "यह

योगिराज कैसा तेजस्वी है ? कहीं यह कैलास का भूप, अथवा साधु-वेशधारी इन्द्र, ब्रह्मा या विष्णु तो नहीं है ?"

इन अप्रतिम योगी महाराज के दर्शन करने और चरण छूने के लिए नगरवासियों के झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे। लोग आग्रह करने लगे कि 'महाराज! कृपा कर चातुर्मास-भर यहीं रहिए।' फिर उन्होंने छद्मवेशधारी अर्जुन के लिए एक कुटिया बनवाकर अग्निकुण्ड, बैठक, मण्डप तथा अन्य आवश्यक साधनों की भी व्यवस्था करदी। उनके भोजन के लिए आपस में दिन निश्चित कर लिये। उस मढ़ी में रहते हुए, प्रतिदिन गोमती में स्नान करके वेद-उपनिषदों का पठन करते हुए, वह भावुक यादवों के मकान पर भोजन करके द्वारिका में दिन बिताने लगे। साधु-वेश में रहते हुए अर्जुन ने अनेक रोगियों के रोग मिटाये, अनेक दुःखियों के दुःख दूर किये, अनेक अज्ञानियों के हृदय में ज्ञान-दीप प्रज्वलित किया। अतः बात-की-बात में उनकी कीर्ति ठेठ राज-दरबार तक पहुँच गई। एक यादव ने बलराम के सामने साधुरूपधारी अर्जुन की अद्भुत शक्तियों की तारीफ की। उसे सुनकर बलराम की भी इच्छा हुई कि इस साधु को अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित करें। वह कृष्ण से कहने लगे, "कृष्ण! नगर में जिन साधु की इतनी प्रशंसा सुनाई दे रही है, उनको हम अपने यहाँ भी बुलावें। उन्हें भोजन करावें और उनकी सेवा करें। क्योंकि साधु-सन्तों की सेवा करना क्षत्रियों का परमधर्म है। जाओ, तुम उनको निमन्त्रण दे आओ।"

श्रीकृष्ण भविष्य को जानते थे। साथ ही वह यह भी चाहते थे कि बलराम कहीं उनपर यह दोष न लगायें, कि उन्हें

समय पर सचेत नहीं किया गया। यह सब सोच-विचारकर उन्होंने बलराम को सम्मति नहीं दी ; बल्कि उन्हें सावधान करते हुए कहा—"दादा ! इन साधु-सन्तों से जरा बचकर रहना चाहिए। जिसके दिल में आता है, वही सिर मुँडा लेता है। षड्दर्शनों में बहुतसा पाखण्ड भरा पड़ा है। साधु तो थोड़े होते हैं, ढोंगी ज्यादा। कोई-कोई ज्ञानी या ध्यानी होता है, पर लम्पट और दाम्भिक अक्सर बहुत होते हैं। संसार के विषयों को जानने और समझनेवाले तथा परमेश्वर को सचमुच माननेवाले लोग विरले ही होते हैं।"

पर बलराम बड़े श्रद्धालु थे। उनके दिल में यह बात नहीं जँची। उन्होंने सोचा—कृष्ण का तो स्वभाव भी 'कृष्ण' है, व्यर्थ साधुओं की निन्दा करता रहता है। एक संन्यासी से आशीर्वाद प्राप्त करने के यादव कुल के काम में यह व्यर्थ ही रोड़े अटकाता है। यह सोचकर उन्होंने श्रीकृष्ण को कई ऊँची-नीची बातें सुनाईं। तब श्रीकृष्ण ने इस बात के समझाने का प्रयत्न विशद-रूप से किया कि अनजान साधु-सन्तों को क्यों निमंत्रित नहीं करना चाहिए—"भाई, मैं आपसे इन संन्यासियों की बात कहता हूँ। वेश तो इन सबका एक-सा होता है, पर इनकी जाति को कोई नहीं जान पाता। इनमें कई दंडी, पाखण्डी, उन्मत्त और भोगी आते हैं। सिर मुँडाया और चले मुफ्त की रोटी माँगने। घर पर तो पेट नहीं भरता, और दूसरे के यहाँ जाकर अतिथि और देवता बन जाते हैं। जहाँ भोजन मिला वहीं अपना आसन जमा दिया। भैया ! जो सच्चे वैरागी और सिद्ध होते हैं, वे जंगल में जाकर बैठते हैं। गाँव-गाँव भीख माँगते नहीं फिरते। हाँ, यह बात

आनी, कि जो सचमुच अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं वे जरूर प्रभु-स्वरूप होते हैं।"

पर इस प्रकार साधुजनों की निन्दा को बलराम कैसे सुन सकते थे? उन्होंने श्रीकृष्ण को उनकी इस अश्रद्धालुता पर खूब फटकारा। तब श्रीकृष्ण ने बड़ी खूबी के साथ क्षमा माँगकर कहा—"यदि ऐसा है तो जाइए, आप ही बुला लीजिए उनको। हाँ, आप कहें तो मैं भी साथ चला चलूँगा।"

बलराम, श्रीकृष्ण और अन्य इष्ट-मित्र मिलकर योगी की कुटी पर पहुँचे। अर्जुन ने उनको आशीर्वाद देकर आगमन का प्रयोजन पूछा। बलराम ने बड़े भक्ति-भाव से कहा—"महाराज! आज राजमहल में प्रसाद पावें, यह प्रार्थना है।" अर्जुन ने निस्पृह बनकर कहा—"बलराम, हमें राजमहलों में जाने से क्या प्रयोजन है? हमारे लिए तो राजा-रंक सभी समान हैं। ये गेरुए वस्त्र धारण करने पर अब सूखी रोटी और पंचपक्वान्न, राजमहल और झोंपड़ी हमारे लिए एक है। मैं इस नगर में आज कई दिन से भोजन करता हूँ, वह एक तरह से तुम्हारा ही है। जिस दिन से मैंने इस आश्रम में प्रवेश किया है, यह निश्चय कर लिया है कि कभी राजमहल में नहीं जाना चाहिए। वहाँ जाने पर आसपास लुभावनी सामग्री को देखकर वीतरागी का मन भी कभी-कभी चंचल हो ही जाता है। गृहस्थ-घर की रचना भी देखकर योगी की तपस्या हवा हो जाती है। इसलिए मैं आपसे कहता हूँ, हम यहीं अच्छे हैं। संन्यासी को स्वाद नहीं करना चाहिए। जो आ जाय सो खा लेना चाहिए।"

बहुत कहने सुनने पर अन्त में अर्जुन ने निमन्त्रण कबूल किया,

पर एक शर्त पर। उन्होंने कहा—"मैं जहाँ कहीं भोजन के लिए जाता हूँ, मेरी एक शर्त रहती है। कुमारिका के हाथ का परोसा हुआ अन्न ही मैं खा सकता हूँ। यह संभव नहीं कि सभी जगह इस व्रत के पालन की सुविधा हो। इसीलिए मैं इतनी देर से आनाकानी कर रहा हूँ।"

बलराम ने कहा—"ऊँह! इससे अधिक आसान और क्या हो सकता है? सुभद्रा नामक मेरी एक बहन है। वह कुमारिका ही है। साधु-संन्यासी तथा अतिथियों का सत्कार करने का उसे शौक़ भी खूब है। वही आपको भोजन परोसेगी और आपकी सेवा-टहल भी करती रहेगी।"

सुभद्रा का नाम सुनते ही अर्जुन तो भीतर-ही-भीतर खूब प्रसन्न हो गये। अब क्या देर थी। झट से उठाया दण्ड-कमण्डलु और साथ हो लिये। बलराम कृतार्थ हो गये। अतिथि का रूप और तेज देखकर समस्त महल-निवासी प्रसन्न हुए। भाई की आज्ञा पाकर सुभद्रा भी वहाँ आ गई और भक्ति-भाव से अतिथिदेव के में चरणों में प्रणाम किया। उसे देखते ही अर्जुन का चित्त अपने हाथ से जाता रहा। सोचने लगे—"अरे, यह तो विधि की कोई अनुपम कृति है! देवांगना, अप्सरा, रम्भा आदि सब इसके अलौकिक सौंदर्य के सामने तुच्छ हैं। यह अगर मुझे मिल जाय! मिल जायगी, यदि परमात्मा अनुकूल होंगे। अभी इतने तीर्थों में चक्कर मारकर गोते लगा-लगाकर आया हूँ। यह सब पुण्य वृथा थोड़े ही हो सकता है।"

अन्तःपुर में शुद्ध जल लाकर सुभद्रा ने अर्जुन के हाथ-पैर धुलाये। शरीर पर की विभूति छूटते ही अर्जुन की अंग-कान्ति

चमकने लगी। मानों बादलों में से चाँद निकला हो। सुभद्रा ने अपने मन में कहा—"यह तो कोई महान राजपुरुष है। इसकी अद्भुत अंग-कान्ति को देखकर तो कामदेव भी लज्जित हो जायगा। यह तो कोई अधिराजा मालूम होता है। पर उसने यह छद्मवेश क्यों धारण किया होगा? अथवा स्वयं भगवान त्रिपुरारि, ब्रह्मा या साक्षात् भगवान् नारायण तो न हों? परमात्मन, मेरे व्रत-नियम सफल करना!"

इस अतिथि का प्रथम सत्कार करते-करते ही सुभद्रा ने मन-ही-मन अपना हृदय उसे अर्पण कर दिया—'यदि वरूँगी तो इन्हीं को, अन्यथा आजन्म कुमारी रहूँगी।' भगवती जगज्जननी की प्रार्थना करते हुए उसने कहा—"माता! मुझपर दया करो। मेरी यह प्रार्थना सुन लो। माँ! दया करो, मैं तुम्हारे व्रत करूँगी, खूब व्रत करूँगी। माँ, मान जाओ!" उधर अर्जुन के चित्त की भी यही दशा हो रही थी। वह करने बैठे थे भोजन, पर उनका सारा चित्त सुभद्रा ही में था। दोनों के हृदयों ने नयन-संकेत-द्वारा एक-दूसरे से बात-चीत करली। सुभद्रा की माता भी कन्या के दिल को पहचान गई। उसे भी यह विश्वास होगया कि यह योगी-वेशधारी पुरुष सचमुच कोई गुणवान राजपुत्र है। वह अपनी कन्या की अभिलाषा पूरी करने को तैयार भी थी; पर सवाल था बलराम का। वह तो उसे दुर्योधन को ही व्याहने की तैयारी कर रहे थे। यह देखकर सुभद्रा को अपार दुःख हुआ। वह एकान्त में बैठकर सोचने लगी—"अब क्या करना चाहिए? जो हृदय अर्जुन के चरणों में समर्पित कर चुकी हूँ, जिसमें अर्जुन की मूर्ति की दृढ़तापूर्वक स्थापना हो चुकी है, उसमें से उस पवित्र-

मूर्ति को उखाड़कर एक दूसरी ही प्रतिमा को मैं कैसे स्थापित कर सकूँगी ? दान की वस्तु तो एकबार ही दी जाती है। उसे वापस लेकर पुनः दूसरी बार भी कभी दान दिया जा सकता है ? यदि यह हो भी सकता हो, तो यहाँ अब यह अधिकार है किसे ? हृदय का दान करते ही उसपर से मेरा अधिकार तो उठ गया। अब धर्मशास्त्र के अनुसार मेरी उसपर क्या सत्ता है ? और यदि धर्मशास्त्र ही का उल्लंघन हो रहा हो, तो ऐसा पशु-जीवन व्यतीत करने से लाभ ही क्या ? ऐसा जीवन तो भार-स्वरूप अन्धकारमय पश्चात्ताप की सुलगती हुई अग्नि के समान है। धर्म ही के कारण तो मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। यदि मैं अपने नारी-धर्म की अवगणना करके अपने इच्छित-वर को छोड़कर दूसरे को वरूँ, तो मेरे जीवन को धिक्कार है। ऐसे जीने से तो मर जाना हजार बार अच्छा। अपने धर्म-कर्म की पूर्ति के लिए मैं अर्जुन से विवाह करना चाहती हूँ। अर्जुन को मैं आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ। अब इस शरीर से तो मैं दूसरे की नहीं हो सकती। अब मैं अपने हृदय में और किसीकी मूर्ति को स्थान नहीं दूँगी।"

सुभद्रा के मनोभाव अर्जुन को भी किसी प्रकार मालूम हो गये। सुयोग मिलते ही दोनों ने अपना-अपना हृदय एक-दूसरे के सामने खोलकर रख दिया। यह निश्चय कर लिया कि जिस प्रकार हो सके, श्रीकृष्ण की सलाह लेकर विवाह कर ही लेना चाहिए। श्रीकृष्ण बड़े चतुर और कूटनीति में निपुण थे। उन्होंने कहा—"एक मार्ग है। तुम राजकन्या का हरण करके बाद में उससे विवाह कर लो। क्षत्रिय के लिए यह अनुचित भी नहीं है। कल रैवतक पर्वत पर मेला है। वहाँ किसी बहाने चले

जाओ और सुभद्रा भी अन्य यादव महिलाओं के साथ मेरे रथ में बैठकर रैवतक का पूजन करने चली जाय। लौटते समय तुम उसका हरण करके भाग जाना।" यह विचार अर्जुन को भी बड़ा पसन्द हुआ। उन्होंने वैसे ही अपने भक्तों से कह दिया, कि "मैंने सुना है, रैवतक पर्वत के पास कहीं उत्सव है। मैं भी वहाँ जाना चाहता हूँ। कल जाने से शायद अच्छा स्थान न मिले। अतः मैं आज रात में ही वहाँ चला जाऊँगा।"

बलराम ने सुभद्रा को भी श्रीकृष्ण के रथ में बैठाकर पर्वत पर भेजने का प्रबन्ध कर दिया। माता तथा बड़े भाई का आशीर्वाद लेकर सुभद्रा श्रीकृष्ण के रथ में बैठकर रैवतक का मेला देखने के लिए पर्वत की ओर चली। प्रवास के आरम्भ ही में बड़े अच्छे-अच्छे शकुन हुए और उसे अपने मनोरथ की सफलता की आशा बँध गई।

वायुवेग से रथ शहर के बाहर आ पहुँचा। अन्य यादवों के रथ भी पूरे वेग से दौड़ते हुए राह में मिले। दारुक ने घोड़ों को दौड़ाकर अपना रथ उनसे आगे निकाल लिया। दूर से साधु का झण्डा सुभद्रा को दीखा और उसकी फहराती हुई पताका की तरह उसका हृदय मारे आनन्द के पुलकित हो उठा। अब दारुक को किसी प्रकार टालने की इच्छा से सुभद्रा ने अपना एक नूपुर नीचे गिराकर उसे लाने के लिए दारुक को भेज दिया और घोड़ों की बागडोर अपने हाथ में लेकर रथ को वायुवेग से दौड़ा दिया। बेचारा दारुक पुकारता ही रह गया और इधर रथ ठेठ अर्जुन के अखाड़े के पास आ पहुँचा। वैसे ही अर्जुन अपने गेरुए वस्त्रों को फेंककर रथ पर चढ़ गये और रथ हवा हो गया। अब

दारुक ने पुकारना शुरू किया, कि 'अरे दौड़ो, वह धूर्त साधु सुभद्रा को ले भागा !' सारे मेले में हाहाकार मच गया। यादव शस्त्र ले-लेकर अर्जुन का सामना करने के लिए दौड़े। बात-की-बात में समाचार बलराम तक पहुँचे। उन्हें सिर से पैर तक आग लग गई! तुरन्त ही अपने कुछ सैनिकों-सामन्तों को बटोरकर वह अर्जुन का पीछा करने के लिए दौड़े। इन लोगों को अपने पीछे दौड़ता हुआ देखकर अर्जुन ने सुभद्रा से कहा, "प्रिये, तू घोड़ों की बागडोर थामकर जरा सारथी बन जा, तबतक मैं युद्ध करता हूँ।" पर इस समय सुभद्रा को लज्जा ने धर दबाया। उसने कहा, "बड़े भैया से युद्ध करते समय उनके देखते मुझसे यह काम नहीं होगा।" सुभद्रा का यह उत्तर सुनकर अर्जुन ने अपने एक पैर से लगाम पकड़ी और पीछे मुँह फेरकर युद्ध करना शुरू किया। पर इससे उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। सुभद्रा उनके इस दुःख को नहीं देख सकी। अब व्यर्थ की लज्जा छोड़कर घोड़ों की लगाम पकड़ने को वह तैयार हो गई, और अश्वविद्या में अपना अपूर्व कौशल दिखाने लगी। बीच-बीच में वह बार-बार पीछे मुड़कर यह भी देखती जाती थी, कि भैया की फौज कहाँतक आई है और वह क्या कर रही है। साथ ही एक वीरांगना को शोभा देने-योग्य शब्दों में अपने पति को उत्साहित भी करती जाती थी। इस तरह रथ को वायु-वेग से दौड़ाते-दौड़ाते वे दोनों द्वारिका राज्य की सीमा को लाँघ गये।

अब बलराम निराश हो गये। श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाते हुए कहा—"भय्या ! विधि के अंक अमिट होते हैं। वे किसीके मिटाये नहीं मिटते। अगर विधि ने यही लिखा है कि दोनों

का विवाह हो, तो हमारे किये क्या हो सकता है ? फिर सुभद्रा का विवाह तो एक बड़े ही योग्य वर से हुआ है। वह कोई बेगाना नहीं है। वह हमारी कुन्ती भुआ का बेटा अर्जुन ही तो है ! वह मेरा मित्र है। मैं उसे पहचानता हूँ। उसके समान वीर पुरुष आज शायद ही संसार में कोई हो। फिर सुभद्रा भी तो अपना हृदय उसे अर्पण कर चुकी थी। हमारी प्यारी बहन की इच्छा के विपरीत उसका ब्याह करने का हमें कोई अधिकार नहीं था। इस-लिए जो हुआ, सो अच्छा ही हुआ है। आप राग-द्वेष को शान्त करके द्वारिका लौट चलिए।"

श्रीकृष्ण की सलाह सुन लेने पर बलराम को कुछ शान्ति हुई। उन्होंने कहा, "जब सुभद्रा अपने मन से अर्जुन को वर चुकी थी, तब हम उसमें क्या कर सकते हैं ? परमात्मा दोनों को सुखी रक्खें ! जो कुछ होना था सो हो गया। विधाता की लकीर मिट थोड़े ही सकती है। अब व्यर्थ का संग्राम करने से क्या फायदा ? पर भाई, अब मैं एक बार सुभद्रा से मिलना चाहता हूँ। उसे मिलाने की कोई तजवीज करो। मुझे अर्जुन पर अब तनिक भी रोष नहीं है।"

इस तरह शान्त हो जाने पर श्रीकृष्ण की सलाह से बलराम ने अर्जुन को बुलाया। फिर कृष्ण ने उन दोनों का यथाविधि विवाह कर दिया। इस अवसर पर सत्यभामा ने अर्जुन से कहा, "अर्जुन ! बड़े यत्नपूर्वक मैं इस रत्न का पालन-पोषण और रक्षा करके आज इसे तुम्हारे हाथों में सौंपती हूँ। तुम्हारे भाई ने मुझे कई बार कहा है कि तुम्हीं इस रत्न को धारण करने-योग्य हो, और मैं भी इस बात को मानती हूँ। अतः तुम इसके प्रति अपने कर्त्तव्य का

पालन करना। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना कि कहीं तुम्हारी लापरवाही के कारण मेरे इस सुकुमार फूल को ताप न पहुँचे।"

विवाह होजाने पर अर्जुन पूरे एक वर्ष अपने ससुराल में ही रहे। बाद में वनवास के शेष दिन बिताने पुष्कर आदि तीर्थों को चल दिये। अवधि समाप्त होते ही फिर द्वारिका लौट आये। माताजी तथा द्रौपदी आदि से मिले बहुत दिन हो गये थे। इसलिए सबसे बिदा होकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये। समस्त गुरुजनों को प्रणाम किया। ब्राह्मणों का पूजन-अर्चन किया। सुभद्रा ने सास तथा अन्य गुरुजनों को प्रणाम किया। सास ने उसका मस्तक सूँघकर आशीर्वाद दिया। द्रौपदी ने उसका सत्कार एक प्रेमालिंगन-द्वारा किया और आशीर्वाद दिया कि "तेरा पति अजेय हो!"

ससुराल में रहने का सुभद्रा के लिए यह पहला ही मौका था। इन्द्रप्रस्थ को देखकर वह मुग्ध हो गई। वह शहर उसे खूब भाया। द्वारिका में अर्जुन की कृष्ण-भक्ति देखकर उसने यह सोचा था की ससुराल पहुँचने पर मैं इनकी सहायता से कृष्ण-भक्ति का और भी प्रचार करूँगी। पर यहाँ आने पर तो उसने देखा कि महाराज युधिष्ठिर की कृष्ण-भक्ति अर्जुन से भी बढ़कर थी। अन्य पाण्डव भी दिन-रात कृष्ण-भक्ति में लीन रहते थे। और पाण्डव-महिषी द्रौपदी की कृष्ण-भक्ति तो असीम थी। यह सब देखकर सुभद्रा तो मुग्ध हो गई।

श्रीकृष्ण की बहन समझकर सुभद्रा को पाण्डवों के घर पर बड़े लाड़-प्यार से रक्खा गया। माता कुन्ती उसे अपनी लड़की

के समान समझती, और द्रौपदी अपनी सगी छोटी बहन। शीघ्र ही इन्द्रप्रस्थ के राजमहल में तथा बाहर भी सबके हृदय में सुभद्रा ने अपना स्थान ग्रहण कर लिया। कोई उसकी सेवा से प्रसन्न होता तो कोई उसकी सुश्रूषा देखकर मुग्ध हो जाता। कोई उसकी श्रीकृष्ण-भक्ति देखकर प्रसन्न हो जाता तो कोई उसके स्नेह, ममता इत्यादि गुणों पर रीझ जाता। उसकी परोपकार-वृत्ति, उदारता, महानुभावता और स्वधर्म देखकर तो सब चकित हो जाते। इस तरह इन्द्रप्रस्थ में छोटे-बड़े सब सुभद्रा के भक्त और प्रशंसक बन गये। ऐसी सद्गुणी बहू को अपने घर में आई हुई देखकर स्वयं युधिष्ठिर भी उसका आदर करते थे। यही नहीं; श्रीकृष्ण के पास रहकर राजनीति में प्रवीणता प्राप्त करनेवाली अपनी इस वधू की वह राजनीति के जटिल मामलों में सलाह भी लिया करते।

इस तरह अर्जुन और सुभद्रा आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। सुभद्रा की पतिभक्ति की प्रशंसा चारों तरफ़ फैल गई। एकबार सनक ऋषि उसके पातिव्रत्य की महिमा सुनकर उसके महल पर गये। सुभद्रा ने ऋषि का बड़ी अच्छी तरह सत्कार किया, तथा भोजन आदि कराके उन्हें बिदा किया। ऋषि का पूजन करते समय सुभद्रा के माथे में लगा हुआ सिन्दूर ऋषि के कपड़े को लग गया। उसे देखकर ईर्ष्यालु स्त्रियों ने उसे व्यर्थ ही बदनाम कर दिया। पर सुभद्रा का हृदय शुद्ध था। उसने तो अपने पति को छोड़कर अन्य किसी पुरुष का स्वप्न में भी विचार नहीं किया था। मिथ्या प्रवाद को दूर करने के लिए सुभद्रा ने परमात्मा से प्रार्थना की—और, कहा जाता है, इसके उत्तर में यह देव-वाणी

हुई थी कि सुभद्रा पवित्र और निष्कलंक है। इससे सबको उसके सतीत्व पर विश्वास हो गया।

कितने ही वर्ष पति-सहवास में व्यतीत करने पर सुभद्रा के एक पुत्र हुआ। उसका नाम अभिमन्यु रक्खा गया। जब अभिमन्यु बालक था, तब दुर्योधन और शकुनी के कपट से युधिष्ठिर जुए में हारकर भाइयों तथा सती द्रौपदी सहित वनवास में चले गये थे। पुत्र की रक्षा और शिक्षा के खयाल से सुभद्रा अभिमन्यु को लेकर द्वारिका चली गई। वहाँपर अभिमन्यु की शिक्षा का भार श्रीकृष्ण ने अपने हाथों में लिया। सुभद्रा प्रारम्भ से ही वीर-धर्म की उपासक थी। अर्जुन-जैसे पुरुष से विवाह करके उसने इस वीर-धर्म को पुष्ट किया था। उसने गर्भावस्था में ही बच्चे पर वीरता के संस्कार डाले थे। बलराम, सात्यकि आदि वीरों की शिक्षा के कारण अभिमन्यु अपनी बाल्यावस्था ही में एक अद्वितीय वीर हो गया।

सुभद्रा के समान स्त्री जिसकी माता हो, अर्जुन-सा धनुर्धर जिसका पिता हो और भगवान चक्रपाणि श्रीकृष्ण के समान मामा और शिक्षक हों, भला वह बालक भी संसार का अद्वितीय वीर न होगा तो और कौन हो सकता है?

पाण्डवों के वनवास के आखिरी वर्ष में विराट राजा की कन्या उत्तरा के साथ अभिमन्यु का विवाह हुआ। सुभद्रा ने अपने पुत्र और पुत्र-वधू को आशीर्वाद देकर गोद में बैठाया। पर अब उसे अपने पति से मिलने की इच्छा बड़ी तीव्र हो गई। पाण्डवों के अज्ञातवास का काल भी समाप्त हो गया था। इसलिए श्रीकृष्ण ने सुभद्रा को विराट नगर में भेजने की व्यवस्था कर दी। अभिमन्यु और उत्तरा भी उसके साथ-साथ वहाँ गये।

चलते समय श्रीकृष्ण के चरण छूकर, उनकी चरण-धूलि सिर पर लगाते हुए, प्रार्थनापूर्वक सुभद्रा ने कहा "भैया, भीषण भारतीय युद्ध के बादल हमारे सिर पर मँडरा रहे हैं। ऐसे कठिन समय पर अपने शरणागत भक्तों को न भूलना।"

श्रीकृष्ण ने हँसकर कहा "तू भी निराश्रितों को आश्रय देना न भूल जाना। शरणागतों का रक्षण करने में कभी मत हिचकिचाना। इसीको परमधर्म समझना।"

सुभद्रा विराट-राज्य में जा रही थी। रास्ते में एक नदी पर स्नान करने के लिए जाते हुए उसने देखा कि एक राजवेशधारी पुरुष पास के एक वृक्ष से अपने सुन्दर घोड़े को बाँधकर नदी के पानी में डूबकर आत्म-हत्या करने को है। सुभद्रा ने स्नेहपूर्वक उससे बात-चीत करके उससे ऐसा घोर पापमय संकल्प करने का कारण पूछा। उस पुरुष ने अपनी आँखों में आँसू लाकर उत्तर दिया, "मैं अभागा अवन्ति-पति दण्डीराज हूँ। निराधार हूँ। तीनों लोक में आज कोई मेरी सहायता करनेवाला नहीं मिला। अतः लाचार होकर गंगामैया की शरण लेने का निश्चय किया है।"

सुभद्रा ने कहा -"जरा साफ बताओ, क्या बात है?"

उसने कहा—"यह घोड़ी मुझे प्राणों से भी प्यारी है। इसकी रक्षा के लिए मैं सारे संसार में घूम आया, पर किसीने मुझे सहायता करने का वचन न दिया।"

सुभद्रा—"तो इस घोड़ी के विषय में आपपर ऐसी कौनसी आफ़त आ पड़ी है, जो आपको कोई जरा भी सहायता नहीं करता?"

राजा—"देवी ! द्वारिकानाथ श्रीकृष्ण मेरी इस अश्विनी को बलपूर्वक हरण करना चाहते हैं। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि उनसे युद्ध करके मैं इस घोड़ी को बचा सकूँ। इसीलिए दूसरों से सहायता माँगने के लिए गया था। पर श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही सबने मेरी सहायता करने से इन्कार कर दिया। शरणागत की रक्षा करने का धर्म अब क्षत्रियों के अन्दर से उठ गया है।"

सुभद्रा ने विस्मय-पूर्वक पूछा—"पाण्डवों के पास गये थे ?"

"नहीं।" राजा ने कहा, "वहाँ जाने से फ़ायदा भी क्या ? वे तो सब श्रीकृष्ण के परममित्र हैं। भला, वे क्यों श्रीकृष्ण के विरुद्ध मेरी सहायता करने लगे ? उनके पास जाने से उलटे यह होता कि वे मुझे वहीं क़ैद कर लेते और जबरदस्ती मुझसे घोड़ी छीन-कर श्रीकृष्ण के सुपुर्द कर देते। नहीं माता, अब तो मैं पूर्णतया निराधार होगया हूँ। इसीलिए मैंने आत्म-हत्या करने की सोची है। आप मुझे रोकें नहीं।"

सुभद्रा ने कहा—"नहीं, यह कभी नहीं हो सकता।" और वह विचार-मग्न होगई—"पर यह दूसरे की चीज को जबरदस्ती लेने का मोह बड़े भैया को हुआ कैसे ? ऐसी धर्म-विरुद्ध बुद्धि उन्हें क्यों सूझी ? जरूर इसमें कोई गूढ़ रहस्य होगा। परन्तु चलते समय उन्होंने तो मुझे यह उपदेश दिया था कि शरणागत को आश्रय देना न भूलना। उनके इस उपदेश का पालन करने के लिए उन्हींसे लड़ना पड़ेगा ? अच्छा, मैं लड़ूँगी, पर अपने कर्त्तव्य से मुँह नहीं मोड़ूँगी।"

मन-ही-मन उसने श्रीकृष्ण से कहा - "भैया, आज आपके

उपदेशानुसार चलकर ही मैं निराधार दण्डीराज को आश्रय देकर आपके विरुद्ध आचरण कर रही हूँ। फलाफल मेरा नहीं आपका है।" पश्चात् स्नेहपूर्वक दण्डीराज से कहा "तुमने मुझे माँ कह-कर पुकारा है, अतः तुम मेरे पुत्र के समान हो। मैं किसी भी हालत में तुम्हारा त्याग नहीं करूँगी। आओ, मेरे साथ हो लो। आज से मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। जबतक मेरे शरीर में खून की एक बूँद भी बच रहेगी तबतक न तो तुम्हें और न तुम्हारी घोड़ी को कोई स्पर्श कर सकेगा।"

राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, "माँ, तुम देवी हो या मानवी ?"

सुभद्रा ने कहा—"राजन्, आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मैं तुम्हारे ही समान एक मानव-कन्या हूँ। अभी पृथ्वी निःक्षत्रिय नहीं हो गई। आश्रितों को सहायता देने का क्षात्र-धर्म अभी भूतल से नष्ट नहीं हुआ। तुम निःसंकोच होकर मेरे साथ चलो।"

सुभद्रा आगे बढ़ी, पर दण्डीराज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। अपनी आश्रयदात्री देवी का नाम बिना जाने वह आगे बढ़ना नहीं चाहता था। आखिर सुभद्रा ने कहा—"दण्डीराज! तुम्हारे शत्रु श्रीकृष्ण की बहन, भुवन-विजयी पाण्डव अर्जुन की धर्म-पत्नी और वीर बालक अभिमन्यु की जननी सुभद्रा तुम्हारी आश्रयदात्री है।"

यह सुनकर राजा को और भी आश्चर्य हुआ। वह विचार करने लगा, कि इसके साथ जाऊँ या नहीं ? इतने में सुभद्रा ने अभि-मन्यु को बुलाकर कहा—"बेटा! आज मैंने इस पुरुष को आश्रय दिया है। मैं तेरे सिवा और किसीको आज्ञा नहीं दे सकती।

जा; इस बात का खयाल रखना कि जबतक तेरे शरीर में प्राण है इस अश्विनी का बाल भी बाँका न हो।"

सुभद्रा ने अभिमन्यु को यह भी समझा दिया कि इस घोड़ी की रक्षा करने की प्रतिज्ञा लेकर वह किससे शत्रुता मोल ले रहा है। अभिमन्यु को समझा दिया गया कि अपनी इस प्रतिज्ञा-द्वारा उसे पुत्र से भी अधिक प्यार करने तथा शस्त्र और शास्त्रों का ज्ञान देनेवाले परम-आराध्य मामा श्रीकृष्ण का विरोध करना होगा। साथ ही सुभद्रा ने अभिमन्यु को यह भी कह दिया कि वह एक ऐसे आदमी को आश्रय दे रहा है जिसको संसार के समस्त राजाओं ने आश्रय देने से इन्कार कर दिया था।

यह सब सुनकर अभिमन्यु ने हिम्मत के साथ कहा, "माँ! सारे संसार के लोग मिलकर भी युद्धक्षेत्र में मेरा सामना करने लग जावें तो भी तुम्हारा बेटा पीछे पैर नहीं हटायगा। वह अपने शरणागत का त्याग नहीं करेगा।"

सुभद्रा ने आदरपूर्वक पुत्र का मस्तक चूम लिया और दुःखी राजा को अपने साथ लेकर आगे बढ़ी। विराटनगर पहुँचते ही उसने सारा वृत्तान्त पाण्डवों से कहा। पर सबका यही अभिप्राय रहा कि श्रीकृष्ण-जैसे परम-हितैषी के शत्रु को आश्रय देना जोखम और मित्र-द्रोह का काम है। आखिर सुभद्रा ने कह दिया कि "मैंने यह काम अपने धर्म-बल पर किया है। श्रीकृष्ण की बहन, तीसरे पाण्डव की धर्म-पत्नी और अभिमन्यु की जननी सुभद्रा क्या कभी धर्म को तिलांजलि दे सकती है? क्षत्रियों का सर्वश्रेष्ठ धर्म है निराधार को आश्रय देना। पाण्डवों की कुल-वधू होकर मैं इस धर्म की अवगणना कैसे कर सकती हूँ? भले

ही सारा संसार मेरे विरुद्ध हो जाय, पर मैं अपने धर्म को नहीं छोड़ सकती।"

पाण्डवों को मालूम हुआ कि सुभद्रा की यह निश्चय वाणी पाण्डव-पत्नी को शोभा देने योग्य ही है। क्षात्र धर्म का सच्चा रहस्य समझाने के लिए उन्होंने सुभद्रा को धन्यवाद दिया। सबने प्रतिज्ञा करली, कि "जबतक पाण्डवों के शरीरों में प्राण होंगे, किसीकी हिम्मत नहीं कि वह दण्डीराज के बाल को भी हाथ लगावे।"

अब सुभद्रा निश्चित होगई। पाण्डवों ने दण्डीराज का रक्षण करने की तैयारियाँ शुरू करदीं। इधर श्रीकृष्ण ने भी निश्चय कर लिया कि जिस तरह होगा वह घोड़ी लेकर ही रहेंगे। कृष्ण और पाण्डवों का यह संग्राम रुकना असम्भव होगया। दोनों पक्ष के सहायक अपने-अपने मित्रों से जा मिले। श्रीकृष्ण की तरफ से देवता भी संग्राम करने के लिए खड़े हो गये।

दण्डी की यह घोड़ी शापभ्रष्टा उर्वशी थी। दुर्वासा के शाप के कारण वह अश्विनी के रूप में यहाँ-वहाँ घूमती थी। परन्तु शाप देने के बाद उर्वशी के पश्चात्ताप और प्रार्थना से द्रवीभूत हो-कर ऋषि ने उसे यह वर दिया था कि आठ वज्रों का दर्शन होते ही वह शाप से मुक्त हो जायगी। कौरव-पाण्डवों में से किसीको भी इस शाप की कोई खबर नहीं थी।

श्रीकृष्ण ने खूब प्रार्थना, आग्रह और आदेश किया; पर पाण्डवों ने दण्डीराज को नहीं छोड़ा। अन्त में लाचार होकर उन्होंने युद्ध छेड़ दिया। सुभद्रा ने ठीक ही तो कहा था कि धर्म के विरुद्ध तीनों लोक इकट्ठे हो जावें तो भी उन्हें कभी विजय

नहीं मिल सकती। श्रीकृष्ण के पक्ष में विशाल यादव-सेना और देवता भी थे, पर वे पाण्डवों को हरा नहीं सके। भीषण संग्राम छिड़ा, पर वह जम नहीं पाया। ज्योंही आठ वज्र इकट्ठे हुए, अश्विनी अपना रूप छोड़कर सुन्दर अप्सरा हो गई और उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। तब सुभद्रा ने आगे बढ़कर युद्ध रोक दिया। श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर पाण्डवों से मिले और अपनी भगिनी को उसके उच्च धर्म-ज्ञान पर धन्यवाद दिया।

× × ×

कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान मे कौरव-पाण्डवों की सेनायें खड़ी हैं। भारत के भिन्न-भिन्न राजा अपनी-अपनी सेना लेकर कोई पाण्डवों के पक्ष में तो कोई कौरवों के पक्ष में जाकर शामिल हो गये। श्रीकृष्ण ने दोनों को सन्तुष्ट रखने के लिए दुर्योधन को अपनी समस्त नारायणी सेना देदी और स्वयं पाण्डवों की सहायता करने के लिए अर्जुन के सारथी बन गये। युद्ध के पहले श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच मे अपना रथ ले गये। तब दोनों सेनाओं में अपने इष्ट-मित्र, भाई, गुरुजन आदि को मरने-मारने के लिए प्रस्तुत होकर युद्ध में खड़े देखकर अर्जुन को बड़ा विषाद हुआ। युद्ध-स्थल पर अर्जुन को इस तरह हिम्मत हारते देखकर श्रीकृष्ण ने उसके सारे सन्देह दूर कर दिये और कर्म-योग, ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग का उपदेश देकर उन्हें अपने कर्त्तव्य का यथावत ज्ञान कराया। अर्जुन 'नष्टोमोहः' कहके धीर-वीर की तरह युद्ध के लिए तैयार हो गया। युद्ध शुरू हुआ।

श्री वेदव्यास ने श्रीकृष्ण के इस उपदेश को 'गीता-रूप' में रचकर सुभद्रा को सुनाया था। अपने भैया के इस अमूल्य उपदेश

को सुभद्रा ने अभिमन्यु को सुनाया । इस उपदेश को सुनकर सुभद्रा दूने उत्साह से रणभूमि में सच्ची सेविका बनकर निर्मल चित्त से काम करने लग गई। चारों ओर शस्त्रास्त्रों की खनखनाहट के बीच सुभद्रा घायलों और मरणासन्न सैनिकों की शुश्रूषा करते हुए घूमती थी। अपने पुत्र को साथ लेकर वह प्रत्येक खीमे में पहुँचती, घायलों की मरहम-पट्टी करती, मधुर शब्दों में उन्हें धर्मोपदेश करती, उनके हृदय को शान्ति देती, और उनका दुःख-शोक भुलाकर उनमें नवजीवन का सचार करती । यह सेवा करते समय वह शत्रु-मित्र का विचार हर्गिज़ नहीं करती थी। इस तरह दिन-रात परिश्रम करते देख द्रौपदी ने एक दिन प्रेमपूर्वक उससे कहा—"अरी पगली, इस तरह आहार और निद्रा को छोड़कर तू अपने शरीर को क्यों सुखा रही है ? न तुझे रात का ख़याल है न दिन का। जब देखो तब घायलों की सेवा कर रही है। जरा दर्पण में तो देख, तेरा मुँह सूखकर कैसा हो रहा है ? आँखें कितनी भीतर घुस गई हैं ? आज इस युद्ध को पूरे ग्यारह दिन हुए। पर मैंने इतने दिनों में तेरे चेहरे पर शान्ति का स्मित कहीं नहीं देखा। जब देखो तब दूसरे के दुःख से दुखी है । मुर्दों के साथ रहकर तू भी मुर्दों के समान हो रही है । न जाने कब तू एक क्षण भर सुख और शान्ति से एक जगह बैठेगी।"

सुभद्रा के चेहरे पर करुणा का तेज चमक उठा । वह बोली—"जीजी, रोगियों को शान्ति देना, दुखियों को सान्त्वना देना, शोकातुर का शोक भुलाना, इससे अधिक सुख की बात स्त्रियों के लिए और क्या हो सकती है ? परमात्मा ने आग और पानी की रचना की है । उसी प्रकार उसने इस संसार में दुःख

शोक तथा रोग उत्पन्न करते समय उनके शमन के लिए अनन्त प्रेमपूर्ण नारी-हृदय भी उत्पन्न किया है। यदि मरणासन्न पुरुष के अन्तःकरण को कोई अमृत से भर सकती है तो वह स्त्री-जाति ही है। वह रोगी को रोग-मुक्त और दुखिया की दुःख ज्वाला को शान्त कर सकती है। देखो तो, इस युद्ध में प्रतिक्षण न जाने कितने नर-रत्न स्वधर्म का पालन करते हुए अपने प्राण दे रहे हैं। क्या हम स्त्रियाँ भी इसी तरह अपने प्राण देती हैं?"

द्रौपदी ने कहा—"हाँ, इसे तो मैं भी स्वीकार करती हूँ कि घायलों की सेवा करना स्त्रियों का धर्म है। पर शत्रु की सेवा करने से क्या लाभ? जिन शत्रुओं को मारने के लिए यह सारा युद्ध छेड़ रक्खा है, भला उन्हींके घायल हो जाने पर उनके प्रति इतनी दया बताने से क्या फ़ायदा? तू निर्विकार चित्त से शत्रु-पक्ष के इन घायल सैनिकों की अपने बेटे की तरह शुश्रूषा कर रही है। क्या यह उचित है? क्या इनके रिश्तेदार मर गये हैं, जो तू इनका सम्हाल करती है? वे आप अपने मनुष्यों की सेवा करेंगे। सच-मुच, तू तो पागल है। अपने शत्रुओं की भी सेवा करके व्यर्थ अपने शरीर का नाश कर रही है।"

सुभद्रा ने जरा चिढ़कर कहा—"जीजी, शत्रु शत्रु क्या कर रही हो? क्या वे भी हमारे समान मनुष्य नहीं हैं? क्या उनके शरीर हमारे शरीर के समान रक्त और मांस के बने हुए नहीं हैं? जैसा मेरा और तुम्हारा प्राण है क्या वैसे ही उनके भी प्राण नहीं हैं? भिन्न-भिन्न पात्रों में भरा हुआ जल क्या परस्पर भिन्न है? शत्रु और मित्र, यह भेद कैसा? शस्त्रों से दोनों को एकसी पीड़ा होती है। दोनों एकसे मरते हैं। एक ही परमात्मा सबके अन्दर है। चरा-

चर विश्व में वही 'एक' बस रहा है। फिर 'तू और मैं, 'शत्रु और मित्र' का भेद कैसा ?"

"तब," द्रौपदी ने कहा, "क्या शत्रु और मित्र को एक-सा समझा जाय ? कर्ण और दुर्योधन को हम अपना मित्र समझें ? दुर्जनों के दुःख से भी दुखी होवें ? विष और अमृत को एक-सा ग्राह्य समझें ?"

सुभद्रा ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"जीजी, जो पुण्यवान हो उसे कौन स्नेह की नजर से न देखेगा ? पर इसमें कौन बड़ी बात है ? पापी पर भी जो प्रेम करे, वही सच्चा प्रेमावतार है। माता वसुन्धरा की गोद में सुगन्ध और दुर्गन्ध वाले फूल एकसे भाव से विराज रहे हैं। उसके गर्भ में उज्ज्वल रत्न के साथ-साथ रेत और कोयला भी है। संसार साम्यवादी है। वह हमें सुखमय प्रेम सङ्गीत सुनाता है। इसीमें से आदमी बहुत-कुछ सीख लेता है। सब जगह समान-प्रेम, समान-दया और सम-बुद्धि का हमें दर्शन होता है। स्त्रियाँ जगन्माता का प्रतिरूप हैं। शत्रु और मित्र का भेद हमारे लिए नहीं है। मेघों की तरह हमें तो अपना जननी-प्रेम सबपर एकसा बरसाना चाहिए। जो केवल मित्रों को ही चाहता है उसका प्रेम सकाम है। यह तो एक क्षुद्र सौदा है। मेरी समझ में तो देवता वही है जिसका चित्त मित्र और शत्रु दोनों के लिए एक-सा प्रेममय है। बालक के लिए आरम्भ में माता-पिता का सुख ही सब-कुछ होता है। इसके अतिरिक्त उन्हें और किसी भी बात की परवाह नहीं होती। शनैःशनैः उनकी प्रेम-परिधि बढ़ती है। संसार भाई-बहन-मय दिखाई देता है। यौवन में पति-पत्नी प्रेम-तरंग में मस्त रहते हैं। इन तरंगों से

सारे संसार को व्याप्त कर डालते हैं। फिर शनैःशनैः सन्तान-प्रेम अनेक प्रवाहों में बह निकलता है। संसार में पुरायमय सागर-संगम को हम देखते हैं। जीजी, यह है प्रेम-धर्म। इस प्रेम-धर्म के कारण मुझे सारा संसार कृष्णार्जुनमय दीखता था। अब मातृ-स्नेह से पूर्ण होते ही मुझे सारा संसार अभिमन्यु और उत्तरामय दिखाई देता है। माता-पिता, भाई-बहन, पति-पुत्र, सारांश समस्त विश्व से प्रेम की तृप्ति नहीं होती; बल्कि अब तो मेरी प्रेम-सरिता इस विश्व से बाह्य होकर उस तरफ बढ़ रही है जो इससे परे है, अनिर्वचनीय है, अनन्त है।"

बोलते-बोलते सुभद्रा का मुख असाधारण तेज से जगमगाने लगा। दोनों आँखों से प्रेमाश्रु गिरने लगे। द्रौपदी ने मुग्ध चित्त हो प्रेमपूर्वक उसे अपने हृदय से लगा लिया और आलिंगन करके कहा—"सुभद्रा, धन्य हो! श्रीकृष्ण की बहन को यही शोभा देता है।"

दस दिन तक लगातार युद्ध चलने पर कुरु-सेनापति भीष्म शर-शय्या पर पहुँचे। तब सुभद्रा और अभिमन्यु उनकी शुश्रूषा करने लगे। सुभद्रा उनके घावों को धो-धोकर लेप लगाती और अभिमन्यु उन्हें श्रीकृष्ण का गीतोपदेश सुनाता।

इतने में समाचार मिला कि द्रोणाचार्य चक्र-व्यूह बनाकर भीषण युद्ध कर रहे हैं। अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में दूसरे स्थान पर लगे हुए थे। दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं था जो चक्र-व्यूह को तोड़ सके। इसलिए युधिष्ठिर ने अभिमन्यु को सेनापति बनाकर उसके लिए राजमुकुट तथा दिव्यास्त्र भेजे।

सोलह वर्ष के बालक को यह गौरवयुक्त पद मिलते ही उसके

आनन्द का पार न रहा। माता और पत्नी से बिदा हो वह फौरन युद्ध-क्षेत्र में पहुँचा और अकेले युद्ध करके शत्रु-सैन्य में हाहाकार मचा दिया। पर अन्त में शत्रुओं के छल-कपट से अभिमन्यु मारा गया और वीर-गति को प्राप्त हुआ। अपने वीर पुत्र की अकाल मृत्यु के कारण सुभद्रा को जो दुःख हुआ होगा उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। परन्तु ऐसी विपत्ति के समय भी सुभद्रा ने धीरज नहीं खोया और शान्त चित्त से अपने पुत्र की सद्गति के लिए प्रार्थना की। उसने कहा—"हे पुत्र, संयमी पुरुष ब्रह्मचर्य से तथा विवाहित पुरुष एक-पत्नी-व्रत के पालन से जिस गति को प्राप्त करते हैं उसे तू प्राप्त करना। तुझे वही सनातन गति प्राप्त हो, जो राजाओं, सरदारों और चारों वर्णों के लोगों को पुण्य संचय से प्राप्त होती है। दीन-दरिद्रों पर दया करनेवाला, सत्य का पालन करनेवाला, धोखा न देनेवाला, नित्य यज्ञ और धर्मानुष्ठान करनेवाला, गुरु तथा अतिथि की अनन्य चित्त से सेवा करनेवाला, अनेक कष्टों को सहकर भी माता-पिता की सेवा करनेवाला, स्वपत्नी पर अखण्ड प्रेम करनेवाला, नौकरों को समदृष्टि से देखनेवाला तथा समस्त इन्द्रियों को जीतनेवाला जिस गति को प्राप्त करता है वही तुझे प्राप्त हो।"

धैर्य की परीक्षा आपत्काल ही में होती है। स्त्रियों के लिए संसार में पुत्र-शोक की अपेक्षा और कोई शोक अधिक दुखदाई नहीं होता। तथापि ऐसे कठिन समय पर भी असाधारण धैर्य से काम लेकर सुभद्रा ने पुत्र की सद्गति के लिए जो प्रार्थना की, जिन उच्च विचारों को प्रकट किया, उससे हमें पता चलता है

कि श्रीकृष्ण के गीतोपदेश को उसने किस तरह अपनी नस-नस में भर लिया था।

सुभद्रा और द्रौपदी सौतें थीं, मगर उन दोनों का पारस्परिक व्यवहार बहुत प्रेम-मय था।

अर्जुन ने इस युद्ध में अपने पुत्र के हत्यारों को मारकर उसका बदला चुका दिया। युद्ध समाप्त होने पर श्रीकृष्ण द्वारिका चले गये। उनके वहाँ पहुँचने पर कुछ ही समय बाद शराब, उच्छृङ्खलता तथा अधर्माचरण आदि के कारण यादव-कुल नष्ट हो गया। बलराम और श्रीकृष्ण की बीमारी के समाचार मिलते ही अर्जुन और सुभद्रा द्वारिका जाने के लिए रवाना हुए। पर उन्हें वहाँ पहुँचने पर ख़बर मिली कि दोनों महापुरुषों ने अपनी जीवन-लीला समाप्त करदी और वे परम-धाम चले गये। अर्जुन और सुभद्रा असीम शोक-सागर में डूब गये। सुभद्रा की अनन्य कृष्ण भक्ति के स्मारक-स्वरूप, तथा उसकी अनेकों सेवाओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, द्वारिका के लोगों ने बलराम और श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ-साथ सुभद्रा की मूर्ति की भी स्थापना करके उसकी पूजा प्रचलित करदी। श्री जगन्नाथपुरी में उनके भव्य-मन्दिर की स्थापना हुई। आज भी रथ यात्रा के दिन करोड़ों नर-नारी भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण और बलराम के साथ-साथ सुभद्रा के दर्शन करके कृतार्थ होते हैं।

६

श्रीकृष्ण-पत्नी

रुक्मिणी

श्रीकृष्ण-पत्नी रुक्मिणी विदर्भ के राजा भीष्मक की कन्या थीं। यह कन्या साक्षात् लक्ष्मी के समान रूपवती थी। लोग उसे लक्ष्मी के अवतार के समान ही जानते थे। वह बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण को प्रेम करने लगी थी। श्रीकृष्ण को अपनी आँखों से तो उसने कभी नहीं देखा था, पर उनके गुण और प्रशंसा वह बराबर सुना करती थी, इसीलिए वह उनपर प्रेम-मुग्ध भी हो गई थी। बालिका रुक्मिणी उस समय संसार के झगड़ों से बिलकुल अनजान थी। बिलकुल सरल हृदय से उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा करली, कि "श्रीकृष्ण ही मेरे पति होंगे। उनके सिवा मैं और किसी के साथ विवाह नहीं करूँगी। यदि किसी कारण वह मेरे साथ विवाह नहीं करेंगे तो मैं अपने प्राण देदूँगी।"

दिन-पर-दिन बीतने लगे। चन्द्रमा की कलाओं की भाँति रुक्मिणी भी दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। उसकी बाल्यावस्था पूरी हो गई और उसने किशोरावस्था में प्रवेश किया। अब उसका सौंदर्य विकसित होने लगा।

रुक्मिणी का रुक्मी नाम का एक बड़ा भाई था। वह बड़ा हठी, उपद्रवी और अत्याचारी था। चेदि राज्य का राजा शिशुपाल उसका मित्र था। 'चोर का भाई गिरहकट' वाली कहावत

के अनुसार शिशुपाल रुक्मी ही के समान था। दोनों में गुण और दोष समान ही रूप से थे। रुक्मी ने निश्चय किया था कि मैं अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह इसी शिशुपाल के साथ करूँगा। जब रुक्मिणी को उसका यह निश्चय मालूम हुआ तब उसके हृदय को भारी ठेस पहुँची। उसने अपनी सखी चन्द्रकला को अपने हृदय का यह दुःख कह सुनाया। साथ ही, रोते-रोते उससे यह भी प्रार्थना की कि तुम मेरी इच्छा किसी प्रकार मेरे माता-पिता पर प्रकट कर दो।

रुक्मिणी के माता-पिता को जब रुक्मिणी के मन की बातें मालूम हुईं तो वे बहुत खुश हुए। रुक्मिणी की पसन्द अच्छी लगी। परन्तु उधर उसके भाई का बड़ा हठ था कि मैं अपनी बहन का विवाह शिशुपाल के साथ ही करूँगा। उस हठी लड़के के विरुद्ध माता पिता कुछ भी बोल नहीं सकते थे। वह लाड़ला लड़का था, इसलिए उन लोगों को उसकी बात माननी ही पड़ती थी। अतः शिशुपाल के साथ ही रुक्मिणी का विवाह करना निश्चित हुआ। यहाँतक कि सगाई की रस्म भी हो गई और विवाह का दिन निश्चित हो गया।

अब रुक्मिणी रोने लगी। वह एकाग्र चित्त से भगवान् को सम्बोधन करके कहने लगी—"हे भगवन्! दुःखियों की गति तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरी रक्षा करोगे। इस समय तुम्हारे सिवा और कोई ऐसा नहीं है जो मेरी रक्षा कर सके। हे अनाथों के नाथ! हे निराधारों के आधार! मुझे श्रीकृष्ण के चरणों में ही आश्रय दिलवाओ। मैं इस समय चिन्ता के गम्भीर सागर में डूबी हुई हूँ। हे जगत्पति! मेरा उद्धार करो।"

रुक्मिणी को चारों तरफ अन्धकार-ही-अन्धकार दिखलाई देता था। माता, पिता, भाई, सगे-सम्बन्धियों में से कोई उसकी सहायता करनेवाला नहीं था। फिर भी वह निराश नहीं हुई। उसका इस बात पर पूरा विश्वास था कि निराधारों की सहायता परमात्मा किया करता है। उसने अपने पड़ोस के एक वृद्ध ब्राह्मण को बुलाया और उससे अपने हृदय की सब बातें साफ़-साफ़ कह दीं। जब ब्राह्मण को यह मालूम हुआ कि रुक्मिणी का संकल्प अच्छा है, तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"बेटी! मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ। मैं सच्चे हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तेरा मनोरथ सिद्ध हो। जिन लोगों का संकल्प उच्च हुआ करता है, भगवान उनकी अवश्य सहायता करते हैं। यद्यपि मैं बूढ़ा हूँ, तो भी तुम्हें इस काम में पूरी-पूरी सहायता देने के लिए तैयार हूँ। जिस प्रकार हो सकेगा, मैं द्वारिका नगरी में पहुँचूँगा और तुरन्त ही अपने साथ श्रीकृष्ण को ले आऊँगा। तुम भी उनसे मिलने के लिए तैयार रहना।"

वृद्ध की बातों से रुक्मिणी को बहुत ढाढस बँधा। उसके सारे शरीर में बिजली की तरह आल्हाद व्याप्त हो गया। उसके मन में ऊपर-ऊपर ही अनेक प्रकार के विचार आने लगे। "वह तो द्वारिका के महाराज हैं। भला, वह मुझ जैसी सामान्य स्त्री की प्रार्थना क्यों मंजूर करने लगे?" आदि। परन्तु तुरन्त ही उसे फिर विचार हुआ, "भला वह मेरी प्रार्थना क्यों न मानेंगे? वह तो बहुत ही दयालु हैं। मैंने सुना है कि जो कोई उनकी शरण में जाता है उसकी रक्षा करने के लिए वह अपनी ओर से कभी कोई बात उठा नहीं रखते। मैं एकाग्रचित्त से उन्हींका ध्यान कर रही

हूँ, उन्हें छोड़कर और किसी पुरुष का मैंने स्वप्न में भी विचार नहीं किया; तो फिर इस आपत्ति से वह मेरी रक्षा क्यों न करेंगे ? वह अवश्य मेरी रक्षा करेंगे।"

इस प्रकार कभी तो उसे आशा होती थी और कभी निराशा। श्रीकृष्ण को देने के लिए उसने एक पत्र लिखकर उस ब्राह्मण को दिया था। उसमें लिखा था:—

श्री-श्री के चरण कमलों में,

दासी के सहस्र सहस्र प्रणाम स्वीकृत हों। मैं आपके लिए बिलकुल ही अनजान हूँ। परन्तु मैं एक अच्छे कुल की बालिका हूँ। इस समय मैं बहुत बड़े संकट में पड़ी हूँ। इसलिए मैं लज्जा छोड़कर आपसे कृपा करने के लिए प्रार्थना कर रही हूँ। मैं आपको अपना क्या परिचय दूँ ? मैं विदर्भ देश के राजा भीष्मक की कन्या हूँ। इस दासी का नाम रुक्मिणी है। मैं नहीं कह सकती कि यह पत्र पढ़ चुकने पर आपके मन में मेरे सम्बन्ध में क्या धारणा होगी। भय और लज्जा के कारण क़लम रुक रही है। मुझसे और आगे लिखा नहीं जाता। हृदय स्तम्भित हुआ जाता है और ज़रा भी शान्त नहीं रहता। मैंने ऋषियों के मुँह से सुना है कि आप कृपासिन्धु हैं। पापियों को दण्ड देकर इस पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही आपने इस पृथ्वी पर अवतार धारण किया है। इसलिए मैंने आपके पास यह पत्र भेजने का साहस किया है। आपके सिवा मेरी और कोई गति नहीं है।

हृदय-देवता ! आप विश्वास मानिए, मैं इस समय बहुत भारी विपत्ति में पड़ी हुई हूँ। जबसे मैंने ऋषियों के मुँह से आपकी

प्रशंसा सुनी है, जिस दिन मैंने स्वप्न में आपके शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप के दर्शन किये हैं, उसी दिन से मैं अपना तुच्छ हृदय आपके चरण-कमलों में अर्पित कर चुकी हूँ।

'मेरा भाई रुक्मी बहुत हठी और उद्धत है। उसने आपके शत्रु चेदिराज शिशुपाल के साथ मेरा विवाह करना निश्चित किया है। विवाह का समय भी बहुत पास आ गया है। परन्तु मैं पहले से ही अपनी इच्छा से आपको बर चुकी हूँ। अब मैं किसी दूसरे पुरुष को किस प्रकार स्वामी के रूप में ग्रहण कर सकती हूँ? माता-पिता के सामने ये सब बातें स्पष्ट रूप से कहने मुझे लज्जा मालूम होती है। मैं अपनी सखी चन्द्र कला से ही सब बातें कह-कर रोया करती हूँ। स्त्री-जाति के पास रोने के सिवा और उपाय भी क्या है?'

'मैं बहुत ही दुःखी हूँ। यह पत्र लिखते समय आँसुओं की धारा बह रही है, जिससे यह पत्र भी भीग रहा है। मालूम पड़ता है कि मेरा मृत्यु-काल बहुत समीप आ पहुँचा है। विकट राक्षस मुँह फाड़कर मुझे खाने के लिए चला आ रहा है। इसलिए, उसके आने से पहले ही, आप आकर इस दासी का उद्धार कीजिए और अपने चरणकमलों में मुझे स्थान देकर कृतार्थ कीजिए।

आपकी दासी—

रुक्मिणी

पत्र लेकर वृद्ध ब्राह्मण द्वारिका पहुँचा। उस राजनगर का सौन्दर्य और शोभा देखकर वह अवाक् रह गया। पक्की सड़कों पर हजारों आदमी आते-जाते थे। रास्ते के दोनों ओर सुन्दर बड़े-बड़े मकान बने हुए थे। शहर में बहुतसे बाग़-बगीचे आदि थे

और उनके रंग-बिरंगे फूलों की सुगन्धि सारे शहर में फैल रही थी। छोटी-छोटी झीलों और तालाबों आदि की भी नगर में कोई कमी नहीं थी। वह सोचने लगा—'भला, इतनी बड़ी राजधानी के अधीश्वर श्रीकृष्ण बेचारी रुक्मिणी के साथ किस प्रकार विवाह करेंगे ?' इस विचार के मन में उत्पन्न होते ही बेचारे ब्राह्मण का सन्देह उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि यह काम अपने जिम्मे लेकर उसने बहुत बड़ा दुस्साहस किया है। तो भी किसी प्रकार अपना वचन पूरा करने के विचार से वह राज-महल के द्वार पर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने द्वारपाल से कहा—"मैं विदर्भ नगर से आ रहा हूँ। श्रीकृष्ण के दरबार में मुझे कुछ खास काम के लिए उपस्थित होना है। मुझे अन्दर जाने दो।" द्वारपाल ने अन्दर जाने की आज्ञा दे दी। थोड़ी ही देर में वह श्रीकृष्ण के दरबार में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण की राज-सभा का ठाठ देखकर वह स्तब्ध हो। उसे पत्र देने अथवा कुछ कहने सुनने का साहस ही नहीं हुआ। अन्त में उसने सोचा कि रुक्मिणी के विवाह का दिन बहुत नजदीक आ गया है; यदि इस समय मैं साहस छोड़ दूँगा तो काम न चलेगा। अतः श्रीकृष्ण के सामने जाकर उसने विनय-पूर्वक वह पत्र उनके हाथ में दे दिया और अपनी ओर से भी प्रार्थना के रूप में दो-चार शब्द कहे। श्रीकृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक रुक्मिणी की प्रार्थना मानली। अस्त्र, शस्त्र, सैन्य, सामन्त, रथ-घोड़े आदि लेकर वह रुक्मिणी को लाने के लिए विदर्भ राज्य की ओर चल पड़े।

उधर रुक्मिणी बराबर श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। श्रीकृष्ण को आने में कुछ विलम्ब हो गया था। इसलिए

वह सोचने लगी—"क्या उन्होंने मेरी प्रार्थना नहीं मानी ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कहीं वह ब्राह्मण रास्ता ही न भूल गया हो। कदाचित् वह द्वारिका तक पहुँचा ही न हो। हाय ! अब मैं क्या करूँगी ? आज तो मेरी मृत्यु का दिन भी आ पहुँचा। यदि श्रीकृष्ण मुझे स्वीकृत न करेंगे, तो यह तो निश्चय ही है कि मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। अब मुझे मृत्यु के लिए तैयार रहना चाहिए।" रुक्मिणी इस प्रकार सोच-विचार कर रही थी कि इतने में ब्राह्मण ने वहाँ आकर उसे समाचार दिया कि श्रीकृष्ण सैनिकों और सामन्तों के साथ रथ पर सवार होकर यहाँ आ पहुँचे हैं और देवी के मन्दिर के सामने तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ब्राह्मण की यह बात सुनकर रुक्मिणी के आनन्द का ठिकाना न रहा।

रुक्मिणी देवी की पूजा करने के बहाने से तुरन्त वहाँ गई। अनेक दासियाँ उसके साथ थीं। उन दिनों राजा-महाराजाओं की कन्यायें भी देवी का पूजन करने के लिए पैदल ही जाया करती थीं, इसलिए रुक्मिणी को भी वहाँ पैदल ही जाना पड़ा था।

जब मन्दिर से पूजा करके रुक्मिणी बाहर निकली, तब श्रीकृष्ण दौड़कर वहाँ जा पहुँचे और उसे रथ पर बैठाकर तेजी से उसे हाँक दिया। चलते समय उन्होंने सब दासियों आदि से कह दिया—"मैं रुक्मिणी के साथ विवाह करना चाहता हूँ, इसलिए उसे यहाँ से हरण करके लिये जाता हूँ।"

यह बात सुनकर रुक्मिणी का भाई रुक्मी बहुत नाराज हुआ और बहुत-सी सेना लेकर वह श्रीकृष्ण का पीछा करने के लिए तेजी से बढ़ा। शिशुपाल बहुत ठाट-बाट से रुक्मिणी के साथ विवाह

करने के लिए आया हुआ था। उसके साथ बहुत-से राजा और सरदार आदि भी थे। रुक्मिणी के पिता ने सब लोगों के ठहरने आदि का बहुत अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था। जब इन लोगों को समाचार मिला कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण रुक्मिणी को हरण करके ले गये, तब वे सब श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए उनके पीछे दौड़े। श्रीकृष्ण ने रथ को पूर्ण वेग से चलाया। शत्रु-पक्ष के लोग भी पूरी तेजी से उनके पीछे घोड़े दौड़ाये चले आ रहे थे। श्रीकृष्ण ने उन सब लोगों के साथ युद्ध करने के लिए रथ रोक दिया। शिशुपाल के पक्ष के बहुतसे लोग मारे गये। जिस समय रुक्मी के प्राण लेने के लिए श्रीकृष्ण ने हाथ उठाया तो रुक्मिणी ने उनसे प्रार्थना की—"हे नाथ, यदि आप मुझपर प्रेम रखते हों तो मेरे बड़े भाई की हत्या न करें। उसकी मृत्यु से मुझे बहुत दुःख होगा। अपने विवाह के शुभ अवसर पर अपने सम्बन्धियों का वध करना उचित नहीं है। आप कृपा करके उसे क्षमा कीजिए।" इसपर श्रीकृष्ण ने उसे छोड़ दिया।

अन्त में रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण का यथाविधि विवाह हो गया। राजा भीष्मक और उसकी रानी को भी इस विवाह से सन्तोष हुआ। सगे-सम्बन्धी और पास-पड़ोस के सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद रुक्मिणी और श्रीकृष्ण ने बहुत प्रेमपूर्वक जीवन-यापन किया। रुक्मिणी का पति-प्रेम इतना जबरदस्त और आदर्श था कि आजतक सती स्त्रियों में रुक्मिणी की गणना होती है।

५

संजय-माता

विदुला

माता सदा अपने पुत्र का भला चाहती है। परन्तु देश, जाति और समाज की परिस्थिति के अनुसार इस मंगल-कामना का आदर्श अलग-अलग हुआ करता है। आजकल हमारे अध:पतित देश में मातायें यही समझती हैं, कि हमारा पुत्र चाहे जैसा निकले पर जीता रहे और वह शरीर से नीरोग रहे तो यही हमारे लिए बहुत बड़ी बात है। पर प्राचीनकाल में, भारत-वर्ष के गौरव के दिनों में, ऐसा नहीं था। उस समय तो मातायें यही समझती थीं कि यदि पुत्र मनुष्यत्व, महत्व और वीरत्व के बिना अधर्म का जीवन बिताता हो तो उसकी अपेक्षा उसका मर जाना ही अच्छा है। इसलिए अपने पुत्र के मंगल के लिए वे उसकी मृत्यु को भी अशुभ नहीं समझती थीं। जब वे अपने पुत्र को मृत्यु से डरकर कायरता करते हुए देखती थीं, तो उन्हें बहुत अधिक दु:ख हुआ करता था। यदि कभी पुत्र युद्ध से डर जाता था तो उसे उत्साह-युक्त शब्दों से उत्तेजित करके रण-क्षेत्र में मृत्यु के मुँह में भेजने में भी वे आनाकानी नहीं करती थीं। संजय माता विदुला भी ऐसी ही एक महिला थीं। पुत्रों की वीरता के गौरव से गौरवान्वित, कायरता को सदा धिक्कारनेवाली, क्षात्र-तेज से तेजस्वी बनी हुई आदर्श जननी कुन्ती ने अपने पुत्रों को युद्ध में जाने के लिए

उत्तेजित करने के उद्देश्य से पाण्डवों को इसी की कथा सुनाई थी। यह सब जानते हैं कि राजा संजय बड़ा कायर और नाजुक मिज़ाज था। सिन्धुराज के साथ उसका युद्ध हुआ, उस समय संजय अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध क्षेत्र से भागकर घर आ पहुँचा और बालकों की तरह रोने लगा। अपने पुत्र की यह दशा देखकर विदुला का चेहरा लाल हो गया और उसके सारे शरीर में आग-सी लग गई। उसने बहुत क्रोधपूर्वक कहा "अरे कायर! तू अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध-क्षेत्र से भाग आया है और विधवाओं की तरह यहाँ कोने में घुसकर रो रहा है! धिक्कार है तुझे। तूने अपने पिता के वीर्य से मेरे गर्भ में जन्म-धारण किया है, या किसी नीच कुल में से आकर तू गद्दी पर बैठ गया है? पुरुषत्वहीन पशु! तेरी कीर्ति नष्ट हो गई है। जब राज्य ही शत्रुओं के हाथ में चला गया तब तू क्यों व्यर्थ यह जीवन धारण कर रहा है? जो दूसरों के पराक्रम और दूसरों के आक्रमण का मुकाबला कर सके वही पुरुष है। जो स्त्रियों की तरह कोने में बैठकर जीवन बिताता हो और शत्रु के भय से भाग आता हो, उसका पुरुष नाम सार्थक नहीं है। स्त्रियों में भी महत्व हुआ करता है। स्त्रियाँ भी पृथ्वी पर हीन होकर रहना नहीं चाहतीं। स्त्रियाँ भी अपने महान् चरित्र से पृथ्वी को यशस्वी करती हैं। पर जो लोग इस तरह हीन और नीच बनकर रहना चाहते हैं, जो लोग इसी तरह तिरस्कारपूर्ण जीवन बिताते हैं, वे न तो पुरुष हैं और न स्त्री ही हैं। वे तो अधम नपुंसक हैं। कुल का नाश करने के लिए अमंगलकारी साक्षात् कलि ने तेरे जैसे पुत्र के रूप में मेरे गर्भ से जन्म-धारण किया है। तूने शत्रुओं को तो हँसाया

है और अपने सगे-सम्बन्धियों के मुँह में कालिख लगाई है। तेरे जैसा तेजहीन, वीर्यहीन, माता की कोख को लजानेवाला पुत्र तो किसी स्त्री के गर्भ में जन्म न ले यही अच्छा है। संजय, अब भी उठ! शत्रु के हाथ से पराजित होकर इस प्रकार निराश होकर मत बैठ। शत्रु-पराजित, राज्य-भ्रष्ट और लोक में निन्दनीय होकर तुझे दीन भिक्षुओं का-सा कलंकित जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। क्या ऐसे निकृष्ट जीवन की अपेक्षा मृत्यु तुझे अधिक अच्छी नहीं लगती? यदि तू शत्रु को पराजित कर देश की रक्षा न कर सके, तो तू वीर पुरुषों की भाँति अन्ततक युद्ध में लड़कर प्राण-त्याग कर। लोग यह तो कहेंगे कि यह बुद्धिमान मनुष्य मरता-मरता भी शत्रु को मारता गया।"

माता के इन मर्मभेदी वाक-बाणों से व्यथित होकर संजय ने कहा—"माता, क्या तुम मेरी मृत्यु से सुखी होओगी? मैं तुम्हारा एक ही पुत्र हूँ। यदि मैं मर जाऊँगा तो फिर संसार में तुम्हारे लिए और कौनसा सुख रह जायगा?"

विदुला ने कहा "पुत्र, क्या तू यह समझता है कि मैं बिना समझे-बूझे तेरी मृत्यु चाहती हूँ? तू वीर-कुल में उत्पन्न राजपुत्र है। राजा होकर यदि तू पराधीन भिखारी की तरह जीवन बितावे; जिस वंश में आजतक कभी कोई किसीकी कृपा का अभिलाषी नहीं हुआ, जिस वंश में आजतक कोई व्यक्ति कायरतापूर्वक किसीके आगे नहीं झुका, उसी वंश में जन्म लेकर तू दूसरों के अधीन हो दूसरों का मुँह ताका करे; जिस वंश के [illegible] हाथों से धन दान कर गये हैं, जिन्होंने आजतक कभी [illegible] याचक को विमुख नहीं फेरा, उसी

वश में जन्म लेकर तू दूसरों की दी हुई थोड़ी-सी आजीविका पर निर्वाह करे; जो लोग तेरे पास कुछ माँगने आवें उनकी इच्छा तू पूरी न कर सके, दरिद्रों की दरिद्रता दूर न कर सके, शरणागत की रक्षा न कर सके, दुःखी का दुःख दूर न कर सके—क्या तुझे ऐसी स्थिति में देखने की अपेक्षा तेरी मृत्यु की कामना करना अधिक अच्छा नहीं है ? यदि तुझमें कुछ भी मनुष्यता होगी, यदि तू क्षत्रिय की सन्तान होगा, तो क्या तू ऐसे हीन जीवन में सुखी रह सकेगा ? जैसे मछली नदी के थोड़े-से जल में मर जाती है, चूहे का पेट थोड़े-से अन्न में भर जाता है, उसी प्रकार तुच्छ मनुष्य थोड़े से लाभ के लिए हीन अवस्था में ही सन्तुष्ट रहते हैं। बेटा ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि तू वीरवंश का कलंक बनकर, शत्रुओं से पराजित होकर, और दूसरों के अनुग्रह पर निर्भर रहकर हीन जीवन कभी व्यतीत न करना। क्षत्रिय होकर कभी शत्रु के आगे सिर न झुकाना। तेजस्वी दृढ़-प्रतिज्ञ क्षत्रिय मर जाते हैं, पर कभी किसीके सामने सिर नहीं झुकाते। हे पुत्र ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि उठ और अपने क्षत्रिय नाम को सार्थक कर। अपना संजय नाम कलंकित मत कर। यदि जिन्दगी जाने को हो तो भले ही चली जाय, पर तू फिर से एकबार क्षत्रिय-तेज से प्रकाशित हो जा। जो आग एकबार खूब अच्छी तरह तेजी के साथ जल जाय, वह आग उस आग की अपेक्षा कहीं अच्छी होती है जो धीरे-धीरे बिना तेज के बहुत देर तक जला करती है। हे संजय ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि धीरे-धीरे जलनेवाली तेज-हीन अग्नि की भाँति तू हीन और कलंकित दीर्घजीवन की इच्छा मत कर। तू एकबार वीरता के तेज से प्रज्वलित हो उठ। एकबार

फिर अपनी ज्वलन्त प्रभा को प्रकाशित कर, नहीं तो तू सदा के लिए बुझ जा।"

संजय ने कहा—"माता! तू कैसी कठोर है। विधाता ने तेरा हृदय कैसा पत्थर का बनाया है! वीरता के अभिमान में तू अपने-आपको बिलकुल भूल गई है और पुत्र का स्नेह बिलकुल खो बैठी है। तू अपने हीन पुत्र पर दया कर और आज ऐसी निष्ठुर बातों से मुझे दुखी न कर। मैं अपने प्राण नष्ट होने के भय से तेरी शरण में आया हूँ। तू मेरे जीवन की ओर देख! मेरा अमंगल मत कर।"

विदुला ने उत्तर दिया—"संजय! मैं तेरी माता । पुत्र के साथ स्नेह करना माता का धर्म है। माता को सदा अपने पुत्र के कल्याण की ही चिन्ता रहा करती है। परन्तु यदि मैं अपने पुत्र को श्रीहीन और यशोहीन देखकर चुपचाप बैठी रहूँ, तो मेरा पुत्र-स्नेह गधी के पुत्र-स्नेह के समान समझा जायगा। क्षत्रियत्व में ही क्षत्रिय का जीवन है। क्षत्रिय-गौरव में ही क्षत्रिय का मंगल है। क्षत्रिय-माता अपने पुत्र के क्षत्रिय-जीवन की ही आकांक्षा करती है। वह इसीमें अपने पुत्र का कल्याण समझती है कि उसका पुत्र क्षत्रिय-गौरव से सर्वश्रेष्ठ समझा जाय। तेज और पराक्रम से रहित क्षत्रिय तो चोर की भाँति तिरस्कार का पात्र है। भला कोई माता अपने चोर पुत्र पर स्नेह कर सकती है? जो माता अपने तेजोहीन, उद्यमहीन और निकम्मे पुत्र को देखकर ही सुखी होती है, उसका मातृ-जन्म व्यर्थ है। हाय! जिस प्रकार मरते हुए रोगी को दवा के प्रति अरुचि होती है उसी प्रकार मेरा यह हितकर उपदेश तुझे कड़वा लग रहा है। परन्तु बेटा,

तू यह बात समझ ले कि केवल मोह और दुर्बुद्धि के कारण ही मेरी यह बात तेरे गले नहीं उतरती। तू एकबार इस मोह से मुक्त हो जा, बस फिर तेरी यह दुर्बुद्धि दूर हो जायगी। उस समय तू समझ लेगा कि तेरा क्या कर्त्तव्य है, तूने किसलिए यह महान् क्षत्रिय-जीवन धारण किया है और किसलिए मैं तेरे प्राणों की परवा न कर तुझसे इस प्रकार युद्ध करने के लिए आग्रह कर रही हूँ। उस समय तू समझ लेगा कि युद्ध करने और शत्रुओं को पराजित करने के लिए ही क्षत्रियों का जन्म हुआ करता है, शत्रुओं से पराजित होकर उनकी शरण में हीन जीवन बिताने के लिए नहीं हुआ करता। यह मोह छूट जाने पर तू समझ लेगा कि शत्रुओं से डरकर निन्दनीय परतन्त्र जीवन बिताने की अपेक्षा शत्रुओं को मारते हुए रण-क्षेत्र में प्राण त्याग करना कहीं अधिक उत्तम है। तब तू समझ जायगा कि कर्महीन उद्यमहीन और आलस्यपूर्ण जीवन की अपेक्षा कर्मवीरता की निष्फल चेष्टा भी कितनी अधिक सुखकारी होती है। बेटा! मैं यह कहती हूँ कि तू अपना मन स्थिर कर और प्राणों के नाश का भय त्याग। अपने जीवन के बदले में तू कुल की मर्यादा रक्षित रखने के लिए तैयार हो। क्या तू मुझे स्नेहहीन समझकर मेरा तिरस्कार करता है? तू एकबार क्षत्रिय माता के योग्य पुत्र बन। क्षत्रियोचित तेज और पराक्रम से शत्रु को थका दे और वीर कुल से अपने जन्म लेने को सार्थक करके वीरत्व के गौरव से संसार में नाम पैदा कर, अपने साहस और वीरता से सैनिकों के हृदय में अपार साहस और वीरता का संचार करके देश के शत्रुओं को देश से निकाल बाहर कर, शत्रुओं द्वारा जीते हुए राज्य का उद्धार कर,

शत्रुओं से पीड़ित प्रजा की रक्षा और राजधर्म का पालन कर, और तब फिर देख कि माता के हृदय में योग्य पुत्र के लिए कितना अधिक स्नेह और कितनी अधिक श्रद्धा है।"

संजय उठ खड़ा हुआ। जननी के उत्साहपूर्ण उपदेश से उसके हृदय में साहस का संचार हुआ। उसने अपनी माता के पैर पकड़ कर शपथ ली, कि या तो मैं शत्रु को जीतकर ही आऊँगा और या वहीं अपने प्राण त्याग दूँगा। इसके उपरान्त संजय युद्ध में लड़ने के लिए गया। माता की उत्साहप्रद बातें रणक्षेत्र में संजय के कानों में दुन्दुभि-नाद के समान गूँजने लगीं। बहुत अधिक उत्साह से असाधारण पराक्रमपूर्वक युद्ध कर संजय सिन्धुराज को पराजित करके, विजयी होकर, घर लौटा और अपनी माता के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया।

इस प्रकार विदुला वीर माता थी। हमारी हीन जाति को वीर बनाने के लिए घर-घर विदुला जैसी माताओं की जरूरत है। जब ऐसी मातायें होने लगेंगी, तो हमें अवश्य गुलामी की वेदना महसूस होगी और संजय की भाँति हम भी अच्छे पुरुष बन जायेंगे।

८

कर्ण-पत्नी

पद्मावती

स्त्री-स्वभाव में सबसे मुख्य गुण है मातृत्व। मातृत्व-धर्म का त्याग करके पुत्र के विषय में कोई अमंगल कल्पना तक करना माता के लिए असम्भव है। जो स्त्री किसी उच्च धर्म या आदर्श के पालन के हेतु इस प्रबल वेग को भी दबाकर अपने पुत्र का स्वयं नाश कर सके, वह सचमुच अलौकिक होनी चाहिए। रानी पद्मावती इन्हीं अलौकिक देवियों में से एक थीं। महाभारत के कर्ण की यह पत्नी थीं।

कर्ण जैसा पराक्रमी था, वैसा ही महान् दानी और सत्य-परायण भी था। द्वार पर आये हुए याचक को वह कभी खाली हाथ लौटने नहीं देता था। एकबार जहाँ उसके मुँह से निकल गया कि मैं फलाँ चीज आपको "दूँगा", फिर चाहे उसे उस वस्तु के लिए अपने प्राण भी देने पड़ते तो वह परवा न करता। वह अपने शब्द को कभी मिथ्या नहीं होने देता था। कर्ण के दानीपन की तो कई अद्भुत कहानियाँ प्रचलित हैं। पर हम नीचे एक ऐसी कहानी लिखते हैं, जिसमें उसकी रानी पद्मावती के हृदय की विशालता भी प्रकट होती है।

द्वादशी का दिन था। मध्यान्ह-काल हो रहा था। कर्ण अपने नित्य-कर्म करके भोजन की तैयारी में था कि इतने में एक वृद्ध

ब्राह्मण उसके घर पर आ खड़े हुए। कर्ण ने पूछा, "महाराज, क्या आज्ञा है ?"

"कल की एकादशी है; आज उपवास छोड़ना है। भूख बहुत लग रही है। आज तो इच्छा-भोजन मिलना चाहिए। सुना है, आप बड़े भारी दाता हैं। इसीलिए आपके द्वार पर आये हैं।"

"इसमें कौन बड़ी बात है, महाराज ! बताइए, आप क्या खावेंगे ?"

"राजन् ! मैंने सुना है कि आप एकबार वचन दे देने पर फिर कभी बदलते नहीं हैं। अभी जो खाना खाने की मुझे इच्छा हुई है वह खिलाने में आपको बहुत कष्ट होगा, इसलिए मैं जरा सोच में पड़ा हूँ।"

कर्ण ने हँसकर कहा—"महाराज, इस विषय में इतनी चिन्ता की क्या जरूरत है ? आपको इच्छा-भोजन देना मेरे लिए कौन बड़ी बात है ? मैं तो अतिथि देवता की इच्छा तृप्त करने के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार हूँ।"

"परन्तु, महाराज, यह काम उससे भी कठिन है।"

"मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। आप खुले दिल से कहिए।"

"आप स्वयं और रानी पद्मावती अपने हाथों कुमार वृषकेतु को काटकर उसका मांस मुझे खिलायेंगे ? मांस रानीजी को पकाना होगा।"

वज्र-प्रहार से आहत होने के समान कर्ण स्तब्ध हो गया। कुछ देर बाद वह ब्राह्मण से कहने लगा—"महाराज ! आप कौन हैं सो तो मैं नहीं जानता; परन्तु आपकी प्रार्थना जरूर राक्षसी

है। अगर नर-मांस खाने की ही आपकी इच्छा हो, तो मेरा मांस तैयार है। इसे खाकर तृप्त हो जाइए।"

ब्राह्मण ने जवाब दिया—"राजन्, आप वीर पुरुष हैं। आपका मांस उतना कोमल और स्वादु नहीं होगा जितना कि कुमार का। यदि आप वह न दे सकें तो मुझे ना कह दीजिए। मैं लौट जाऊँगा।"

कर्ण के लिए आज कठिन परीक्षा का दिन था। जीवनभर जिस व्रत की साधना की थी वह आज एक वचन-भङ्ग से निष्फल हो रहा था। पर अपने हाथों पुत्रवध! राजा का अन्तःकरण विह्वल हो गया। उसने सोचा, "मैं राजा हूँ। वृषकेतु मेरा बेटा है; परन्तु वह मेरा प्रजाजन भी है। यदि उसके हाथों कोई ऐसा ही अनुचित काम हो जाता तो क्या मैं उसे प्राण-दण्ड नहीं देता? फिर यों बीमारी के कारण कितने ही बालक मर जाते हैं। उनके माता-पिता आखिर पुत्र-शोक सहते ही हैं या मर जाते हैं। अपने व्रत को पवित्र करके मैं मर भी गया तो क्या हर्ज है?" आखिर कड़ा जी करके ब्राह्मण से कहा "अतिथिदेव, आपकी इच्छा पूरी होगी। मैं इसकी तैयारी करता हूँ।"

यों कहकर कर्ण अन्तःपुर में पुत्र और रानी के पास गया।

रानी पद्मावती वृषकेतु को कुछ स्तोत्र पढ़ा रही थी। वह पति को देखते ही खड़ी होगई। परन्तु कर्ण को दुखी देखकर चौंकी। राजा को उसने कभी ऐसा दुखी नहीं देखा था। उसने पूछा, "नाथ, यह क्या बात है? आज आप दुखी कैसे हैं?"

पिता को देखते ही वृषकेतु कर्ण के पैरों से लिपटकर बोला, "पिताजी, मैं स्तोत्र पढ़ रहा था। देखिए, मैं कैसी अच्छी तरह पढ़ता हूँ।"

कर्ण ने उसकी बात को टालते हुए कहा, "जाओ बेटा ! पहले भोजन करलो, फिर मैं तुम्हारे स्तोत्र सुन लूँगा । अरी विशाखा, इसे भोजन करवादे । जा बेटा !"

दासी आई और वृषकेतु को भोजन के लिए ले गई ।

पद्मावती समझ गई कि मामला कुछ असाधारणतया गम्भीर है । उसने फिर पूछा, "नाथ, आज आप इतने दुखी क्यों हैं ? क्या बात है ?"

कर्ण ने वह सारी बात कह सुनाई जो ब्राह्मण से हुई थी । उसे सुनकर कटी हुई लता की तरह पद्मावती मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी । पानी मँगवाकर राजा उसे होश में लाये और बोले, "प्रिये, धर्म का मार्ग महाकठिन है । धर्मनिष्ठ मनुष्य का अन्तःकरण जहाँ फूल-सा कोमल होता है वहाँ उसे वज्र से कठोर भी होना चाहिए । तू वीरांगना है । कर्ण की सहधर्मिणी है । हीन मनुष्यों के समान यह दुर्बलता तुझे शोभा नहीं देती । उठ, दिल को जरा मजबूत कर और धर्मानुष्ठान में अपने पति का साथ दे ।"

पद्मावती उठी । स्वामी के चरण पकड़कर बोली, "नाथ ! मुझे आप बल दीजिए । माता का अन्तःकरण बड़ा कोमल होता है । यह राक्षसी काम मुझसे कैसे होगा ? हे नारायण वैकुण्ठनाथ विश्वेश्वर ! यह आपकी कैसी लीला है ? मेरी बुद्धि इस समय कुछ काम नहीं करती । ब्राह्मणों का नरमांस-भक्षण ! यह कैसी असम्भव बात ? आपकी लीला अगम्य है । कहीं आपही तो ब्राह्मण के रूप में हमारी सात्त्व-परीक्षा करना नहीं चाहते ? देव, यदि यही हो तो आप ऐसे निष्ठुर कैसे होगये ? इस लीला का रहस्य

जो कुछ भी हो, मुझे आप बता दीजिए। मुझे मोह-मुक्त कीजिए। यदि ऐसा आप न कर सकें तो इन प्राणों को ले लें।"

आँखें मूँद कर पद्मावती ध्यान-मग्न हो गई। कुछ देर बाद वह उठी। शान्त-चित्त से उसने स्वामी से कहा, "आर्यपुत्र! जाइए, ब्राह्मण से कहिए कि वह स्नान-सन्ध्या करके तैयार होजायँ।"

कर्ण ने ब्राह्मण को भोजन के लिए तैयार होने को कहा और इधर भीतर आकर दोनों उस अजीब अतिथि के राक्षसी भोजन की तैयारी करने में लगे। पति-पत्नी कसाई बन गये। सारा मोह छोड़ दिया। भोजन तैयार होने पर सोने की थाली में सजाकर ब्राह्मण को भोजन के लिए बुलाया गया।

अतिथि देवता आये, चौकी पर बैठे और बोले, "कैसा अच्छा भोजन है! राजन्, यह मुझसे अकेले नहीं खाया जायगा, बाहरसे किसी बालक को बुलवा लो।"

उस राक्षसी भोजन को क्षणभर अपनी आँखों से अलग हटाने का राजा को मौका मिल गया। कर्ण किसी बालक को खोजने की इच्छा से बाहर आया, और देखता है तो वृषकेतु बाहर बच्चों में खेल रहा है! राजा गद्गद होगया। आँखों से हर्षाश्रु बहने लगे। राजा ने उसे भीतर बुलाया और अतिथि-देव के पास ले जाकर उनके चरणों में खड़ा कर दिया।

कहते हैं, अतिथि-देव स्वयं वैकुण्ठनाथ नारायण थे। भक्तों की परीक्षा लेने के लिए अघटित लीलायें करनेवाले नटनागर। वे राक्षसीपन का कलंक अपने सिर पर लगाकर अपने भक्त दानी कर्ण का नाम उन्होंने अमर कर दिया और पद्मावती भी अपने अतुल त्याग से संसार में अपना नाम अमर कर गई।

६

अनिरुद्ध-पत्नी

उषा

श्रीकृष्ण के समय में बाण नामक एक दैत्यों का राजा राज्य करता था। बाण बलवान पर बड़ा विघ्न-संतोषी था। श्रीकृष्ण से उसका बड़ा बैर था। किसीके मुँह से यदि श्रीकृष्ण की प्रशंसा निकल जाती तो वह उसकी खबर लिये बिना कभी न रहता।

बाण बड़ा शिव-भक्त था। शिव की पूजा किये बिना वह अन्न तक ग्रहण नहीं करता था। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर शिव ने उसे वर दिया था, कि "युद्ध में तुझे कोई हरा न सकेगा। देवता, मनुष्य अथवा दानव इनमें से कोई भी तुझे पराजित नहीं कर सकेगा।"

यह वर पाकर बाणासुर बड़ा प्रसन्न हुआ। साथ ही उसका अभिमान भी बढ़ गया। समस्त राजाओं को उसने सताना शुरू किया। जिससे लड़ता उसीको हरा देता। शनैःशनैः वह चक्रवर्ती भी हो गया। अब वह समझने लगा कि 'मेरे समान कोई नहीं है। मैं सबसे बड़ा हूँ।' अभिमान-वश अन्त में उसकी बुद्धि जाती रही और उसने शंकर भगवान को ही युद्ध के लिए ललकारा। शंकर ने हँसकर कहा, "जरा धीरज रख। शीघ्र ही एक ऐसा वीर पैदा होगा, जो तुझसे लड़ सकेगा। वह तेरा अभिमान दूर कर देगा।"

उस समय बाणासुर को भावी दुःख की कल्पना भी नहीं थी, इसलिए वह भगवान शंकर के वचन से जरा भी नहीं डरा; बल्कि उत्सुकतापूर्वक अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रतीक्षा करने लगा।

बाणासुर के कोई सन्तान नहीं थी। एक दिन सवेरे बाणासुर अपने महल की अटारी पर बैठा था। इतने में उधर से एक दासी निकली। ज्योंही बाणासुर की ओर उसकी दृष्टि जाती, वह अपने मुँह पर घूँघट काढ़ लेती। बाणासुर देखता था कि वह दासी दिन में किसी समय ऐसा नहीं करती थी। अतः उसने अपने सामने उसे बुलाकर उससे इसका कारण पूछा। दासी ने टेढ़ा मुँह करके ही कहा—"महाराज, सुबह-सुबह निःसन्तान मनुष्य का मुँह देखने से पाप लगता है। इसलिए सुबह-सुबह मैं आपका मुँह नहीं देखना चाहती।" दासी की इस बात से बाणासुर को बड़ा दुःख हुआ। उसी दिन से बाणासुर सन्तान-प्राप्ति के लिए तपस्या करने चल दिया।

बाणासुर बड़ी कठिन तपस्या करने लगा। शीघ्र ही भगवान आशुतोष उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर बोले, "बाण, वर माँग। क्या चाहता है, सो कह।" बाणासुर ने पुत्र के लिए याचना की। भगवती पार्वतीजी ने प्रसन्न होकर कहा, "बाण, पुत्र तो नहीं, तुझे एक बहुत सुन्दर पुत्री होगी।" बाण ने सोचा, "खैर, पुत्र नहीं तो पुत्री ही सही। निःसन्तान होने का कलङ्क तो मिटेगा।" वह खुशी-खुशी घर को लौटा।

यथासमय बाणासुर के एक [illegible] हुई। कन्या के सौन्दर्य उषा के [illegible] उज्ज्वल [illegible] था, इसलिए उसका नाम [illegible]

के समान बढ़ती गई। सारे संसार में बाणासुर को कोई ऐसा सुन्दर पुरुष नहीं दिखाई दिया जिसके साथ वह उषा को ब्याह सके। उषा भी सचिन्त हुई। भगवती पार्वतीजी से उसने प्रार्थना की, "माता, मुझे ऐसा बरदान दीजिए, जिससे मुझे अपने योग्य सुन्दर और पराक्रमी पति प्राप्त हो; जो मुझसे भी अधिक सुन्दर हो, सौन्दर्य और पराक्रम में जिसकी बराबरी किसीसे न हो।"

उषा की यह मनःस्थिति थी कि इतने में भगवान शंकर ने बाणासुर से कहला दिया, कि "तुझे अपने समान वीर से युद्ध करने की अभिलाषा थी? ले, अब उषा का श्वसुर ही तेरे बल का संहार करेगा।"

महादेव का संदेश सुनकर बाणासुर तो काँप गया। वह अपने पूर्वकर्मों पर पछताने लगा। दीनतापूर्वक उसने महादेवजी से प्रार्थना की, कि "महाराज, कृपाकर इस भय से छुड़ाइए।" महादेव ने कहा, "भाई, अब बात मेरे हाथ में नहीं है। परन्तु ले, तुझे एक ध्वजा मैं देता हूँ। इसे तू अपने पास रख। जब यह गिर जायगा तब समझ लेना कि तेरा दुश्मन उत्पन्न होगया।" इसके बाद वह अपने घर को लौट आया और अपने मंत्री कुमांडक को सारा कथा कह सुनाई। दोनों ने मिलकर निश्चय किया कि उषा का विवाह ही न किया जाय। उषा की माता ने बाण से बहुत आग्रह-पूर्वक कहा कि लड़की ब्याहने लायक हो गई है, उसका ब्याह जल्दी करदो। परन्तु बाण ने असली बात को छिपाकर विवाह की बात को टाल दिया। उलटे उसने उषा को गुप्त महल में रख दिया और उस-पर कड़ा पहरा रख दिया। उसके मनोविनोद के लिए कुमांडक की बेटी चित्ररेखा रख दी गई।

उषा अनुपम सौन्दर्यशालिनी थी । उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से रूप-रश्मियाँ निकलती थीं । सखी चित्रलेखा भी उसीके समान रूपवती थी । दोनों के एकसाथ रहने के कारण उषा को प्रसाद एकान्तवास नहीं खला । वार्त्ता-विनोद में उनके दिन बीतने लगे ।

एक दिन उषःकाल में उषाने एक स्वप्न देखा । पहले तो उसने देखा कि वह कहीं अरण्य में घूम रही है । वन-शोभा तथा यहाँ-वहाँ दौड़ते हुए मृगशावकों को देखकर उषा के चित्त को बड़ा आल्हाद हुआ । आगे बढ़कर उसने एक अप्रतिम रूप-यौवन-शाली पुरुष को देखा । युवक के चेहरे पर विलक्षण तेज चमकता था । उसे देखते ही उषा उसपर अनुरक्त होगई । उसने देखा कि युवक भी उषा के सौन्दर्य को देखकर उसपर मोहित हो गया है । मोहन-मन्त्र से आकर्षित हो युवक उषा की ओर बढ़ा । वह लज्जा के मारे वहीं खड़ी होगई । वह रोमांचित्त होगई और शरीर से पसीना निकलने लगा । कपोल लज्जा के मारे अरुण होगये । युवक नजदीक आया और उषा से बोलने ही वाला था कि उसकी नींद खुल गई । आँखें खुलते ही देखती है तो अपने महल के भीतर ही अपने कमरे में सोई हुई थी !

सुख-स्वप्न से जागते ही उषा बड़ी व्याकुल होगई । चित्रलेखा पास ही सो रही थी, वह उषा की हालत देखकर चकित होगई । स्वप्न की बात जान लेने पर बार-बार उसने उषा को समझाया । पर उषा को शान्ति कहाँ ? वह तो दिन दिन क्षीण होने लगी । चित्र-लेखा ने अपनी सखी के चित्त को शान्त करने के लिए बाणासुर की प्रतिज्ञा का भी हाल कह सुनाया और कहा कि तेरे बिवाह से तेरे पिता का भय है । परन्तु उषा को जरा भी शान्ति नहीं

हुई । उषा की अवस्था दिन-दिन बिगड़ते देखकर चित्रलेखा ने अपनी चित्रकला का उपयोग किया । स्वप्न में देखे हुए युवक के रूप का वर्णन करने के लिए चित्रलेखा ने उषा से कहा । परन्तु उषा तो ऐसी पगली हो गई थी कि वह उसका वर्णन तक नहीं कर सकी । वह तो योंही पगली की तरह बकने लगी । चित्रलेखा तो अब और भी चिन्ताग्रस्त होगई । सखी की सांत्वना का और कोई उपाय न देख उसने त्रैलोक्य के सुन्दर-सुन्दर पुरुषों के चित्र बना-बनाकर उषा को दिखाना शुरू किया ।

स्वर्ग के देवताओं और पाताल के नागों के चित्र चित्रित करने के बाद चित्रलेखा ने पृथ्वी के अनेक नरेशों के चित्र बनाये । परन्तु उनमें से एक भी उषा को नहीं भाया । अन्त में चित्रलेखा ने द्वारिका के यादव-वंश को चित्रित करना शुरू किया । श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न के चित्र बनाये । बाद में अनिरुद्ध का चित्र बनाकर उसने ज्योंही उसमें रङ्ग भरा कि उषा का सारा पागलपन जाता रहा । उसने अत्यन्त आनन्दपूर्वक कहा—"सखी, अब कष्ट न कर । मेरे चित्तचोर तो यही हैं । इनको किसी तरह मिला दे; नहीं तो अब ये प्राण न रहेंगे ।"

चित्रलेखा ने आलेखन-सामग्री को अलग रक्खा और अपने विमान पर चढ़कर द्वारिका पहुँची । रात का समय था । कुमार अनिरुद्ध अपने महल की अटारी पर सोये हुए थे । शीतल वायु के कारण उन्हें गाढ़ निद्रा आ रही थी । चित्रलेखा नारद की सहायता से उनके महल में घुसी और पर्यङ्क-सहित अनिरुद्ध को अपने विमान पर रखकर उषा के पास आपहुँची । उसे देखते ही उषा तो अत्यन्त आतुर हो उठी । इतने में अनिरुद्ध की नींद भी

खुल गई। आँखें खुलते ही उसने देखा कि यहाँ न तो द्वारिका का महल है, न परिचित परिचारक लोग। क्षणभर अनिरुद्ध चिन्तातुर होगये। परन्तु उषा के कोमल हस्तस्पर्श ने उनकी चिन्ता को सानन्द आश्चर्य में परिणत कर दिया। एक कोमल लता की भाँति उषा लज्जावश उनके पैरों में लुढ़क गई। धीरे-धीरे उसने अपने मनोरथ और उन्हें यहाँ लाने का कारण भी लज्जाभरी संक्षिप्त वाणी में समझा दिया। अनिरुद्ध भी इस अकल्पित लाभ से चकित और प्रसन्न होगये थे। उन्होंने भी उषा की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और दोनों के दिन आनन्द से कटने लगे।

पर ज्योंही यह खबर बाणासुर तक पहुँची, वह आगबबूला होगया। बाणासुर ने अपने सेनानायकों को अनिरुद्ध को पकड़ने के लिए भेजा, पर अनिरुद्ध ने उन सबको मार भगाया। अन्त में बाणासुर आया और उसने अनिरुद्ध को पराजित करके गिरफ्तार कर लिया।

श्रीकृष्ण तक भी ये समाचार पहुँचे। शीघ्र ही श्रीकृष्ण अपनी सेना सहित वहाँ आये और बाणासुर को पराजित करके बेटे व बहू को ले गये।

१०

अभिमन्यु-पत्नी

उत्तरा

पाण्डव लोग गुप्त वेष में राजा विराट के यहाँ बहुत दिन तक रहे थे। जब उनके गुप्त-वास की अवधि समाप्त होने में दो-चार दिन बाक़ी रह गये थे तभी बलराम की कन्या वत्सला के साथ अभिमन्यु का विवाह हुआ। यह विवाह भी कुछ अद्भुत ही था। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और बलराम की कन्या वत्सला दोनों मामा-फूफी की सन्तान और भाई-बहन थे। बाल्यावस्था में दोनों साथ ही खेला करते थे। दोनों साथ ही उठते-बैठते थे और साथ ही पले थे। इस कारण दोनों में बहुत अधिक प्रेम हो गया। ज्यों-ज्यों ये बड़े होते गये त्यों-त्यों इनका प्रेम भी बढ़ता गया। दोनों में इतना अधिक प्रेम देखकर सुभद्रा और श्रीकृष्ण ने सोचा कि इन दोनों को विवाह-बन्धन में बाँध दिया जाय। परन्तु श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम की प्रवृत्ति आरम्भ से ही दुर्योधन की ओर कुछ अधिक थी। अपनी पुत्री वत्सला का विवाह भी उन्होंने दुर्योधन के पुत्र के साथ ही करना सोच रक्खा था। जब सुभद्रा ने देखा कि भाई के सामने मेरी कुछ भी न चलेगी, तब वह अपने पुत्र को साथ लेकर वन में चली गई। वहाँ उसकी घटोत्कच से भेंट हुई, जो भीम का पुत्र था और

हिडिम्बा राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु और हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच में बहुत गहरी मित्रता होगई। घटोत्कच की सहायता से ठीक विवाह के दिन अभिमन्यु वत्सला का हरण कर लाया। थोड़े ही समय में चारों ओर बिजली की तरह यह ख़बर फैल गई कि वत्सला के साथ अभिमन्यु का विवाह होगया। यथासमय विराट देश में भी यह समाचार पहुँचा और गुप्तवेष में रहनेवाले पाण्डवों ने भी यह समाचार सुना। अर्जुन उन दिनों राजा विराट की कन्या उत्तरा को नृत्य सिखलाने के लिए नियुक्त थे। उन्होंने जब अपने पुत्र के इस विवाह का समाचार सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुए। उनके मुख पर स्पष्ट रूप से हर्ष की छटा दिखाई पड़ने लगी। अर्जुन की शिष्या उत्तरा बहुत ही चतुर थी। वह सोचने लगी कि यह अभिमन्यु कौन है? आज अभिमन्यु की विजय सुनकर गुरुजी इतने अधिक प्रसन्न क्यों हैं? इसका कारण ढूँढ निकालना चाहिए। और इस बात का भेद जानने के लिए वह कोई उपयुक्त प्रसंग छेड़ने का अवसर ढूँढने लगी।

एक दिन अर्जुन को बहुत अधिक प्रसन्न देखकर उत्तरा ने स्पष्ट रूप से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया। अर्जुन ने सोचा कि 'हम लोगों के गुप्तवास की अवधि अब समाप्त ही होने को है। आजतक मैंने कभी किसीको अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया। परन्तु अब अपने आपको प्रकट कर देने में कोई हानि नहीं है।' इसलिए उन्होंने अपना परिचय दिये बिना ही उत्तरा को विस्तारपूर्वक यह बतला दिया कि यह अभिमन्यु कौन है, किसका पुत्र है, उसका रूप कैसा है, उसे कैसी अच्छी शिक्षा मिली है,

उसने कैसे-कैसे पराक्रम के काम किये हैं, इत्यादि। पुत्र का गुणानुवाद करते-करते पिता को जो आनन्द और गर्व होना चाहिए उसके सब लक्षण अर्जुन के मुख पर स्पष्ट दिखाई देते थे। इसके उपरान्त उन्होंने उत्तरा से कहा—"अभी मैं इससे अधिक और कोई बात नहीं बतला सकता। इसलिए अब तुम्हें इस सम्बन्ध में और कोई समाचार न पूछना चाहिए।"

जिस दिन से उत्तरा ने अर्जुन के मुख से अभिमन्यु के रूप, गुण और पराक्रम की प्रशंसा सुनी उसी दिन से उसके जीवन में एक बहुत ही बड़ा और विलक्षण परिवर्तन होगया। सदा प्रसन्न रहनेवाली सरल बालिका अब सदा भारी विचार और चिन्ता में मग्न रहने लगी। खाने-पीने की ओर से भी उसकी रुचि हट गई। रात के समय उसे नींद भी नहीं आती थी। चाँदनी रात में वह छत पर बैठकर चन्द्रमा की ओर देखा करती और परमात्मा से प्रार्थना किया करती—"हे देव! तुम मेरी मनोकामना पूरी करो। जिस युवक के चरणों में मैंने अपने प्राण अर्पित कर दिये हैं, जिसके अभाव का ध्यान करके मेरा हृदय एक प्रकार की न्यूनता का अनुभव करता है, जिसके लिए मेरा हृदय सैकड़ों बाणों से बिंधा जाता है, उसीके साथ मेरा संयोग करा दो और मेरे हृदय की यह न्यूनता दूर करो।" बस, इसी प्रकार के विचार उत्तरा के मन में दिन-रात उठा करते थे। उसका मन उसके वश में नहीं रह गया था। उसका हृदय सैकड़ों बाधाओं और विघ्नों को पार करता हुआ पूर्ण वेग से अभिमन्यु की ओर दौड़ रहा था।

उत्तरा पूर्णरूप से प्रेम के जाल में फँस चुकी थी। वह अच्छी

तरह जानती थी कि अभिमन्यु का विवाह वत्सला के साथ हो चुका है। अभिमन्यु बाल्यावस्था से ही वत्सला के साथ रहता आया था। उसीके साथ खेलता-कूदता था और उसीके साथ पला था। वत्सला के ऊपर अभिमन्यु का प्रेम होना बहुत ही स्वाभाविक था। यह प्रेम ऐसा नहीं था जो आगे चलकर कुछ दिनों में कम हो जाता। पत्थर पर खोदे हुए अक्षरों की भाँति वत्सला का प्रेम अभिमन्यु के हृदय पर सदा के लिए अङ्कित हो चुका था। इन सब बातों को जानते हुए भी उत्तरा अभिमन्यु के साथ विवाह करने के लिए पागल हो रही थी। वत्सला के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की ईर्ष्या या द्वेष का भाव नहीं था। वत्सला अभिमन्यु को चाहती है और अभिमन्यु वत्सला को चाहता है, इसके लिए भी उसके मन में किसी तरह की नाराजगी नहीं थी। उसे अभिमन्यु के प्रेम की भी कोई परवा नहीं थी। उसे तो केवल इसी बात की अभिलाषा थी कि मैं अभिमन्यु के प्रति अपना अनन्य प्रेम प्रकट कर सकूँ। उत्तरा के मन में ता यही उत्कण्ठा थी कि मैं अभिमन्यु के सुन्दर मुख की ओर एकटक देखा करूँ, युद्ध में जाते समय उन्हें वीर वेष में सजाकर, उनके सुख में, रणक्षेत्र में और शान्ति के समय में, सदा उनके साथ रहा करूँ।

उत्तरा की इस चिन्ता की कोई सीमा नहीं थी। वह अकेली बैठी-बैठी सोचा करती—"मैं कौनसा ऐसा उपाय करूँ, जिससे मुझे अभिमन्यु मिलें? जब जो चाहे तब मनुष्य पक्षियों की भाँति हवा में क्यों नहीं उड़ सकता? यदि ऐसा होता तो मैं अभी पंख फड़फड़ाती हुई अभिमन्यु के पास जा पहुँचती और अपनी सारी

मर्म-वेदना उन्हें सुनाती । मैं अपना हृदय चीरकर उन्हें दिखला देती कि मैं उनपर कितना अधिक प्रेम करती हूँ । परन्तु ये सब बातें तो किसी प्रकार हो ही नहीं सकतीं । तो फिर अब मैं क्या करूँ ? जिन अभिमन्यु के लिए मेरा हृदय इतना अधिक तड़प रहा है उन्हें तो मेरे सम्बन्ध की कुछ ख़बर ही नहीं है । हाय ! मैं किस प्रकार उनपर अपना प्रेम प्रकट करूँ ? यह कैसी विडम्बना है ?"

जिन दिनों उत्तरा इस प्रकार चिन्ता के अगाध सागर में डूबी रहा करती थी, उन्हीं दिनों राजा विराट के दरबार में एक चित्रकार आया । उस चित्रकार के पास एक सुन्दर वीर युवक का चित्र था । राजा चित्र देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे ख़रीदने के विचार से उसने उसका मूल्य पूछा । चित्रकार ने उत्तर दिया—"महाराज ! मैं आपसे इस चित्र का कोई मूल्य नहीं चाहता । आप इसे अपने पास रख सकते हैं ।" राजा ने सोचा कि यह चित्रकार है तो बहुत चालाक; यह चित्र का दाम बढ़ाने के लिए ही इस प्रकार मीठी-मीठी बातें कर रहा है । यही सोचकर राजा उसका मूल्य ठहराने का आग्रह करने लगा । पर चित्रकार ने कहा–"महाराज ! यह चित्र अपने पास रख लीजिए । राजकुमारी के विवाह के दिन फिर यहाँ आऊँगा । उस समय आप मुझे इस चित्र का जो-कुछ मूल्य देंगे, वही मैं ले लूँगा ।" इतना कहकर वह चित्रकार वहाँसे चला गया । राजा भी दरबार में से उठकर अन्तःपुर में गया । वहाँ उसने और चित्रों के पास ही वह चित्र भी टाँग दिया । अन्तःपुर में बहुतसे लोग वह चित्र देखने के लिए आये । दास-दासियाँ और बालक-बालिकायें सभी वह

चित्र देखकर बहुत प्रसन्न होती थीं। उस चित्र का एक नज़र देखते ही सब लोग कहने लगते थे, कि "यह कैसा सरस रूप है! ऐसा मालूम होता है मानों साक्षात् नारायण इस अन्तःपुर में आकर खड़े होगये हैं।" उस चित्र के अलबेले युवक के अङ्ग पर युद्ध का वेष था। माथे पर पगड़ी बँधी हुई थी, हाथ में धनुष-बाण था, पीछे तीरों का तर्कश था और कमर में तलवार थी। ऐसा जान पड़ता था मानों युद्धक्षेत्र में जाने के लिए तैयार खड़ा है। उसकी आँखों से दिव्य ज्योति निकल रही थी। जो कोई चित्र देखने के लिए आता वह पहरों उसके सामने ही खड़ा रह जाता।

उत्तरा भी अपने साथ अर्जुन को लेकर वह चित्र देखने के लिए वहाँ आई। उस चित्र को देखते ही उत्तरा की आँखों में आँसू भर आये, हृदय काँपने लगा और उसके सारे शरीर में प्रेम का संचार होगया। उसने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो अर्जुन को चकित खड़े पाया। उत्तरा ने अर्जुन से पूछा—"गुरुजी! आप यह चित्र देखकर इस प्रकार क्यों चौंक पड़े? आप मुझे साफ बतलाइए कि यह किसका चित्र है?" थोड़ी देर तक सोचने के उपरान्त अर्जुन ने कहा—"यह अभिमन्यु का चित्र है।" उत्तरा ने पूछा—"आप यह चित्र देखकर इस प्रकार क्यों चौंक पड़े थे?" अपने हृदय के वास्तविक भाव को छिपाकर अर्जुन ने कहा—"उत्तरा! तुम अभी बच्ची हो। तुम इन सब बातों को क्या समझोगी? इस युवक के पिता और चचा आदि गुप्तवेश में बन-वास भोग रहे हैं। इस युवक को इस चित्र में इस प्रकार युद्ध-वेश में सज्जित देखकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जिन लोगों के अत्या-

चार के कारण इनके बड़े लोगों को बनवास का असह्य दुःख भोगना पड़ा है, उन्हींके साथ लड़ने के लिए यह तैयार हुआ है। भला, उत्तरा अब तुम्हीं बताओ कि ऐसे युवक को इस वेश में देखकर किसका मन विचलित न होगा ?" उत्तरा ने भी उनकी यह बात मान ली और वह बिना कुछ और सवाल किये एकटक उस चित्र की ओर देखती हुई सोचने लगी, कि "अबतक मैं दिन-रात जिसकी चिन्ता किया करती थी उसीका यह चित्र आज सौभाग्य से मेरे सामने आगया है। परन्तु मैं इनको सशरीर अपने पास कब पाऊँगी ? हाय ! इस जीवन में मेरा इनके साथ मिलाप होगा भी या नहीं ? कब वह दिन आवेगा, जब मैं अपने हाथों से इन्हें वीर वेष में सज्जित करके रणक्षेत्र में विजयी होने के लिए भेजूँगी !"

आग कभी कपड़े के अन्दर बाँधकर नहीं रक्खी जा सकती। उत्तरा के हृदय में लाभाग्नि प्रबल हो उठी और वह उसी आग में जल-जलकर राख होने लगी। जब बहुत-कुछ सोचने पर भी उसे कोई उपाय नहीं दिखाई दिया तब, अन्त में, वह केवल अपने भाग्य पर भरोसा रखकर प्रतीक्षा करने लगी।

इस प्रकार अनेक दिन बीत गये। नगर में चारों ओर शान्ति फैल रही थी। इतने में एकाएक समाचार मिला कि राज्य की दक्षिण दिशा से शत्रु आ रहे हैं। वे लोग रास्ते में गाँव आदि लूट रहे हैं और प्रजा को बहुत अधिक कष्ट दे रहे हैं। राजा अपनी सेना तथा सामन्तों आदि को साथ में लेकर शत्रुओं के साथ लड़-ने के लिए चला। थोड़ी ही देर बाद दूसरा समाचार यह मिला कि राज्य की उत्तर दिशा में शत्रु आये हैं और गौओं तथा बछड़ों आदि पर बहुत अधिक अत्याचार कर रहे हैं। ग्वालों के बालक

राजमहल में पहुँचकर पुकार मचाने लगे। अब चिन्ता यह हुई कि उस ओर शत्रुओं का दमन करने के लिए कौन जाय? उस समय राजधानी में न तो राजा ही था और न सेना थी। राजा थोड़ी ही देर पहले सेना को साथ लेकर दक्षिण दिशा में शत्रुओं से लड़ने के लिए जा चुका था। उस समय राजमहल में एक वयस्क राजकुमार उपस्थित था। वह मारे भय के कहीं जा नहीं सकता था। पर फिर भी वह ऐसे अवसर पर कुछ साहस करके अन्तःपुर की स्त्रियों के सामने अपना मान रखने के लिए चट बाहर निकल आया और कहने लगा, 'बताओ, मैं क्या करूँ? इस संकट से बचने के लिए कौन सा उपाय किया जाय? राज्य में शत्रु आ पहुँचे हैं। मैं चाहता हूँ कि जाकर उन सबको मारकर बाहर निकाल दूँ। पर कठिनाई यह है कि इस समय रथ हाँकनेवाला कोई सारथी यहाँ नहीं है। मेरा रथ कौन हाँकेगा?"

राज्य में शत्रु आ पहुँचे थे। वे निर्दोष गौओं और बछड़ों पर अत्याचार कर रहे थे। परन्तु इतना होने पर भी वहाँ कोई ऐसा आदमी न था जो उन लोगों को मारकर बाहर निकाल सकता। जब वीर अर्जुन ने यह बात सुनी तब उनसे खामोश नहीं बैठा रहा गया। उन्होंने सोचा कि हमारे गुप्तवास की अवधि पूरी हो चुकी है और आज उससे दो दिन और ऊपर बीत चुके हैं। ऐसी दशा में यदि मैं इस समय अपना वास्तविक परिचय लोगों को दूँ तो इसमें कोई हानि नहीं है। यह सोचकर उन्होंने उत्तरा से अपने सम्बन्ध की सब बातें बतला दीं और कहा—"मैं तीसरा पाण्डव अर्जुन हूँ। गुप्तवास में इतने दिनों तक उर्वशी के

शाप के कारण नपुंसक होकर तुम्हें नृत्य सिखलाने के लिए अन्तः-पुर में रहता था। मेरे और सब भाई तथा द्रौपदी भी यहीं राजा विराट के यहाँ भिन्न-भिन्न कामों पर नौकर हैं।"

अर्जुन की सब बातें सुनकर उत्तरा स्तम्भित होगई। परन्तु इससे वह जरा भी भयभीत नहीं हुई। ये बातें सुनकर उसका साहस और भी बढ़ गया। उसे इस बात का दृढ़ विश्वास होगया कि यदि अर्जुन जैसे वीर मेरे भाई के साथ युद्ध करने जायँगे तो अवश्य ही उनकी जीत होगी।

अर्जुन उसी नपुंसक के वेश में ही सारथी बनकर राजकुमार के साथ युद्धक्षेत्र में गये। सारथी के रूप में एक हाथ में लगाम पकड़े हुए अर्जुन ने बहुत ही वीरतापूर्वक शत्रुओं के साथ युद्ध किया। बहुत-कुछ मारकाट होने के उपरान्त शत्रुओं की सेना के बहुतसे लोग मारे गये। जो थोड़े-से लोग बच रहे थे वे किसी प्रकार जान बचाकर वहाँ से भागे। अर्जुन राजकुमार के साथ राजधानी में लौट आये।

राजा ने जब यह सुना कि राजकुमार भी दूसरी ओर युद्ध में गया है, तो कुमार का साहस देखकर एकबार तो उसे बहुत आनन्द हुआ, पर फिर वह सोचने लगा कि "कुमार अभी बालक है, वह आजतक कभी किसी युद्ध में नहीं गया है; न जाने वह वहाँ जाकर क्या कर बैठे।" राजा इसी प्रकार चिन्ता कर रहा था कि इतने में राजकुमार महल में आपहुँचा। उस समय तक अर्जुन का सच्चा हाल उत्तरा के सिवा और कोई नहीं जानता था। चारों ओर समाचार फैल गया कि राजकुमार युद्ध में विजयी हुआ। यह सुनकर राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ। सभा में बैठे हुए

सब लोगों ने राजकुमार को शाबाशी दी। सारे नगर में राजकुमार का जय-जयकार होने लगा।

दूसरे दिन सवेरे उठकर पाण्डवों ने अपना गुप्तवेश उतार डाला और राजसी वस्त्र धारण करके सभा में आ पहुँचा। जब राजा विराट सभा में आया तब प्रायः सभी सभासद् उसका सत्कार करने के लिए उठकर खड़े हो गये; परन्तु पाण्डव अपने स्थान पर ही बैठे रहे। यह नई बात देखकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसके मन में कुछ क्रोध भी आया। उसके माथे पर पसीने की दो बूँदें भी दिखाई देने लगीं। इतने में अर्जुन ने उठकर और राजा के सामने जाकर आदि से अन्त तक अपना सारा हाल उसे कह सुनाया। अब सब लोगों को मालूम हुआ कि शत्रुओं को पराजित करनेवाले अर्जुन ही थे, राजकुमार तो उनके साथ खाली पुतली की तरह खड़ा रहता था। राजकुमार ने भी अर्जुन की वीरता की साक्षी दी। राजा इस बात से बहुत लज्जित हुआ कि पाण्डवों के गुप्तवास के समय मैंने अनजान में उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये; पर जब साथ ही उसे इस बात का भी विचार हुआ कि मैं ही वह भाग्यशाली हूँ जिसने पाण्डवों को ऐसे कष्ट के समय अपने यहाँ आश्रय दिया, तब उसे सन्तोष भी हुआ।

अन्तःपुर में जितने गहने आदि थे वे सब अपनी कन्या उत्तरा को पहनाकर राजा उसे राजसभा में ले आया और उसे अर्जुन के हाथ सौंपकर बोला—"यह कन्या-रत्न आपके ही योग्य है आप इसको स्वीकार करके मुझे कृतार्थ कीजिए।" उत्तरा के मन में जो विचार था वह किसीको मालूम नहीं था। राजसभा में जो

लोग बैठे हुए थे वे सब सोचने लगे कि अर्जुन जैसा स्वामी पाकर उत्तरा बहुत ही सन्तुष्ट हुई होगी और अर्जुन भी उत्तरा जैसी सुन्दरी पाकर बहुत प्रसन्न होगा। परन्तु उत्तरा के मन का भाव अर्जुन को अच्छी तरह मालूम था। अर्जुन बहुत अच्छी तरह जानते थे कि उत्तरा मेरे पुत्र अभिमन्यु को आत्म-समर्पण करचुकी है, और उसके बिना उसका जीवन बिलकुल नीरस और निर्जीव हो रहा है। अतः उन्होंने राजसभा में बैठे हुए सब लोगों को चकित करते हुए कहा—"इस सुलक्षणा राजकुमारी उत्तरा को मैंने नृत्य, वाद्य और संगीत आदि की शिक्षा दी है; इसलिए मेरे लिए तो यह कन्या के ही समान है। हाँ, मेरा पुत्र अभिमन्यु बहुत वीर और सुन्दर है। यदि आप अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह कर देंगे तो इसे अपनी पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करके मैं बहुत ही उपकृत होऊँगा।" अर्जुन की यह बात सुनते ही उत्तरा के मुखारविन्द पर प्रसन्नता का तेज स्पष्ट-रूप से दिखाई देने लगा।

अभिमन्यु के सद्गुणों की प्रशंसा सभी लोग सुन चुके थे। इसलिए सबने अर्जुन की यह बात मानली।

अभिमन्यु को लाने के लिए तुरन्त आदमी भेजा गया। उसके आने पर बहुत धूमधाम के साथ उसके साथ उत्तरा का विवाह कर दिया गया। भगवान भी उत्तरा पर बहुत प्रसन्न हुए। आज उसकी बहुत दिनों की इच्छा पूरी हुई। जिसे वह बहुत दिनों से चाहती थी उसीको आज स्वामी के रूप में पाकर उसके आनन्द का पार न रहा।

अभिमन्यु और उत्तरा का जीवन बहुत ही आनन्दमय हो

गया। युद्ध में जाते समय अपने स्वामी को वीर वेष में सजाने की अपनी साध उत्तरा ने अनेक बार पूरी की।

जब महाभारत के अन्तिम युद्ध के समय अभिमन्यु अपनी प्रिय पत्नी उत्तरा के पास बिदा माँगने के लिए गया, उस समय इन वीर स्नेहार्द्र पत्नी ने जो कुछ कहा वह इसीके उपयुक्त था। हालांकि इस बार उसका मन कुछ सशंक होरहा था, फिर भी उसने बहुत ही अच्छी तरह अभिमन्यु को वीर वेष में सज्जित करके युद्ध में जाने के लिए बिदा किया और परमात्मा से उसके मंगल की प्रार्थना की।

संग्राम में वीर बालक अभिमन्यु ने असाधारण पराक्रम दिखलाया। वह कौरवों के अनेक बड़े-बड़े योद्धाओं के साथ अकेला ही लड़ता रहा और हजारों शत्रुओं के प्राण लिये, परन्तु अन्त में जयद्रथ के रचे हुए षड़यन्त्र का शिकार बना और मारा गया।

जिस समय उत्तरा ने सुना कि मेरा पति युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुआ है, उस समय उसके कोमल हृदय की जो दशा हुई होगी उसका अनुमान स्त्रियाँ सहज ही कर सकती हैं। जिस समय असंख्य शस्त्रों से बिंधा हुआ अभिमन्यु का मृत-शरीर रणक्षेत्र से उसके सामने लाया गया उस समय वह "हाय नाथ, हाय नाथ!" कहती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी और तुरन्त मूर्च्छित हो गई। थोड़ी देर बाद जब उसे होश आया तब वह अपने पति के मृत शरीर को गले लगाकर हृदय-विदारक बिलाप करने लगी।

उत्तरा अपने यौवन के आरम्भ में ही विधवा होगई थी। परन्तु उसके भाग्य में पति के मृत-शरीर के साथ सती होना नहीं

बढ़ा था। उसके गर्भ में बालक था और वही एक ऐसा बालक था जो कौरव-पाण्डवों के कुल में उस समय बच रहा था। उसकी रक्षा करना बहुत जरूरी था। अतः पति के साथ सती होने की इच्छा को लोक-कल्याण के लिए रोकना पड़ा। महाभारत के भयंकर युद्ध में जब पाण्डवों और कौरवों का पूरा-पूरा नाश होगया तब एक यही बालक परीक्षित जीवित बच रहा था। पाण्डव उसी-को गद्दी देकर हिमालय की ओर गये थे। राजा परीक्षित को उत्तरा ने बहुत ही अच्छी शिक्षा दी थी। ऐसे प्रतापी पुत्र को जन्म देने के कारण ही वह रत्नगर्भा नाम से भी प्रसिद्ध हुई।

११

जयद्रथ-पत्नी

दुःशला

दुःशला महाराज धृतराष्ट्र और महारानी गान्धारी की पुत्री थी। माता के समान ही यह भी बड़ी सत्यपरायण थी। अपने प्रियजनों के लिए कभी सत्य का मार्ग नहीं छोड़ती थी। सिन्धु देश के राजा जयद्रथ के साथ इसका विवाह हुआ था। दुर्योधन आदि इसके भाइयों ने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया, इसपर इसने उन्हें बहुत फटकारा और यह बताया था कि सती स्त्री का अपमान करना कितनी बुरी बात है।

दुःशला का पति जयद्रथ भी दुराचारी था। उसने वन में द्रौपदी का हरण किया था। इसपर इसने अपने पति को भी खूब खरी-खोटी सुनाई थी।

जयद्रथ जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में पाण्डवों से लड़ने के लिए गया तब इसने उसे बहुत समझाया-बुझाया था। इसने कहा था कि "युद्ध में आप कभी कोई बात ऐसी न करें जो अधर्म-युक्त हो। हमेशा धर्मयुद्ध करें। मृत्यु से कभी न डरें। इस संसार में को[illegible] अमर [illegible]। अमर वही है जो अपने पीछे अमर कीर्त्ति छोड़ जाता है। रणभूमि से पलायन करके लौटने की अपेक्षा वीर पुरुष के लिए अधिक लज्जाजनक और क्या हो सकता है?"

जब अर्जुन के हाथों जयद्रथ का वध हुआ, तब इसका पुत्र सुरथ नाबालिग था। दुःशला ने उसकी अभिभाविका के रूप में सिन्धु देश का शासन किया था। इसके शासन-काल में प्रजा बड़ी सुखी रही और दुःशला ने प्राचीन भारत में यह सिद्ध करके दिखा दिया कि स्त्रियाँ भी राजशासन का काम अच्छी तरह कर सकती हैं।

भारत के स्त्री-रत्न

[दूसरा भाग]

विविध

१

पति को मोह-मुक्त करनेवाली

चूड़ाला

चूड़ाला सौराष्ट्र (काठियावाड़) की राजकन्या थी। द्वापर-युग में इसका जन्म हुआ था। यह बड़ी सुशिक्षित और संगीत-नृत्यादि कलाओं में विशेष निपुण थी। साथ ही इसका सौन्दर्य भी असाधारण था। शिखिध्वज नामक एक प्रतापी राजा उस समय उज्जैन में राज्य करता था; जो बड़ा सद्गुणी, प्रतापी, धर्म-परायण और परम निरभिमानी एवं विनयी था। उसीके साथ इसका विवाह हुआ था।

विवाहोपरान्त दोनों के मन एक-दूसरे से मिल गये थे और दिन-प्रति-दिन उनका प्रेम बढ़ रहा था। दोनों के विचार और इच्छायें एकसी होने लगीं, और दोनों ऐसे मालूम पड़ने लगे मानों दोनों शरीरों में एक ही अखण्ड जीव बसा हो। चूड़ाला शिखिध्वज से धर्मशास्त्र, राजनीति आदि सीखकर अनेक विद्याओं में पारङ्गत होगई। राजा ने भी उससे संगीत, नृत्य, वाद्य आदि कलायें सीखीं। पृथक्-पृथक् शरीर होते हुए भी एकात्म हुए प्रेम के कारण स्वच्छ और मधुर दम्पती आनन्द के साथ अपना जीवन ऐसा व्यतीत कर रहे थे मानों साक्षात् शिव और पार्वती के ही अवतार हों। अनेक वर्षों तक इसी प्रकार इस प्रेमी जोड़ी ने सुख और विलास का उपभोग किया। पर अन्त में इन्हें

भान हुआ कि भोग-विलास में हमने जीवन के अनेक अमूल्य वर्ष नष्ट कर दिये। यह देह बुढ़ापे और मृत्यु के आधीन है। पका हुआ फल गिरकर ही रहता है, वैसे ही इस देह के लिए भी बुढ़ापा और मौत अनिवार्य है। पार्वत्य नदी में वर्षा होने पर जैसे बाढ़ आती और उसके बन्द होते ही चली जाती है वैसे ही हमारा यौवन भी अस्थायी है। धनुष से छोड़े हुए बाणों की नाईं सुख भी जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। मांस पर झपटनेवाले गिद्ध आदि पक्षियों की तरह ही तृष्णा और दुःख चित्त पर झपटा करते हैं। बरसात के पानी के बुदबुदे जैसे क्षणिक होते हैं, यह देह भी वैसे ही क्षण-भङ्गुर है। संसार के जितने भी व्यवहार हैं वे सब वैसे ही सारहीन हैं जैसे केले का गर्भ। इसलिए अब संसार के भोग-विलासों पर से अपना मन हटाकर सत्य, शिव और सुन्दर जो स्थायी पदार्थ हैं, हमें उन्हींको प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। राजा-रानी को यह विश्वास होगया कि आत्मज्ञान प्राप्त करने से ही हमारे मोह-बन्धन टूटेंगे, चित्त की अशान्ति कम होगी और आधि-व्याधि एवं उपाधि से पीछा छूटेगा। यह सोचकर धर्म-शास्त्रों का श्रवण मनन एवं उनपर आचरण करने तथा ज्ञानी और त्यागी पुरुषों के सत्संग में उन्होंने अपना जीवन बिताना शुरू कर दिया।

चूड़ाला सुसंस्कृत महिला थी। अतः साधुओं और धर्मशास्त्रों के उपदेशों का उसपर बड़ा असर हुआ। वह रात-दिन मन-ही-मन सोचने लगी, कि "शरीर अपना काम भले ही करता रहे, पर मुझे अपनी आत्मा को देखकर सोचना चाहिए कि मैं हूँ कौन? यह संसार-रूपी भ्रम कैसे, किस कारण और कहाँसे पैदा हुआ है? देह तो जड़ एवं मूढ़ है। यह तो मुझे भरोसा है कि मैं केवल देह

नहीं हूँ; क्योंकि जब छोटे-छोटे नासमझ बालक तक 'मेरा शरीर' 'मेरा शरीर' कहते हैं, तो देह और देह का स्वामी दोनों एक-दूसरे से निश्चय ही भिन्न हैं। हाथ, पैर आदि अवयवों के रूप में कर्मेन्द्रियों का जो समूह इस देह से अभिन्न है वह भी जड़ ही है और ज्ञानेन्द्रियाँ भी जड़ ही हैं; क्योंकि जैसे मिट्टी का ढेला लकड़ी से सरकता है वैसे ही ये ज्ञानेन्द्रियाँ मन के द्वारा सरकती हैं। संकल्प-शक्तिवाले मन को भी मैं जड़ ही समझती हूँ; क्योंकि जैसे गोफनों से पत्थर फेंके जाते हैं वैसे ही मन भी बुद्धि से प्रेरित होता है। बुद्धि भी जड़ है; क्योंकि वह अहङ्कार से प्रेरित है। अहङ्कार भी निःसार है। प्राणरूप उपाधिवाला और हृदय में विराजमान जीव यद्यपि चेतन है, फिर भी सुकुमार होने के कारण वह अपने अन्दर वास करनेवाले दूसरे किसी साक्षी से परिपूर्ण होकर जीता है। मैंने इस बात को जान लिया है कि दृश्यों को देखने से दूषित-सा बना हुआ जीव अनादि और चेतनात्मक इस साक्षी रूप आत्मा से ही जीता है। बुद्धि आदि में प्रतिबिम्ब होकर जीव ने अपना रूप छोड़ दिया है, और जगत् भी यद्यपि है तो चैतन्यरूप मगर आवरण के कारण जड़, शून्य और मिथ्या-सा होगया है।" इस प्रकार बहुत दिनों तक वह आत्मा के तत्त्व का विचार करती रही। आखिर उसे वह महासत्य मालूम होगया कि जिसे जान लेने के बाद और कुछ जानने के योग्य शेष ही नहीं रहता, जिसे जान लेने के बाद कुछ ग्रहण करने या छोड़ने को भी नहीं रहता। अब उसे विश्वास होगया कि 'महासत्ता' शब्द से प्रसिद्ध एक महाचैतन्य है, वही निष्कलङ्क, सम, शुद्ध, निरभिमान, शुद्ध, ज्ञानरूप, आकारवाला, मङ्गलरूप और सद्मित्र है। वह

अपने स्वभाव से कभी भ्रष्ट नहीं होता । कभी किसीके फन्दे में नहीं आता । सदैव अखण्ड उदयवाला रहता है और ब्रह्म तथा परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार बहुत सोच-विचार और निरन्तर ध्यान से बिदुषी चूड़ाला ने परमात्मा के असली तत्त्व को जान लिया और सब राग, भय तथा मोह से मुक्त होकर वह शरद् ऋतु के आकाश की भाँति शान्त होगई।

मन की सब शंकायें दूर हो जाने से चूड़ाला की शोभा भी बढ़ने लगी। अब उसके चित्त में अपूर्व शान्ति थी। अपने स्वरूप के विवेक का भलीभाँति अभ्यास होजाने से आत्मा का साक्षात्कार होजाने के कारण यह विदुषी ऐसी सुन्दर लगने लगी मानों बसन्तऋतु में खिलनेवाली फूलों की सुन्दर बेल हो।

उसके अपूर्व सौन्दर्य और नवयौवन से प्रसन्न होकर एक दिन राजा ने हँसते हुए उससे कहा—"प्रिये ! तुझे तो फिर से जवानी आई मालूम पड़ती है । तू तो ऐसी दीखती है मानों तूने अमृत-रस पिया हो या कोई अलभ्य पद पाया हो। तेरा चित्त भोग-विलास से अलिप्त होकर शम, दम आदि गुणों से युक्त और स्थिर दीख पड़ता है। तू पर्वत की तरह स्थिर और समुद्र की भाँति गम्भीर देख पड़ती है। जगत्-रस-रूप परमतत्त्व को पहचानने से तू पृथ्वी की नाईं अचल और शान्त होगई है। तेरी आकृति और अवयव तो पहले जैसे ही हैं; परन्तु अब तो तू ऐसी खिली हुई दीख पड़ती है, जैसी कि वसन्त ऋतु की लतायें खिल उठती हैं। बता तो कि तूने कौनसा अमृत पिया है, या कोई रसायन अथवा किसी मन्त्र के प्रयोग से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चिरयौवन सम्पादन कर लिया है ?"

चूड़ाला ने नम्रता के साथ जवाब दिया —"पतिदेव ! रसायन या मन्त्र-प्रयोग द्वारा मैंने कोई सिद्धि प्राप्त नहीं की है, मैंने तो आन्तरिक दृष्टि के द्वारा आत्म-बुद्धि का परित्याग करके परब्रह्म का सच्चा स्वरूप जाना है और उसीके कारण विशेष सुन्दर देख पड़ती हूँ। मैंने असत्य से परे, समस्त पदार्थों में न बँधनेवाले सत्य और अपरिमेय परब्रह्म का आश्रय लिया है; इसीलिए मैं अधिक सुन्दर दीखती हूँ। भोग भोगे हों चाहे न भोगे हों, पर मन में मैं उतना ही आनन्द मानकर खुश रहती हूँ मानों मैंने उन्हें भोग लिया हो; इसीसे मैं शोभायमान दीखती हूँ। हर्ष और शोक के मनोविकार मुझे बाधक नहीं होते, राजसी वातावरण में रहते हुए भी मैं अपने मन को आकाश के समान अनन्त और अपार परब्रह्म में ही लगाये रहती हूँ; इसीलिए मैं शोभायमान हूँ। आसन और उपवन आदि में देह रहने पर भी मैं पूर्णतया आत्मस्वरूप में ही निमग्न रहती हूँ, भोगों में निमग्न नहीं रहती, और भोग न मिलने पर मुझे खेद भी नहीं होता है; इसीसे मैं शोभती हूँ। मैं अपनेको इस जगत् की स्वामिनी और स्थूल, सूक्ष्म आदि देह से बिलकुल भिन्न, शुद्ध चैतन्यरूप समझकर आत्मा में ही सन्तुष्ट रहती हूँ; यही कारण है कि मैं प्रसन्न दीखती हूँ।"

इस प्रकार ज्ञान की अनेक बातें कहकर चूड़ाला ने पति को समझाया कि आत्मा के सौन्दर्य से ही शरीर की बाहरी शोभा और उसके लावण्य में भी वृद्धि होती है। परन्तु चूड़ाला का आत्मज्ञान का यह सब उपदेश उसके पति को पसन्द न आया। वह इस बात को न मान सका कि संसार में रहते हुए भी मनुष्य को इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार

हो सकता है। अतः उसने कहा—"सुन्दरी! तेरी बातों में कुछ सार नहीं। अभी तेरी बुद्धि कच्ची है। तेरी यह उम्र तो सुख भोगने की है, इसलिए मजे से सुख भोग। तूने जो बातें कही हैं वे सब अप्रत्यक्ष हैं। तूने जो यह कहा कि सुख और भोग-विलासों का भोग न करने पर भी तू उन्हें भोगने जितना ही सन्तोष मानती है, यह सब मिथ्या प्रलाप है। ऐसा हो ही नहीं सकता। तू तो अभी जवान, मूढ़ और चंचल है; इसलिए मेरे साथ नाना प्रकार के भोग-विलास करती हुई जीवन व्यतीत कर।"

यह कहकर राजा स्नान करने चला गया। चूड़ाला को उसके इस व्यवहार से बड़ा दुःख हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगी, "कितने अफ़सोस की बात है कि आत्म-ज्ञान न होने से राजा मेरी बात को नहीं समझ सके!"

कुछ समय तक पति-पत्नी दोनों इसी प्रकार विचारों की भिन्न-भिन्न दिशा में चलते रहे। पश्चात् एक दिन चूड़ाला को आकाश में जाने-आने की सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हुई। इसके लिए वह राजमहल छोड़कर एकान्त वन में चली गई। वहाँ पद्मासन लगाकर बहुत दिनों तक उसने तपस्या की। अन्त में सिद्धि प्राप्त होगई और वह राजमहल में वापस आकर पहले की तरह घर-गृहस्थी के काम-काज तथा आत्मतत्त्व के चिन्तन में लग गई।

मनुष्य संसार के राग-रंग में कितना ही लिप्त क्यों न रहे, परन्तु जबतक उसके हृदय को धर्म का सच्चा रहस्य जानने से प्राप्त होनेवाली शान्ति नहीं मिलती तबतक उसकी सच्ची तृप्ति नहीं होती। यही हालत राजा शिखिध्वज की भी थी। वह मन-ही-मन उदास रहता। उसके हृदय में हलचल मचा करती कि जो

परमशान्ति उसकी स्त्री चूड़ाला को प्राप्त है वह उसके हृदय में क्यों नहीं है ? यह सोचकर उसने ब्राह्मणों और ऋषियों का सत्संग करना शुरू किया, तरह-तरह के व्रत और दान करने लगा; परन्तु जैसी चाहिए वैसी शान्ति उसे इससे भी नहीं मिली। चिन्ता-रूपी अग्नि से उसका शरीर सूखने लगा, और वह इस संसार-रूपी महाव्याधि की औषधि की खोज करने लगा। यहाँतक कि अब उसे राज्य का सुख भी कड़वे जहर के समान लगने लगा। अन्त में एक दिन वह रानी चूड़ाला के पास पहुँचा और कहने लगा—"मैंने बहुत समय तक राज्य वैभव का भोग किया। अब मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है, इसलिए मैं जंगल में जाकर रहूँगा। वन-वास में राज्य से भी ज्यादा सुख है। वहाँ न तो किसी तरह की खटपट ही है और न कोई चिन्ता। वहाँ रहने से चित्त बड़ा शुद्ध और प्रसन्न रहता है। इसलिए, आशा है, तू मुझे वन में जाने से न रोकेगी बल्कि जाने की अनुमति देगी। क्योंकि अच्छी स्त्रियाँ स्वप्न में भी अपने पति की सदेच्छा को भंग नहीं करतीं।"

चूड़ाला ने जवाब दिया—"प्राणनाथ ! प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कार्य उचित समय पर ही शोभा देता है। वसन्त ऋतु में फूल और शरद् ऋतु में फल शोभा देते हैं। ऐसे ही बुढ़ापे के कारण जिनका शरीर कृश (कमजोर) होगया हो उन्हें ही वनवास करना चाहिए। आप सरीखे युवा पुरुष के वनवास करने की बात मुझे तो पसन्द नहीं। हाँ बुढ़ापे में हम दोनों साथ-साथ ही घरबार छोड़कर वनवास करेंगे। उससे पहले प्रजा की रक्षा का भार छोड़कर वन में चले जाने से तो उलटे कर्त्तव्य-द्रोह का पाप लगेगा।"

पर राजा को उसकी यह सलाह न रुची। इससे वह स्नान करने के लिए महल में गया और रात को रोज की तरह रानी के पास सोया; पर पिछली रात को उसे भरनींद में सोते हुए छोड़कर राजमहल से चला गया। वह भयानक जंगलों को पार करता हुआ मन्दराचल पर्वत के पास पहुँचा और वहाँ एक पर्णकुटी बनाकर प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। राज-विलास का उसने ध्यान भी न किया।

इधर रात बीतने पर जब रानी चूड़ाला जागी तो उसने राजाको अपने पास न पाया। वह चौंककर एकदम उठ बैठी और सोचने लगी कि अब क्या करना चाहिए ? उसने सोचा कि मैं भी अपने पति के पास ही जाऊँगी; क्योंकि आर्य स्त्रियों के लिए पति ही परम-देवता है। यह विचार होते ही वह तुरन्त पति की खोज में निकल पड़ी और थोड़े ही समय में पति का पता लगा लिया। उसने अपने पति को अकेले वन में देखा, पर सोचा कि एकदम उनके पास न जाना चाहिए; क्योंकि उसे भय था, ऐसा करने से कहीं वह उसे छोड़कर फिर न भाग जायँ। अतः बहुत दिनों के बाद ही पति से मिलने का उसने निश्चय किया। तब वह वापस अन्तःपुर में चली आई और, यह कहकर कि राजा किसी आवश्यक कार्य से बाहर गये हैं, राज्य और अन्तःपुर का प्रबन्ध वह खुद करने लगी। इस प्रकार राज्य की रक्षा या शासन में अठारह वर्ष बीत गये, पर पति पत्नी का मिलन नहीं हुआ। इसके बाद एक दिन वह पति के दर्शन करने की इच्छा से अकेली ही राजमहल से निकल पड़ी और हवा की तरह उस अरण्य को चल दी, जहाँ राजा शिखिध्वज तपस्या करता था।

यद्यपि वह स्वयं बड़ी ज्ञानवान् और सारासार (अच्छे बुरे) का समझनेवाली थी; फिर भी ज्यों-ज्यों जंगल में पहुँचती गई त्यों-त्यों उसके मन में पति से मिलने की उत्कण्ठा बढ़ती ही गई और वह सोचने लगी, कि "मनुष्यों का स्वभाव जीवन पर्यन्त नहीं बदलता। मैं अपने मन को विवेक से बहुत-कुछ रोकती हूँ; फिर भी रह-रहकर यही बात उठती है कि सिंह के समान मज़बूत कन्धेवाले अपने पति से मैं कब मिलूँगी! मञ्जरों के गुच्छों से आच्छादित बेलें अपने वृक्ष रूपी पतियों को क्षण-भर के लिए भी नहीं छोड़तीं, यह देखकर मेरे मन में पति से मिलने की उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है। यह मन्द-मन्द हवा, शीतल चन्द्र-किरणें, यह रमणीक वृक्ष मेरी उत्कण्ठा को और भी बढ़ा रहे हैं।" फिर अपने मन को सम्बोधन करके कहने लगी—"हे मूढ़ चित्त! तुझे इतनी उतावली क्यों होरही है? तेरा शुद्ध विवेक कहाँ चला गया? हे शरीर! तू जिसके आलिंगन की इच्छा कर रहा है वह पति तो वृद्ध, तपस्वी, शरीर से कमजोर और वासना से रहित होगये होंगे। राज्यादि के भोग भोगने की अभिलाषा तो अब उनमें जरा भी न रही होगी।" फिर यह विचार उठा—"मैं अपने योगबल से समझाकर शेष प्रारब्ध को भोगने के लिए उन्हें उत्साहित करूँगी, उनके चित्त को जंगल और महल दोनों के प्रति एक-सी वृत्ति का बनाकर उन्हें वापस राज्य में ले आऊँगी, और फिर हम दोनों आनन्द के साथ रहेंगे। क्योंकि अब मेरे पति को भी सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया होगा और एक-से विचार के दम्पती को परस्पर सहवास से जो आनन्द मिलता है वही सबसे श्रेष्ठ है।" इस प्रकार विचार करती हुई, प्राप्त की हुई सिद्धि के प्रताप से

आकाश-मार्ग से अनेक पर्वतों, दिशाओं और नदियों को लाँघती हुई, चूड़ाला मन्दराचल पर्वत की गुफा के पास गई और अन्दर जाकर एकाग्रचित्त से पति के दर्शन किये।

आज उसे राजा दुर्बल, श्याम-वर्ण और थका हुआ-सा प्रतीत हुआ। आज उसके चेहरे से संसार के समस्त वैभवों के प्रति निस्पृहता झलक रही थी। वह फटे कपड़े पहने हुए था और सिर पर लम्बी जटा थी। वह अकेला शान्तचित्त बैठा हुआ देवता और अतिथि की पूजा के लिए माला गूँथ रहा था। पति को ऐसी स्थिति में देखकर चूड़ाला विचार करने लगी—"अहा! अज्ञान से पैदा हुई मूर्खता बड़ी विषम है। मेरे पति का ज्ञान अज्ञान के आवरण से ढक गया है, इसीसे उनकी ऐसी दशा हुई है। इस-लिए आज मुझे इनको सच्चा ज्ञान देकर सच्चा तत्त्वज्ञानी बनाना चाहिए। परन्तु ऐसा करने के लिए मुझे अपना रानी का भेष बदलकर दूसरे किसी भेष में जाना होगा।" यह सोचकर चूड़ाला ने तरुण ब्राह्मण-कुमार का रूप धारण किया और कुछ ही देर में पति के आश्रम में जा पहुँची। राजा शिखिध्वज ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और कहने लगा—"महाभाग्य-वान् देवपुत्र! आप कहाँसे पधारे हैं? आज आपके दर्शनों से मेरा जीवन सफल हुआ है। यहाँ आकर मेरी लज्जा बढ़ानेवाले हे देवपुत्र! यह अर्घ्य-पाद्य स्वीकार करके मुझे कृतज्ञ कीजिए।" तब राजा की पूजन-सामग्री स्वीकार करके ब्राह्मण-कुमार का वेश धारण किये हुए चूड़ाला बोली—"मैं पृथ्वी के अनेक स्थानों में घूमा हूँ, परन्तु तुमने जैसा मेरा सत्कार किया वैसा और किसी-ने नहीं किया। अतः मैं तुम्हें चिरञ्जीव होने का आशीर्वाद देता

हूँ। पर राजर्षि ! मैं सोचता हूँ कि तुमने यह महातप क्या केवल मोक्ष के लिए ही किया है ? संन्यासियों और वानप्रस्थाश्रम वालों के योग्य यह तपस्या तुम्हारे लिए तो तलवार की धार पर चलने के समान मुश्किल है, क्योंकि तुमने तो सब सम्पत्तियों से भरपूर राज्य को छोड़कर इस वनवास को स्वीकार किया है।' इसके बाद राजा और मुनिकुमार-वेषधारी उसकी पत्नी में खूब बहस हुई। चूड़ाला ने अपना नाम कुम्भ मुनि बतलाया और राजा के साथ सच्ची मित्रता करके बहुत दिनों तक उसके साथ ही रही। उसने अनेक उदाहरण व युक्तियों के साथ राजा को समझाया कि "सुख और दुःख मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। अज्ञान-रूपी परदे की वजह से ये आत्मा के धर्म मान लिये गये हैं। आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सुख दुःख बन्धन-रूप नहीं हो सकते। फिर ज्ञान के बिना मुक्ति भी नहीं। इसलिए यह ज्ञान प्राप्त करके मिथ्या अज्ञान के आवरण से छूटो। तुम जब राजा थे उस समय तुम्हारी नीतिवान् और शास्त्रवेत्ता पत्नी चूड़ाला ने तुम्हें जो उपदेश दिया था उसे न मानकर तुमने अच्छा नहीं किया। हे राजा ! जब तुम चूड़ाला की बात को न मानकर यहाँ आ रहे, तो फिर सब त्याग पूरी तौर पर क्यों नहीं साधा ?"

शिखिध्वज ने कहा—"हे प्यारे देवपुत्र ! मैंने राज-पाट, घर-बार और सुन्दर एवं विदुषी स्त्री आदि सबको छोड़ दिया है; फिर भी तुम यह कैसे कहते हो कि मैंने सर्वस्व का त्याग नहीं किया ? अब और ऐसा क्या है कि जिसका मैं त्याग करूँ ?"

चूड़ाला ने कहा— "तात्त्विक दृष्टि से देखो तो धन, स्त्री, राज्य, भूमि और बन्धु-बान्धव आदि तो तुम्हारे थे ही नहीं; फिर

भला तुमने त्याग किसका किया ? अब भी एक खास भाग ऐसा रह गया है कि जब उसको त्याग दोगे तभी तुम आनन्द की मूर्ति हो सकोगे।"

रानी के इस उपदेश पर राजा ने वृक्ष, पर्वत और गुफाओं सहित इस वन से भी अपना ममत्व छोड़ दिया। परन्तु चूड़ाला को इससे भी सन्तोष न हुआ। तब राजा ने अपने आश्रम को भी छोड़ दिया। पर इस त्याग का भी चूड़ाला पर कुछ असर न हुआ। तब राजा ने मृगचर्म, कमण्डल आदि का भी त्याग कर दिया; यही नहीं बल्कि आग जलाकर इन सबको उसमें भस्म भी कर दिया, जिससे उनके प्रति जो मोह हो वह भी चला जाय; और अन्त में जिस पवित्र माला से उसने परब्रह्म परमात्मा के नाम का अखण्ड जप किया था उसे भी व्यर्थ समझकर आग में फेंक दिया। इस प्रकार राजा सब-कुछ छोड़कर राह चलते भिखारी से भी ज्यादा कंगाल बन गया; लेकिन फिर भी कुम्भ-मुनि-वेषधारी चूड़ाला ने यही कहा, कि "अभी तुमने पूरा त्याग नहीं किया। अभी सबसे मुख्य एक भाग बाक़ी ही है। उसका सम्पूर्ण त्याग करने पर ही तुम्हें सम्पूर्ण परमानन्द प्राप्त होगा।" परन्तु राजा शिखिध्वज चूड़ाला की बात का मर्म इस-पर भी न समझा और, यह सोचकर कि यह अपने शरीर के ममत्व को छोड़ने के लिए कहती होगी, पहाड़ की चोटी से नीचे गिरकर अपने शरीर का नाश करने के लिए तत्पर हो गया। तब चूड़ाला ने उसे रोका और समझाने लगी, कि "तुम ऐसी मूर्खता का काम करने को क्यों तत्पर हुए हो? भला इस शरीर ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? यह तो जड़ और अचेतन

है, और इसने तो तपस्या करने में तुम्हें मदद ही पहुँचाई है। इस जड़ शरीर को हिलाने-चलानेवाला तो कोई और ही है, इस-लिए अगर तुम्हें सज़ा देनी हो तो उसे दो। हे राजा! शरीर को छोड़ने से तुम्हारा सम्पूर्ण त्याग पूरा न होगा; तुम्हारा सम्पूर्ण त्याग तो तब सिद्ध होगा जब कि तुम इस शरीर को क़ायम रखने-वाले महापापी चित्त का त्याग कर दोगे। जबतक ऐसा न करोगे तबतक फिर से जन्म लेना पड़ेगा और फिर से शरीर धारण करना पड़ेगा।" इसके बाद राजा की इच्छा देखकर चूड़ाला ने ये सब बातें समझाई कि इस शरीर को कौन चलाता है, पुनर्जन्म और कर्मों का मूल क्या है और किसका त्याग करने से सर्वस्व का त्याग करना माना जाता है। तत्त्वज्ञान की इन बातों में राजा बड़ी दिलचस्पी लेता रहा और विदुषी चूड़ाला ने राजा की अनेक शंकायें दूर करदीं। इसके बाद चूड़ाला को यह विश्वास होगया कि काम, क्रोध आदि विकारों को राजा ने वश में कर लिया है, तब एक दिन वह अपने असली रूप में आई और आश्चर्य में पड़ जानेवाले राजा से कहने लगी--"प्रियतम! मैं आपकी दासी चूड़ाला ही हूँ, इसमें जरा भी संशय नहीं है। इस वन में आपको ज्ञान देने के लिए ही मैंने कुम्भ का शरीर धारण करने आदि का प्रपंच रचा था। जबसे आपने मोहवश राज्य-त्याग किया है, उसी दिन से मैं आपको ज्ञान देने के प्रयत्न में लगी हुई थी। कुम्भमुनि के वेश में मैंने ही आपको ज्ञान दिया है। मेरा वह स्वरूप मिथ्या था, उसमें सत्य कुछ भी न था। अब आप विदित वैद्य (जिसने जानने योग्य सब-कुछ जान लिया हो) हो गये हैं। अब तो आप भी

ध्यान-योग से पिछली सब बातों को ज्यों-की-त्यों जान सकते है।"

राजा ने समाधि लगाकर देखा, तो चूड़ाला की बातों को बिलकुल सच पाया। अब तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने बड़े प्रेम से पत्नी का आलिङ्गन किया और अपनेको सच्चा ज्ञान देने के लिए उसको खूब धन्यवाद दिया। फिर उसके ज्ञान की अनेक प्रकार से प्रशंसा करके कहने लगा—"दृढ़ निश्चय से तूने मुझे जो ज्ञान दिया है, उसका बदला मैं कैसे चुकाऊँ? कुलीन स्त्रियाँ मोह में ग्रस्त पति को इसी प्रकार तैर कर पार उतरती हैं। अज्ञान और मोह के सागर से पति को कुलीन स्त्रियाँ जैसे पार करती हैं, वैसे शास्त्र या गुरुमन्त्र भी नहीं करसकते। एक कुलीन और सुशील पत्नी अपने पति के मित्र, सम्बन्धी, नौकर, गुरु, धन, सुख और शास्त्र सबका अभाव पूर्ण करती है। अतएव कुलीन महिलायें सदैव ध्यानपूर्वक पालन-पोषण और पूजा करने के योग्य हैं। तूने संसार-रूपी सागर का पार पा लिया है, अब तू निष्काम है; तूने मुझे जो सत्य काम बतलाया है, भला किस प्रकार मैं उसका बदला चुकाऊँ? जा, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि संसार की कुलीन महिलाओं में तू बड़ी ऊँची मानी जायगी और रूप, सौजन्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि गुणों के कारण सतियों में तेरी गणना होगी।"

पति की ऐसी प्रेमपूर्ण बातें सुनकर चूड़ाला ने कहा—"महाराज! व्याकुल चित्त होकर रात-दिन नीरस क्रिया-जाल में लगे रहते थे, तब मुझे बारम्बार आपके लिए बड़ा दुःख होता था और इस कारण आपको ज्ञान देकर मैंने अपने स्वार्थ को ही सिद्ध किया है। अतएव जैसी आपने मेरी तारीफ़ की उतनी के योग्य मैं नहीं हूँ।"

इसके बाद आनन्द के साथ पति-पत्नी में अनेक विषयों पर बातें हुई। शेष जीवन वनवास में बिताया जाय या स्वर्गलोक में जाकर अपूर्व सुखोपभोग किया जाय, अथवा वापस राज्य में जाया जाय? इस सम्बन्ध में दोनों में खूब बहस हुई। अन्त में चूड़ाला ने कहा—"हे राजा! भोगों की मुझे इच्छा नहीं है। इसी प्रकार ऐश्वर्य की अनेक विभूतियाँ प्राप्त करने की भी मुझे इच्छा नहीं है। मैंने तो अपनी ऐसी आदत बनाली है कि स्वाभाविक तौर पर जो कुछ मिल जाय उसीसे काम चलाया जाय। स्वर्ग, राज्य या कर्म ये कोई मुझे सुख देनेवाले नहीं। मेरे मन में तो यह विचार पैदा नहीं होता कि यह दुःख है और यह सुख। अतएव मैं तो दोनों अवस्थाओं में एकसाँ शान्त रहकर अपने जीवन को व्यतीत कर सकती हूँ।" तब चूड़ाला की सलाह मानकर राजा शिखिध्वज ने फिर से राज्य में लौटकर राज-शासन सम्हालने का निश्चय किया और दूसरे ही दिन दोनों जने राज्य में जापहुँचे। प्रजा ने जब उनके आने की खबर सुनी तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। बड़ी धूमधाम, बाजे-गाजे और सन्मान के साथ वे राजा-रानी को महल में लेगये।

तदनन्तर बहुत समय तक चूड़ाला के पति ने राज्य किया। अपने हृदय में ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी उन्होंने प्रजा की रक्षा के अपने सांसारिक कर्त्तव्य का बड़ी उमंग और कुशलता के साथ पालन किया और इस प्रकार सुखी एवं कर्त्तव्य-परायण जीवन व्यतीत कर अन्त में चूड़ाला पति-सहित निर्वाण-पद (मुक्ति) को प्राप्त हुई।

२

सुमाता

मदालसा

अपने पुत्रों को उच्च कोटि की शिक्षा देकर जो मातायें अपना नाम अमर कर गई हैं उनमें मदालसा का नाम बहुत ऊँचा है।

प्राचीन काल में गालव नाम के एक प्रसिद्ध महर्षि होगये हैं। पातालकेतु नामक एक उपद्रवी और दुष्ट राक्षस था, जो प्रायः गालव ऋषि के आश्रम में पहुँचकर बहुत अधिक उत्पात मचाया करता था। इससे ऋषि की तपस्या में बहुत विघ्न पड़ता था। एक दिन गालव ऋषि बहुत दुःखी होकर सोच रहे थे कि ऐसा कौनसा उपाय किया जाय, जिसमें यह राक्षस किसी प्रकार का उपद्रव न कर सके और हम शान्तिपूर्वक तपस्या कर सकें? इतने में एक देवपुरुष उनके सामने आया। उसने अपना घोड़ा ऋषि को देकर कहा, "महर्षि! आप यह घोड़ा लीजिए। यह ऐसा घोड़ा है कि सूर्य की भांति जरा भी थके बिना यह बराबर एकसी गति से चलकर भूवलय अर्थात् सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर सकता है। इसीलिए इसका नाम मैंने कुवलय रक्खा है। आप यह घोड़ा लेकर महाराज शत्रुजित के पास जाइए। उनका महापराक्रमी पुत्र कुमार ऋतुध्वज इस घोड़े पर सवार होकर पातालकेतु को वश कर लेगा।"

गालव ऋषि वह घोड़ा लेकर शत्रुजित् के पास पहुँचे और उनसे कुमार ऋतुध्वज को माँग लाये, जो कुवलय घोड़े पर बैठ-कर राक्षसों से उनके आश्रम की रक्षा करने लगा।

राक्षस पातालकेतु बड़ा मायावी था। वह अनेक प्रकार की माया और छल-प्रपंच करना जानता था। एक दिन उसने विक-राल सुअर का रूप धारण करके आश्रम में खूब उपद्रव मचाया। ऋतुध्वज ने तीर की तरह आगे बढ़कर उसपर आक्रमण किया। उसका बाण खाकर सुअर भागा। ऋतुध्वज ने भी अपने घोड़े को हवा की तरह उसके पीछे दौड़ाया। अनेक वनों, पर्वतों और नदी-नालों को पार करता हुआ वह सुअर एक बहुत बड़ी गुफ़ा में घुस गया। घोड़ा भी ऋतुध्वज को लिये हुए उसी गुफ़ा के अन्दर जा पहुँचा। उस अँधेरी गुफ़ा में बहुत दूर तक जाने के उपरान्त ऋतुध्वज एक नगर के पास जा पहुँचा। परन्तु उसके बाद फिर उस असुर का कहीं पता न चला।

कुछ देर तक सोचने के बाद ऋतुध्वज ने भी उसी नगर में प्रवेश किया। वहाँ किसी आदमी की बस्ती नहीं थी। थोड़ी देर में उसे एक युवती दिखाई दी, जो बहुत तेज़ी के साथ एक ओर जा रही थी। ऋतुध्वज ने उस युवती से पूछा—"तुम कौन हो? तुम कहाँ और किस लिए इतनी तेजी के साथ जा रही हो?"

युवती ने ऋतुध्वज की ओर देखा, पर उसके प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। वह जल्दी से एक बहुत बड़े मकान में घुस गई, जो देखने में राजमहल के समान जान पड़ता था। युवती बहुत जल्दी से उस मकान में घुसी थी और घुसते समय उसने एक विशेष भाव से ऋतुध्वज की ओर देखा था। इससे कुमार

ऋतुध्वज समझ गया कि इसमें अवश्य कोई-न-कोई भेद है। ऋतु-ध्वज भी घोड़े को बाहर बाँधकर उस मकान के अन्दर गया।

वहाँ एक बहुत ही सुसज्जित कमरे में सोने के सुन्दर झूले पर एक परमसुन्दरी युवती बैठी हुई थी। उस सुन्दरी को देखते ही ऋतुध्वज उसपर मुग्ध हो गया, और एकटक उसकी ओर देखने लगा। जब उस युवती ने देखा कि साक्षात् कार्त्तिकेय के समान सुन्दर वीर ऋतुध्वज सामने खड़ा हुआ है, तब कुछ तो विस्मय से और कुछ मुग्ध होकर उसने भी कई बार उसकी ओर देखा। मारे लज्जा के उसका मुख लाल होगया। उसने चाहा कि मैं उठकर इसको आदर-सत्कार करूँ, परन्तु फिर भी उससे उठा नहीं गया। उसके पैर काँपने लगे, और मारे मोह के उसे मूर्च्छा आगई। जब राजकुमार ने देखा कि सुन्दरी मूर्च्छित होकर गिर रही है, तो पास पहुँचकर उसे आश्वासन देने लगा। इतने में एक और युवती दौड़ी हुई आई और उसे पंखा झलने लगी। ऋतुध्वज ने देखा कि जिस युवती के पीछे-पीछे चलकर मैं इस मकान में आया था वह यही युवती है।

ऋतुध्वज ने पूछा—"तुम लोग कौन हो?"

युवती ने उत्तर दिया—"यह विश्वावसु गन्धर्व की राजकुमारी मदालसा है, और मैं इसकी सखी हूँ।"

ऋतुध्वज ने चकित होकर पूछा—"गन्धर्वराज विश्वावसु की कन्या यहाँ कैसे?"

सखी ने उत्तर दिया—"क्रूर राक्षस पातालकेतु इसे हरण कर लाया है। आगामी तेरस के दिन वह जबरदस्ती इसके साथ विवाह करना चाहता है। यही सोचकर मदालसा बहुत चिन्तित

थी और कल ही आत्महत्या करना चाहती थी; परन्तु इतने में एक आकाशवाणी हुइ, जिसे सुनकर इसे धैर्य हुआ और इसने आत्महत्या करने का विचार छोड़ दिया।"

ऋतुध्वज ने पूछा "वह आकाशवाणी क्या थी?"

सखी ने उत्तर दिया--"आकाशवाणी यह थी कि पातालकेतु ने ऋषियों के तपोवनों में जाकर बहुत अधिक उपद्रव मचाया है। वहाँ जिस वीर पुरुष का इसे बाण लगेगा वही वीर पुरुष मदालसा का उद्धार करेगा और वही वीर पुरुष मदालसा के साथ विवाह भी करेगा।" इसके बाद उसने फिर कहा, "अभी मैंने सुना कि पातालकेतु किसी के बाण से घायल होकर भागा चला आ रहा है। मैं इसी बात की जाँच करने के लिए बाहर गई थी कि यह बात ठीक है या नहीं। ईश्वर-कृपा से बात ठीक निकली। अब यदि मैं उस वीर पुरुष के हाथ में मदालसा को सौंप दूँ तो फिर मैं निश्चिन्त होकर यहाँसे चली जाऊँ।"

ऋतुध्वज ने पूछा—"तुम हो कौन और यहाँसे कहाँ जाओगी?"

सखी ने कहा—"मेरा नाम कुंडला है। मदालसा के साथ मेरा बहनापा है। गन्धर्वराज के प्रधान विंध्यवान् मेरे पिता हैं। मेरे स्वामी का नाम महावीर पुष्करमाल था। एक राक्षस के साथ युद्ध करते समय वह मारे गये। मैं जल्दी परलोक पहुँचकर अपने स्वामी से मिलना चाहती हूँ; इसलिए संसार त्याग कर तपस्या करती हूँ। मैं तीर्थों आदि में घूमा करती हूँ। अपने वीर पति का आश्रय पाकर मेरी सखी सब प्रकार के कष्टों और विपत्तियों से मुक्त हो जायगी तब मैं निश्चिन्त होकर फिर तपस्या

करने के लिए चली जाऊँगी । परन्तु यह तो बतलाइए, कि आप कौन हैं और किस प्रकार यहाँ आये हैं ?"

ऋतुध्वज ने हँसते हुए उत्तर दिया—"मैं महाराज शत्रुजित का पुत्र ऋतुध्वज हूँ। मुझे देवताओं का दिया हुआ कुवलय नामक एक घोड़ा मिला था, जिसपर चढ़कर मैं यहाँतक आया हूँ। इसी लिए मेरा एक नाम कुवलयाश्व भी है। आज मैंने गालव ऋषि के आश्रम में बाण से एक भीषण सुअर को घायल किया था। उसी घायल सुअर के पीछे-पीछे घोड़ा दौड़ाता हुआ मैं यहाँतक आ पहुँचा हूँ।"

कुण्डला ने कहा—"वह सुअर वास्तव में पातालकेतु ही था। अतः अब आप मदालसा के साथ विवाह करके पातालकेतु की पापपूर्ण लालसा से इसका उद्धार करें।"

मदालसा ने ऋतुध्वज के गले में वरमाला पहनाई और उसी समय दोनों में गान्धर्व-विवाह होगया। इसके उपरान्त उस रात पति और पत्नी दोनों वहीं रहे और दूसरे दिन सवेरे मदालसा को अपने साथ कुवलय घोड़े पर सवार कराके ऋतुध्वज वहाँसे चल दिया।

सारे नागर में कोलाहल मच गया। लोग कहने लगे, "अरे! कोई दौड़ो, पकड़ो। पातालकेतु जिस स्त्री को पकड़ लाया था उसे कोई आदमी लेकर भागा जाता है।" पातालकेतु ने भी अपने दानव सैनिकों को लेकर उसका पीछा किया। अकेले ऋतुध्वज के साथ राक्षसों का युद्ध होने लगा। पर महावीर ऋतुध्वज ने अग्नि-बाण से उन सबको मार डाला और मदालसा को अपने साथ लेकर निर्विघ्न अपने घर जा पहुँचा, जहाँ बड़े सुख के साथ दोनों का समय व्यतीत होने लगा।

एक दिन पिता ने कहा—"ऋतुध्वज ! राक्षस के उत्पात के कारण मुनि लोग अब भी शान्ति-पूर्वक तपस्या नहीं करने पाते। तुम्हारे पास यह कुवलय घोड़ा है। तुम नित्य इसपर सवार होकर जाया करो और जहाँ किसी राक्षस को उपद्रव करते देखो, उसका दमन करके मौक़ा हो तो सन्ध्या-समय घर आ जाया करो।"

ऋतुध्वज पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके राक्षसों के साथ युद्ध करने को जाने की तैयारी करने लगा। जब वह बिदा होने लगा तब मदालसा ने उसके हाथ में अपना जड़ाऊ बाजूबन्द बाँध दिया और कहा—"प्राणनाथ ! जब मैं देखूँगी कि यह मणि आपसे अलग हो गई है और मुझे खाली यह मणि ही दिखाई देगी, आप न दिखाई देंगे, तब मैं तुरन्त अपने प्राण तज दूँगी। पाताल-केतु अन्न-जल छोड़कर आपको ढूँढता फिरता है। आप जहाँ जायँगे वहीं वह आपके पीछे-पीछे जायगा और आपके सम्बन्ध में झूठी बातें उड़ावेगा। आप उससे सचेत रहिएगा। मैं मणि भी इसीलिए बाँधे देती हूँ, जिससे उसकी उड़ाई हुई झूठी ख़बरों से मैं धोखा न खा जाऊँ। जब मैं आपको न देखूँगी और केवल यह मणि देखूँगी तब मैं अपने प्राण तज दूँगी।"

ऋतुध्वज वह मणि बाँधकर बिदा होगया। बहुत दिनों तक अनेक वनों में इधर-उधर घूमने के उपरान्त एक दिन उसने देखा कि यमुना नदी के किनारे एक वृद्ध तपस्वी बैठा हुआ कुछ विचार कर रहा है। ऋतुध्वज ने उसे नमस्कार किया। फिर बातों में आकर वह मणि उसे देदी और उसके लौटने तक वहीं आश्रम में रहना मंजूर कर लिया। तपस्वी मणि लेकर वहाँसे चला गया।

वह तपस्वी वास्तव में पातालकेतु का भाई मायावी तालकेतु

था । अपने भाई की मृत्यु का बदला चुकाने के लिए उसने यह माया रची थी । अपनी माया के बल से ही वह तुरन्त राजा शत्रु-जित की राजधानी में जा पहुँचा । वहाँ पहुँचकर उसने राजा से कहा कि "मेरे आश्रम में एक राक्षस के साथ युद्ध करते समय ऋतुध्वज घायल होकर वहीं मर गया है । मरने के समय उसने अपने हाथ से यह मणि उतारकर दी और कहा कि यह मणि मेरे पिता के पास पहुँचा देना । उसका दाह-कर्म हम लोगों ने आश्रम में ही कर दिया है ।"

यह समाचार सुनते ही सारी राजधानी में हाहाकार मच गया । मदालसा ने दोनों हाथ आकाश की ओर उठाकर कहा— "स्वामी ! क्या तुम चले गये ? अब मैं किस सुख के लिए इस संसार में अपना जीवन व्यर्थ बिताऊँ ? मैं भी अब तुम्हारे ही पास आ रही हूँ ।" इतना कहते ही उसका तालू फट गया और उसकी पवित्र आत्मा नश्वर शरीर में से निकल गई ।

उधर मायावी तपस्वी तालकेतु ने लौटकर ऋतुध्वज से कहा— "राजपुत्र, तुमने मेरे साथ बहुत बड़ा उपकार किया है । इसके लिए मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ । अब तुम अपने घर जाओ । तुम्हारे माता-पिता और तुम्हारी प्रिय पत्नी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही होंगी । तुम जाकर सुखपूर्वक उन लोगों के साथ अपना समय व्यतीत करो ।"

तपस्वी को प्रणाम करके ऋतुध्वज कुवलय घोड़े पर अपनी राजधानी आया । वहाँ पहुँचते ही उसने देखा कि यहाँ तो भारी अनर्थ होगया है । यह देख उसका वीर-हृदय चूर-चूर होगया । वह हाहाकार करता हुआ जोर से रो उठा और नंगे सिर दौड़ता

हुआ श्मशान-भूमि पर जा पहुँचा। जिस स्थान पर मदालसा की चिता बनी थी, उस स्थान की प्रदक्षिणा करके दोनों हाथ जोड़कर कहने लगा, "प्राणप्रिये, तुम क्यों इस प्रकार जलकर भस्म होगई? यदि तुम मुझसे न बोलोगी तो मैं यहीं अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा "

माता-पिता ने ऋतुध्वज को बहुतेरा समझाया, पर उसने उन लोगों की एक भी बात न मानी और वहीं बैठकर तपस्या करने लगा। नागराज अश्वतर के दो पुत्र थे, जो उसके बड़े मित्र थे। ऋतुध्वज ने उन लोगों के पास जाकर अपना सारा दुःख कह सुनाया। उन दोनों ने ऋतुध्वज पर दया करके अपने पिता से जाकर कहा —'पिताजी! यदि ऋतुध्वज जोगी रहेगा तो हम लोग भी जोगी हो जायँगे। अपने मित्र को पत्नी के विरह में इस प्रकार अपना शरीर नष्ट करते देखकर भला हम लोग कैसे सुख से रह सकते हैं? आप सब कामों में बहुत समर्थ हैं। किसी प्रकार ऐसा उपाय कीजिए जिसमें हमारे मित्र ऋतुध्वज को उसकी पत्नी मदालसा फिर से मिल जाय।" इसपर नागराज अपने दोनों पुत्रों को साथ लेकर मृत्युञ्जय महादेव के पास गये और अपने अपूर्व संगीत से उन्हें सन्तुष्ट करके मदालसा को फिर से जीवित करा दिया। अब मदालसा के साथ ऋतुध्वज का पुनः मिलाप होगया। दोनों कुछ दिनों तक नागराज के यहाँ अतिथि के रूप में रहे, इसके बाद फिर अपनी राजधानी में पहुँचकर अपने माता-पिता से जा मिले।

यथासमय महाराज शत्रुजित के स्वर्गवास पर ऋतुध्वज अपने पिता के राज्य का अधिकारी बना।

कुछ दिनों बाद मदालसा के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ऋतुध्वज ने उनका नाम विक्रान्त, सुबाहु और अरिमर्दन रक्खा। मदालसा को बाल्यावस्था से ही लिखने-पढ़ने का बहुत शौक़ था। वह अनेक शास्त्रों की अच्छी ज्ञाता थी। इसलिए ऋतुध्वज ने बालकों की शिक्षा आदि का भार उसीपर छोड़ दिया।

उन दिनों मदालसा अपना सारा समय धर्म और तत्त्व-ज्ञान के चिन्तन में ही व्यतीत किया करती थी। सदा अपने पुत्रों को यही उपदेश दिया करती, कि "आत्मा नित्य और अविनाशी है। देह अनित्य है, और उसे सुख-दुःख दोनों ही होते हैं। सब सम्बन्धी तथा भोग-विलास आदि माया के खेल हैं; आज हैं, कल न रहेंगे। इसी माया के बन्धन से मनुष्य इस संसार के साथ बँधा हुआ है। यही माया मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण है। वैराग्य का सबसे बड़ा साधन धर्म है। उसीके द्वारा मनुष्य आत्मा का तत्त्व समझ सकता है और उसे समझकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। उसकी इस प्रकार की शिक्षा का यह परिणाम हुआ कि उसके तीनों पुत्र संसार से विरक्त और संन्यासी के समान होगये।

एक दिन मदालसा का बड़ा लड़का कहीं बालकों के साथ खेल रहा था। किसीने उसे मार दिया, इसलिए वह रोता हुआ अपनी माता के पास आया और कहने लगा—"माँ, लड़कों ने मुझे मारा है। मैं इतना बड़ा और लाड़ला राजकुमार हूँ और साधारण बालकों ने मुझे मार दिया। तुम उनको दण्ड दो।" मदालसा ने कहा—"पुत्र! तुम शुद्ध आत्मा हो, कोई विशिष्ट नाम पड़ जाने के कारण ही आत्मा का स्वभाव बदल नहीं सकता।

तुम्हारा नाम विक्रान्त है और तुम राजपुत्र हो। परन्तु ये सब उपाधियाँ वास्तविक नहीं हैं। ये सब कल्पित उपाधियाँ हैं। इसलिए तुम्हें इस प्रकार का अभिमान शोभा नहीं देता कि मैं राजपुत्र हूँ। तुम्हारा यह शरीर पंचमहाभूतों से बना हुआ है। यह शरीर तुम नहीं हो। ऐसी अवस्था में यदि कोई इस शरीर को मारे तो तुम क्यों रोते हो?"

कुछ दिनों बाद मदालसा को चौथा पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र का नाम रखते समय ऋतुध्वज ने कहा, "मदालसा, तुम्हीं बतलाओ इस पुत्र का क्या नाम रक्खा जाय?" मदालसा केवल मुसकुराकर रह गई, उसने कोई उत्तर नहीं दिया। ऋतुध्वज ने फिर कहा, "मैं तुमसे पुत्र का नाम रखने के लिए कहता हूँ, तब तुम हँस पड़ती हो। यह नहीं बतलातीं कि क्या नाम रक्खा जाय; यह क्या बात है?"

मदालसा फिर हँस पड़ी और कुछ भी न बोली। ऋतुध्वज ने फिर कहा—"यह क्षत्रिय का पुत्र है। इसका कोई ऐसा नाम रखना चाहिए जो वीरता और बल का सूचक हो। इसीलिए मैंने पहले तीनों पुत्रों का नाम विक्रान्त, सुबाहु और अरिमर्दन रक्खा था। यदि मेरे रक्खे हुए ये तीनों नाम पसन्द न हों तो इस चौथे पुत्र का नाम तुम्हीं रक्खो।"

मदालसा ने कहा—"जब तुम कहते ही हो तो मैं इसका नाम अलर्क रखती हूँ।"

ऋतुध्वज ने चकित होकर कहा—"अलर्क! इस नाम का तो कोई अर्थ ही नहीं होता!"

मदालसा ने उत्तर दिया—"लोकाचार की ख़ातिर मनुष्य की

पहचान के लिए नाम रक्खा जाता है, नहीं तो नाम का और क्या अर्थ हो सकता है ? तुमने पुत्र का नाम विक्रान्त रक्खा था। भला तुम्हीं बतलाओ, इस विक्रान्त नाम का क्या अर्थ हुआ ? केवल आत्मा ही नित्य पदार्थ है। बाक़ी सब माया है। यह ·त्मा सब जगह समान भाव से रहती है। इसकी एक स्थान से दूसरे स्थान में क्रान्ति या गति नहीं हो सकती। सुबाहु का ही क्या अर्थ हुआ ? क्या इस अनित्य देह के लिए आत्मा सु या कु हो सकती है ? केवल इसीके लिए वह अच्छी या बुरी हो सकती है ? तीसरा नाम अरिमर्दन है। जो यह समझता है कि सबमें एक ही आत्मा विराज रही है, वह सबको एक समझता है। उसके मन में कभी इस प्रकार का भाव उत्पन्न हो ही नहीं सकता कि अमुक शत्रु है और अमुक मित्र। एक शरीर ही दूसरे शरीर का मर्दन कर सकता है। परन्तु वह शरीर असार और अनित्य है। वह आज है और कल न रहेगा। जो पदार्थ मूर्त्तिहीन और नित्य हो उसका कोई क्या और कैसे मर्दन कर सकेगा ? आत्मा तो निर्मल और सब दोषों से रहित है, उसका क्या मर्दन होगा ? इसीलिए मैं कहती हूँ कि जीव और आत्मा के स्वभाव का ध्यान रखते हुए किसी नाम का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। नाम इसीलिए रक्खा जाता है कि संसार में एक-दूसरे को पहचानने में सुभीता हो। यदि नाम रखने का कोई हेतु है तो वह केवल यही है। और यदि इस दृष्टि से मैं चौथे पुत्र का नाम अलर्क रखती हूँ तो यह नाम उसके तीनों भाइयों के नामों के समान ही सार्थक है।"

माता की शिक्षा के प्रभाव से तीनों पुत्र संसार-त्यागी हो गये। उन तीनों के द्वारा राज्य की रक्षा, कुल की मर्यादा की रक्षा

या वंश की उन्नति आदि की कुछ भी आशा नहीं रह गई। ऋतुध्वज को स्वभावतः बहुत चिन्ता होने लगी। उसने सोचा कि अलर्क की शिक्षा आदि का भार किसी ऐसे पण्डित को देना चाहिए जो साधारण नीति-शास्त्र आदि का अच्छा ज्ञाता हो। एक दिन अन्तःपुर में पहुँचकर उसने देखा कि अलर्क को भी मदालसा आत्म-तत्त्व तथा वैराग्य की ही शिक्षा दे रही है। तब उसने कहा—"मदालसा! यह तुम क्या कर रही हो? तीन पुत्रों को तो तुमने इस प्रकार के उपदेश दे-देकर योगी बना डाला। अबतक मैं कुछ नहीं बोला, चुप था। परन्तु यह चौथा पुत्र भी तुम्हारी इस प्रकार की शिक्षा से संसार छोड़ देगा तो मैं क्या करूँगा? उस समय कौन मेरा राज्य सम्हालेगा? कौन मेरी प्रजा का प्रतिपालन करेगा? कौन मेरे वंश का नाम रक्खेगा? अब तुम अपना यह आत्म-तत्त्व और वैराग्य अपने पास रक्खो और अलर्क को ऐसी शिक्षा दो जिसमें वह संसार में कर्म-मार्ग पर चलकर अपनी उन्नति कर सके, क्षत्रिय-धर्म और संसार-धर्म सीखे, और अच्छी तरह पवित्रतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करे। यदि तुम इसे इस प्रकार की शिक्षा न दे सको तो मुझे इसके लिए कोई और शिक्षक ढूँढना पड़ेगा।"

मदालसा ने हँसते हुए कहा, "इतना बड़ा उद्योग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं संसार-धर्म वाला शास्त्र भी थोड़ा-बहुत जानती हूँ। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो मैं इसे गृहस्थ-धर्म और राज-धर्म की ही उचित शिक्षा दूँगी।"

इतना कहकर मदालसा ने अलर्क को एक कोने में बैठाकर कहा—"पुत्र अलर्क, तू इस पृथ्वी में उन्नति कर। तू अपने

मित्रों का हित और शत्रुओं का दमन करके अपने पिता को प्रसन्न कर।"

अलर्क की शिक्षा का भार उसकी माता मदालसा पर ही रहा। बाल्यावस्था में जो-कुछ सीखा जा सकता था वह सब उसने सीख लिया। यथासमय अलर्क का यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। जब उसका उपनयन हो गया तब वह अपनी माता को ही अपने गुरु के स्थान पर समझने लगा। उसने अपनी माता के चरणों में प्रणाम करके कहा, "माता, अब तुम मुझे यह बतलाओ कि इस लोक तथा परलोक में कल्याण का साधन करने के लिए मुझे किस धर्म का पालन करना चाहिए।" तब एक-एक करके राज-धर्म सम्बन्धी सब सिद्धान्त मदालसा ने अलर्क को बिस्तारपूर्वक समझा दिये। अलर्क ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया त्यों-त्यों वह राज-नीति, समाज-नीति, गृहस्थ-धर्म, त्याग, यज्ञ, सदाचार आदि के शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करता गया। मदालसा ही उसे इन सब विषयों का उपदेश देती थी और विधि आदि बतलाती थी। अलर्क प्रश्न किया करता था और मदालसा उसका उत्तर दिया करती थी। जिस प्रकार युवावस्था तक पहुँचने पर शिष्य अपने गुरु से उपदेश ग्रहण करके सब विषयों की जानकारी प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार अलर्क भी अपनी माता से शिक्षा प्राप्त करके सब विद्याओं में पारङ्गत होगया और एक आदर्श राजा तथा आदर्श गृहस्थ की भाँति जीवन व्यतीत करने के योग्य बन गया।

जब अलर्क शिक्षा प्राप्त करके योग्य होगया, तब उसका विवाह हुआ। विवाह हो चुकने पर वह माता से प्राप्त की हुई

शिक्षा के अनुसार गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन करने लगा। यह देखकर ऋतुध्वज को बहुत आनन्द हुआ।

कुछ दिनों बाद ऋतुध्वज वृद्ध होगया। तब वह मदालसा को अपने साथ लेकर वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करने के लिए तैयार होगया। राज्य का सब काम उसने अलर्क को सौंप दिया।

अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार ही मदालसा ने अलर्क को सांसारिक धर्म की शिक्षा दी थी। उसने उसे आत्म-तत्त्व-सम्बन्धी कोई उपदेश नहीं दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अलर्क का सारा जीवन प्रवृत्ति के मार्ग में ही व्यतीत होने लगा और निवृत्ति के प्रति उसका कुछ भी ध्यान न रह गया। वैराग्य का एक भी लक्षण उसमें दिखाई नहीं दिया। ममता और भोग के प्रति उसकी आसक्ति बहुत प्रबल हो उठी। परन्तु इन बातों पर भी मदालसा का ध्यान था। अतः वन जाते समय उसने अलर्क से कहा—"अलर्क! गृहस्थ लोग सहज में मोह और ममता के वश हो जाते हैं, और इसके बदले में वे दुःख भी बहुत अधिक पाते हैं। मेरी इस अँगूठी में एक पतले पत्तर पर बहुत ही सूक्ष्म अक्षरों में मेरा अन्तिम उपदेश लिखा हुआ है। यदि कभी बन्धुओं का नाश होने के कारण, शत्रुओं के प्रबल होने के कारण, अथवा इसी प्रकार की और कोई बात होने से. तुम-पर कोई भारी दुःख आपड़े तो तुम वह पत्तर निकालकर पढ़ लेना और उसमें जो उपदेश लिखा हो उसके अनुसार काम करना।"

इतना कहकर मदालसा ने अपने पुत्र की अगुली में एक अँगूठी पहना दी। इसके उपरान्त उसने उसे गृहस्थ के उपयुक्त आशीर्वाद दिया और चली गई।

उस अँगूठी पर यह उपदेश लिखा हुआ था—"सबका संग छोड़ दो। यदि संग न छूट सके तो केवल अच्छे आदमियों का संग करो। सब वासनाओं का त्याग कर दो। यदि ऐसा न हो सके तो केवल मुक्ति की इच्छा करो।"

एक बार अलर्क पर बहुत भारी विपत्ति आई। उस समय अलर्क ने माता का वह उपदेश खोलकर पढ़ा। उसने समझ लिया कि माता मुझे चलते समय उपदेश दे गई है कि मुक्ति की इच्छा करनी चाहिए और अच्छे आदमियों का साथ करना चाहिए। इसलिए वह तुरन्त ही महर्षि दत्तात्रेय के पास जा पहुँचा और उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे कुछ उपदेश दीजिए। दत्तात्रेय के उपदेश से अलर्क को धीरे-धीरे ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होने लगा और भोग-विलास के प्रति उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। अतः उसने संसार का परित्याग कर दिया और योग के द्वारा मुक्ति प्राप्त की।

३

साधिका सती

बेहुला

परमशैव चन्द्रधर चम्पकनगर का एक बहुत बड़ा साहूकार था। बंगाल में लोग उसे चाँद सौदागर भी कहते हैं। भगवान् शंकर की आज्ञा थी कि जबतक चन्द्रधर खुद मनसादेवी की पूजा न करेगा तबतक मृत्युलोक में इस देवी की पूजा प्रचलित नहीं होगी।

मनसादेवी ने चन्द्रधर से पूजा प्राप्त करने के अनेकों यत्न किये; परन्तु पूजा करना तो दूर की बात है, उलटा चन्द्रधर उससे घृणा करने लग गया।

जब सीधी तरह मनसादेवी चन्द्रधर से पूजा न प्राप्त कर सकी, तब उसने बाम-मार्गों का अवलम्बन शुरू किया। चन्द्रधर से उसने शत्रुता ठान दी। चन्द्रधर को 'महाज्ञान' नामक एक सिद्धि प्राप्त थी, जिसकी सहायता से वह साँप के डसे हुए मनुष्यों को अच्छा कर सकता था। मनसादेवी ने साँपों को आज्ञा देकर चन्द्रधर के पुत्रों को कई बार मरवा डालने का यत्न किया, परन्तु चन्द्रधर के सामने एक न चली। ज्योंही मनसा-देवी की आज्ञा से साँप आकर उसके किसी पुत्र को डसते त्योंही वह अपनी सिद्धि के द्वारा उन्हें क्षणभर के अन्दर ठीक कर देता। तब, लाचार हो, मनसादेवी को प्रकट-शत्रुता की नीति को भी

त्यागना पड़ा। अब उसने कपट से काम लेने की सोची। एक दिन वह परमसुन्दरी का रूप धारण करके आई और चन्द्रधर को मोह में डालकर उसकी 'महाज्ञान' सिद्धि ले उड़ी। जब उस सिद्धि को लेकर वह एकाएक अदृश्य होगई तब कहीं चन्द्रधर की आँखे खुलीं। उसने सोचा, 'आज बड़ा धोखा हुआ।' उसे बड़ा दुःख हुआ, परन्तु फिर भी चन्द्रधर ने हिम्मत न छोड़ी। उसका एक मित्र था, जो सर्प-दंश का मंत्र जानता था। चन्द्रधर ने किसी प्रकार धीरज धारण किया। परन्तु यह मित्र भी मनसादेवी की आँखों से नहीं बच सका। किसी-न-किसी युक्ति से उसने इस मित्र को भी यमपुर पहुँचा दिया। अब तो बेचारा चाँद सौदागर बिलकुल निराधार होगया।

सालभर के अन्दर-अन्दर मनसादेवी ने चन्द्रधर के छहों लड़कों को सर्पदंश से उठा लिया। सारे परिवार में शोक छागया। घर में छः बहुयें विधवा होगईं। बेचारी सनका ने अपने पति को कई बार मनसादेवी से दुश्मनी छोड़ने के लिए समझाया-बुझाया, परन्तु चन्द्रधर टस से मस न हुआ। बेचारी छः जवान पुत्र-वधुओं को विधवा देखकर दिनभर अपने भाग्य को रोया करती। उसका पुराना नौकर नेड़ा मालिक को मनाते-मनाते हार गया। मित्र भी उसे इस विषय में समझाते-समझाते थक गये। परन्तु चन्द्रधर की कठोर प्रतिज्ञा नहीं टली।

इस शोकपूर्ण वायुमण्डल से आखिर वह ऊब गया। हीरे, मोती, माणिक्य, सोना, चाँदी आदि चौदह नौकायें भरकर वह व्यापार के लिए विदेशों को चल दिया।

परन्तु मनसादेवी ने सोचा, "इसे छलने का यह बड़ा अच्छा

मौका है । यह अक्सर देखा गया है कि आदमी दारिद्र में सीधा हो जाता है । यह प्रायः अपनी सारी सम्पत्ति लेकर निकला है, उसे क्यों न डुबो दूँ ?" मेघ और वायु का स्मरण करके उसने आज्ञा देदी, कि "दूर देश में जाकर चन्द्रधर की सारी सम्पत्ति सागर में डुबो दो । सिर्फ चन्द्रधर को बचा लेना ।" हुआ भी यही । ज्योंही चन्द्रधर अपने मुकाम के पास पहुँचनेवाला था, एक जोर का तूफान आया और चौदहों नौकायें एकाएक जल-मग्न हो गईं । चन्द्रधर डूबते-डूबते बच गया । शरीर पर एक भी कपड़ा न बचा । बहते-बहते वह एक निर्जन श्मशान में जाकर लगा । वहीं पड़े हुए श्मशान के एक वस्त्र को अपने शरीर पर लपेटकर उसने किसी प्रकार अपनी लज्जा निवारण की और जाड़े में ठिठुरता हुआ पास के नगर में पहुँचा । सौभाग्यवश उसे वहाँ अपना एक पुराना मित्र मिल गया, जिसने चन्द्रधर को देखते ही उसका बड़ा आदर-सत्कार किया । मित्र ने उसे सूखे कपड़े पहनने को दिये और उसके भोजन के लिए नाना प्रकार के व्यंजन बनवाये । परन्तु जब दोनों मित्र भोजन करने के लिए बैठे, तो चन्द्रधर को मालूम हुआ कि उसका मित्र तो मनसादेवी का भक्त है । अतः वह एकाएक वहाँसे चल दिया ।

दुर्गम वन-पर्वतों और नदियों को पार करता हुआ, महाविपत्तियों में से गुजरता हुआ, चन्द्रधर अपने नगर को पहुँचा । पतिव्रता सनका अपने पति को इस हालत में देखकर बहुत दुःखी हुई । उसकी आँखों से आँसुओं की धार बह निकली ।

एक दिन अत्यन्त दीन और व्याकुल होकर सनका मनसादेवी से प्रार्थना करने लगी—"माता, तुम मेरे पतिदेव के हृदय में अपने

लिए भक्ति न पैदा कर सकीं तो न सही । अब तो हमारे घर में ही किसी ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न करदो कि जिसके प्रयत्न से वह असाध्य वस्तु भी साध्य हो जाय और आपके कुल की स्थापना हमारे घर में हो जाय। अब हमारी परीक्षा कबतक लोगी ? मालूम होता है आपका हृदय अत्यन्त कठोर है, नहीं तो भला हम लोगों पर इस कदर क्यों रूठतीं ?"

सनका की इच्छा पूर्ण हुई । शीघ्र ही चन्द्रधर का गृह आनन्दोत्सव से गूँजने लगा । नगरवासियों में चारों ओर यही चर्चा होने लगी कि सनकादेवी के पुत्र हुआ है । पूर्णचन्द्र के समान पुत्र का उज्ज्वल मुख देखकर सनका बड़ी प्रसन्न हुई । परन्तु पति के कठोर व्रत की याद आते ही सनका को फिर भय ने घेर लिया कि परमात्मा ही जानें, वह मनसादेवी से इस बालक को कैसे बचाते हैं ! पुत्र का नाम लक्ष्मीन्द्र रक्खा गया ।

चन्द्रधर को भी पुत्र का मुँह देखकर कम प्रसन्नता नहीं हुई । उसे भी मनसादेवी का भय तो था ही । पुत्र-जन्म के बाद ही उसने तपस्या शुरू करदी । रात-दिन वह भगवान शंकर का भजन-पूजन करने लगा । एक दिन भगवान् ने प्रकट होकर कहा— "विवाह के बाद जिस घर में लक्ष्मीन्द्र अपनी पत्नी सहित सोयेगा उसी घर में सर्प-दंश से उसकी मृत्यु होजायगी ।" यह सुनकर तो चन्द्रधर का सारा खून सूख गया । संसार से वह अत्यन्त विरक्त होगया । किसी प्रकार 'हर-हर !' करते हुए वह इस भीषण परीक्षा के दिन की बाट देखने लगा । अपनी पत्नी से जान-बूझकर उसने यह बात गुप्त रक्खी ।

इधर लक्ष्मीन्द्र शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह दिन-ब-दिन

बढ़ने लगा। देखते देखते वह किशोरावस्था में प्रवेश करने लग गया। सनका तो पूरी तरह मायाजाल में फँस गई। दिन-रात पुत्र के लाड़-चाव में निमग्न रहने लगी। पर चन्द्रधर का पुत्र पर इतना मोह नहीं था, और उसकी उदासीन-सी वृत्ति को देखकर सनका बराबर क्षुब्ध रहा करती थी।

लक्ष्मीन्द्र कुल-दीपक पुत्र निकला। उसने अपना व्यवसाय अच्छी तरह सीख लिया। साथ ही काव्य, नाटक, अलंकारशास्त्र आदि का भी उसने खासा अध्यन किया। सारे नगर के लोग उस-की व्यवसाय-चातुरी, विलक्षण बुद्धि, विद्वत्ता, शील और सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाते।

रूप-गुण-निधान बेटे को सयाना होते देखकर सनका ने सोचा कि अब लक्ष्मीन्द्र के योग्य वधू तलाश करनी चाहिए। एक दिन काम-काज से निवृत्त हो शाम को पति के घर पर लौटते ही भोजन के बाद यह प्रस्ताव चन्द्रधर के सामने उसने रक्खा। पर उसे सुनकर प्रसन्न होने के बजाय चन्द्रधर को तो उलटे दुःख होने लगा। सनका पति के चेहरे को देखकर विस्मित हो गई। चन्द्र-धर ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। सनका ने निराश होकर खाना-पीना छोड़ दिया और रात-दिन आँसू बहाने लगी।

पत्नी की यह दयाजनक अवस्था देखकर चन्द्रधर ने सोचा, जो कुछ भाग्य में लिखा होगा सो तो टल नहीं सकता। हाँ, प्रयत्न करना अपना काम है। सो जब लक्ष्मीन्द्र बहू को व्याह कर आये तब उसके रहने के लिए एक ऐसा मजबूत वासगृह बनाऊँगा कि जिसमें मनसादेवी की गुजर न भिड़ेगी। जो कुछ भी हो, मुझे अब इस साध्वी को अधिक दुःख न देना चाहिए।" यों सोचकर उसने

अपने कुल-पुरोहित जनार्दन को बुलाकर लक्ष्मीन्द्र के योग्य वधू खोजने को कह दिया।

जनार्दन पण्डित खोजता-खोजता निछनी गाँव में पहुँचा। वहाँ के बड़े सौदागर की कन्या बेहुला करीब चौदह वर्ष की थी। बेहुला का कण्ठ कोकिला के समान मधुर था। संगीत-विद्या में वह इतनी निपुण थी कि उस समय उसकी तुलना में खड़ी रहने योग्य एक भी महिला संसार में नहीं थी। भोजन बनाने में तो वह सिद्धहस्त थी ही, काव्य व शास्त्रों का उसका अध्ययन भी बड़ा गहरा था। उसका सौन्दर्य तो एकदम स्वर्गीय था। सारे शहर की जनता उसके गुण-शील पर मुग्ध थी।

बेहुला जब चौदह वर्ष की हुई तब उसके पिता ने योग्य वर खोजना शुरू किया। इसी समय चन्द्रधर का पुरोहित जनार्दन वहाँ पहुँचा। जनार्दन तो बेहुला का रूप-लावण्य, सद्‌गुण-सम्पत्ति, शील-विद्वत्ता तथा भक्ति देखकर मुग्ध होगया। उसको विश्वास होगया कि अगर लक्ष्मीन्द्र के योग्य कोई वधू हो सकती है तो यही। फौरन उसने सेठजी को भी खबर करदी। खबर मिलते ही चन्द्रधर सेठ भी नाना प्रकार के वस्त्राभूषण तथा खाद्य पदार्थ लेकर वहाँ आपहुँचा। बेहुला के पिता ने सेठ का बड़े प्रेम से स्वागत किया। बेहुला तो चन्द्रधर को मानों लक्ष्मी के समान दिखाई दी। ऐसा सौन्दर्य, शील, सद्‌गुण, विद्या और भक्ति उसने कहीं और देखी ही नहीं थी।

चाँद सौदागर ने बेहुला के पिता से कहा, "कन्या तो हमें पसन्द है। परन्तु हमारे कुल में एक कुलाचार है, उसके अनुसार कन्या की परीक्षा करनी पड़ेगी। लोहे के बनाये चने उसे पानी

में पकाने होंगे। अगर कन्या लक्ष्मी होगी तो लोहे के चने मामूली दाल की तरह गल जावेंगे।"

यह बात सुनकर बेहुला की माता अमला तो रोने लगी और बेहुला के पिता के सिर पर हाथ देकर बैठ गई। इतने में बेहुला ने आकर कहा, "आप सब इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हैं? मैं बारह महीनों में बारह व्रत करती हूँ। हर अमावस्या का उपवास करके मनसादेवी की पूजा करती हूँ। ईश्वर की दया से मैं लोहे के चने पका सकूँगी। आप चिन्ता न करें।"

बेहुला ने एक हाँडी मँगाई। आग सुलगाकर उसपर हाँडी में लोहे के चने और पानी भरकर रक्खा, और लगी प्रार्थना करने। देखते-देखते लोहे के दाने गल गये। सब आश्चर्य से स्तम्भित होगये। कोई उसे लक्ष्मी समझने लगा, कोई पार्वती, और कोई सरस्वती। चन्द्रधर को विश्वास होगया कि कन्या मेरे पुत्र के सर्वथा योग्य है, और घर लौटकर वह विवाह की तैयारियाँ करने लगा।

अन्य सब बातों की तैयारियों का काम तो उसने नौकरों पर सौंप दिया, परन्तु विवाह के बाद पुत्र और पुत्रवधू के रहने के लिए दृढ़ व सुरक्षित आवास बनाने के काम को उसने अपने जिम्मे रक्खा। शीघ्र ही उसने एक सुन्दर और विशाल मकान बना लिया, जो पूरा लोहे का था।

परन्तु मनसादेवी अन्तरिक्ष से यह सब देखती थी। उस सुरक्षित पर्वत-दुर्ग और लोहे के मकान को देखकर वह चिन्तातुर हुई। ज्योंही कारीगर मकान बनाकर बाहर निकला, मनसादेवी ने कारीगर को डरा-धमकाकर उसकी दीवार में एक छोटासा छेद कराया और उसके अन्दर कोयले का चूरा भरवा दिया।

यथासमय लक्ष्मीन्द्र और बेहुला का विवाह होगया। बेहुला का वियोग माता-पिता को बड़ा असह्य मालूम हुआ। परन्तु संसार की रीति का खयाल करके माता-पिता, भाई-बहन तथा नगरवासियों ने भी अपने दुःख को हृदय में छिपा लिया और आशीर्वाद देकर बेहुला को बिदा किया।

पुत्र और पुत्रवधू को लेकर निछनी से लौटते ही चन्द्रधर ने उन दोनों का आवास उसी पर्वत के लौह-बंगले में रक्खा। पति-पत्नी के सम्मिलन की प्रथम रात्रि को शाप के डर से महल के आस-पास एकसौ सशस्त्र सैनिकों को रक्खा और खुद भी लाठी लेकर महल के आस-पास पहरा लगाने लगा।

उधर मनसादेवी ने अपने अधीन समस्त साँपों का स्मरण करके उन्हें बुलाया और कहा—"जाओ चन्द्रधर के लड़के को डस आओ।" परन्तु लौह-महल के बन्दोबस्त को देखकर सभी काँप गये। किसीकी हिम्मत न हुई। तब मनसादेवीने उन सब-को बड़ी बुरी तरह फटकारा। अन्त में बंकराज नामक एक साँप ने हिम्मत बताई और मनसादेवी ने आशीर्वाद देकर उसे बिदा किया।

लक्ष्मीन्द्र गहरी नींद में सोरहा था और बेहुला जागती हुई बैठी थी, क्योंकि उसे किसी तरह मनसादेवी के शाप की खबर हो गई थी। एकाएक लक्ष्मीन्द्र नींद से जगा और बोला, "प्रिये! बड़ी भूख लगी है। कुछ भात करके खिलाओ।" इतना कहकर वह फिर सो गया। बेहुला यह सुनकर अवाक् सी रह गई। इतनी रात को लोहे के मकान में भात बनाने की सुविधा कहाँ? अन्त में उसने किसी प्रकार नारियल की चोटी जलाकर पति के लिए

कुछ भात बनाया। परन्तु इतने में उसने देखा कि लोहे की दीवार एक जगह से फट रही है और एक छेद से साँप निकल रहा है। उस भयकंर साँप को देखकर बेहुला तो डर गई। परन्तु पति को छोड़कर भाग नहीं सकती थी। वह चतुर तो थी ही। उसने पास पड़ी हुई एक सोने की कटोरी में दूध और केला रखकर साँप के सामने रख दिया। साँप ने ज्योंही दूध पीने के लिए नीचा सिर किया, बेहुला ने उसके ऊपर एक पटिया ढककर उसे क़ैद कर दिया। बंकराज को वापस लौटने में देर होते देखकर मनसा-देवी ने उदयकाल नामक एक दूसरे भयंकर साँप को भेजा, परन्तु वह भी कैद कर लिया गया। अब कालदन्त नामक तीसरा साँप आया, वह भी इसी प्रकार फँस गया। इतने में भात पक गया। लक्ष्मीन्द्र गहरी नींद में सो रहा था, इसलिए बेहुला ने उसे उठाना ठीक न समझा। इधर जगते-जगते स्वयं उसे भी नींद आ-गई। बस, मनसादेवी को अनायास योग मिल गया। अबकी बार उसने एक भयंकर नागिन को भेजा। कालनागिनी चुपचाप लौह-महल में घुसी और लक्ष्मीन्द्र के पैरों के पास आकर छिप गई। वह भी तो धर्मज्ञ थी न! बिना अपराध वह लक्ष्मीन्द्र को कैसे डसती? अन्त में लक्ष्मीन्द्र का पैर उसे लग ही गया, और काल-नागिनी ने झट उसे डस लिया।

एकाएक लक्ष्मीन्द्र की नींद खुल गई और वह चिल्लाया। बेहुला भी हड़बड़ाकर उठी। पति की चिल्लाहट सुनते ही उसका तो जी ही मानों उड़ गया। कालनागिनी को भागते हुए भी देख लिया था। उसे निश्चय होगया कि आज तो सर्वनाश होगया। वह फूट-फूटकर रोने लगी। बहू के रोने की आवाज

सुनते ही चन्द्रधर भागता हुआ वहाँ आया। बेचारी सनका भी घबराई हुई आ पहुँची। पर आकर देखा तो बेटे का सोने के जैसा पीला शरीर काला स्याह होगया है और स्वामी के सिर को गोद में लेकर बेहुला रो रही है। सनका तो यह देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। सारे महल में आक्रोश फैल गया। चन्द्रधर से यह न देखा गया। उसका हृदय भी भर आया। परन्तु शाप की याद करके तथा अपनेआपको रोककर वह अपने प्रिय पुत्र की उत्तर-क्रिया की तैयारी करने लगा।

लक्ष्मीन्द्र के शव को यथासमय लौह-महल से बाहर लाये। आज बेहुला ने अपनी सारी लाज छोड़ दी। वह भी स्वामी के शव के साथ होगई। लक्ष्मीन्द्र के लिए बढ़िया सुगन्धित काष्ठ की चिता बनवाई गई। चिता के पास आकर बेहुला बोली—"यदि आप इनको जलायेंगे तो मैं भी इनके साथ जलकर मरूँगी। लेकिन इनको जलाने की क्या जरूरत? साँप के काटे मनुष्य को जलाया नहीं जाता। उसे तो एक बड़ी-सी शववाहिनी बाँधकर बहा देना चाहिए। ईश्वर की गति न्यारी है। संभव है साँप का जहर उतारनेवाले किसीके द्वारा यह फिर उठ खड़े हों। मैं इस शववाहिनी के ऊपर बैठकर इनके साथ जाऊँगी।"

सबने बेहुला की बात को मान लिया। शव के साथ जाने की बात को उन्होंने मिथ्या शोकोद्गार समझा था। परन्तु शववाहिनी तैयार होने पर उसे बहा दिया गया तो उसपर बेहुला भी समस्त सौभाग्य-चिन्ह धारण करके जा बैठी। अकेले चन्द्रधर और सनका ने ही नहीं बल्कि समस्त जनता ने आग्रह-पूर्वक बेहुला को मनाया। परन्तु वह अपने निश्चय से न डिगी। सारे

जन-समुदाय को दुःख के सागर में छोड़कर बेहुला तथा लक्ष्मीन्द्र की शव वाहिनी गङ्गा-तरङ्गों से टकराती हुई प्रवाह में बहने लगी। वायुवेग से यह समाचार बेहुला के मात-पिता तक भी जापहुँचा। बेहुला की माता, उसके छहों भाई, पिता आदि सभी प्रियजन गंगा-तीर पर आये और उसकी राह देखने लगे। शीघ्र ही बेहुला का शव-वाहिनी दूर से आती हुई उन्हें गंगा के अन्दर दिखाई दी। उसे देखते ही सारा समुदाय शोकाकुल होगया। शववाहिनी नजदीक आने पर नौकाओं में बैठकर ये लोग उसके पास गये और उसे अनेक प्रकार मनाया। परन्तु बेहुला तो सिर्फ एक ही जवाब देती थी—"जबतक इस मृत देह में जीवन का संचार न होगा तबतक मैं वापस नहीं लौटूँगी। जो गति स्वामी की होगी वही मेरी भी हो।" आख़िर उसका निश्चय कायम रहा और वह आगे बढ़ी।

राह में बेहुला को नाना प्रकार के लोग मिले। कोई उसकी दीन दशा देखकर उसकी सहयता करने की इच्छा दिखाते, कोई उसके खाने-पीने की सामग्री उसके पास छोड़ जाते, तो कोई उसके रूप-सौंदर्य को देखकर उसका सतीत्व भङ्ग करने की चेष्टा करते। परन्तु परमात्मा ने सब संकटों से उसकी रक्षा की।

इस प्रकार चलते-चलते एक दिन बेहुला एक घाट पर पहुँची। उस वक्त दिन निकल आया था और घाट पर नेता नाम की एक धोबन कपड़े धो रही थी। नेता को देखते ही बेहुला का हृदय खिल उठा और उसने मन-ही-मन कहा, "यह तो मनुष्य रूप-धारिणी कोई स्वर्गीय देवी है। इसे अमरलोक का पूरा पता होगा। नहीं तो इसे देखते ही मेरा हृदय इतना प्रफुल्ल क्यों हो रहा है?" इतने

में वहां एक चमत्कार और हुआ । नेता के साथ में एक बालक भी था । वह बड़ा शरीर था । नेता बर्तनों को धो-धोकर किनारे रखती जाती थी और वह उन्हें वहांसे उठा-उठाकर नदी में फेंक देता था । नेता ने बच्चे को एक-दोबार मना भी किया, और जब उसने न माना तो नेता ने उसका कण्ठ दबाकर उसे मार डाला । इसके बाद वह निश्चिन्त होकर कपड़े धोने लगी । जब सब कपड़े धुल गये तो बालक पर थोड़ा पानी छिड़का और वह फिर से जिन्दा होगया । बालक यों हँसते हँसते खड़ा होगया मानों नींद से उठा हो । नेता ने कपड़ों की गठड़ी सिर पर रक्खी, बच्चे का हाथ पकड़ा और सीधी आकाश में उड़ गई । यह हाल देख रात को बेहुला वहीं ठहर गई । उसने सोचा, इस रहस्य का पता जरूर लगाना चाहिए ।

दूसरे दिन फिर नेता धोबन वहाँ आई । आज भी उसने वही किया । अपने लड़के को मारकर लिटा दिया । जब सब कपड़े धुल गये तब लड़के को फिर जिलाकर कपड़े उठाये और स्वर्ग का रास्ता लिया । लेकिन, नेता उड़ने ही को थी कि बेहुला ने उसके पैर पकड़ लिये । नेता जरा पीछे हटकर बोली, "तेरे जैसी पति के पीछे बावली होजानेवाली लड़की तो मैंने संसार में कहीं भी नहीं देखी । स्वामी को यदि जिलाना है तो मेरे साथ स्वर्ग को चल । महेश्वर तुझपर बड़े प्रसन्न होगये हैं ।"

बेहुला के लिए यह कितना आल्हादकारक उत्तर था । वह तुरन्त तैयार होगई । नेता ने स्वर्ग में ले जाकर इन्द्र के सामने उसे खड़ा कर दिया । देवताओं ने उससे कहा, "बेहुला, हम सब तेरी पति-भक्ति से बड़े प्रसन्न हुए हैं । पर हम जानते हैं कि तू

नृत्यकला में बड़ी प्रवीण है, अतः एकबार हमें अपना नाच तो दिखा दे।"

बेहुला को बड़ा दुःख हुआ। परन्तु उसे तो अपने स्वामी को जिलाना था, अतः उसने नम्रतापूर्वक देवताओं की आज्ञा को स्वीकार किया और नाचने लगी।

बेहुला नृत्य में अभिनय करना भी जानती थी और इस कार्य में इतनी निपुण थी कि दर्शकों के चित्त पर अभीष्ट प्रभाव डाल सकती थी। अतः नृत्य में उसने करुण रस का अभिनय शुरू किया। एक तो वह दुखिया थी ही, फिर उसमें कला-निपुणता का भी सहारा मिल गया। देवता उसके अभिनय को देखकर रो पड़े। उन्हें अपनी कठोर परीक्षा पर लज्जा आई और बेहुला को रोक-कर वे बोले, "पुण्यशीले! हमें इस बात पर बड़ी लज्जा आती है कि हमने तेरी ऐसी कठोर और अनुचित परीक्षा ली। हम सिर्फ यही देखना चाहते थे कि तू अपने पति को जिलाने के लिए कितना अपमान सह सकती है। अब हम सब तुझे आशीर्वाद देते हैं कि तेरे मनोरथ सिद्ध होने में अब विलम्ब नहीं लगेगा।"

देव-सभा से अनुचरगण मनसादेवी को बुलाने के लिए दौड़ाये गये। देवताओं ने बेहुला को लाने के लिए नेता धोबन को तभी भेजा था जब कि मनसा ने लक्ष्मीन्द्र को जिलाने का वचन उन्होंने ले लिया था। पर जब बेहुला आपहुँची तो मनसा ऐन वक्त पर न जाने कहाँ चली गई! अन्त में शिवजी की कृपा से नेता दिव्य चक्षुओं की सहायता से मनसा को ढूँढ ही तो लाई। इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण आदि देवताओं ने मनसा से लक्ष्मीन्द्र को जिलाने के लिए कहा। मनसादेवी ने अपने सारे रोष का हाल सुनाते

हुए कहा—"संसार में सभी मेरी पूजा करने को तैयार हैं, परन्तु अकेला चन्द्रधर सेठ मेरी पूजा नहीं करता। इसलिए वह मेरा कट्टर दुश्मन है। भगवान शंकर ने भी ऐसा वर दे रक्खा है कि जबतक चन्द्रधर मेरी पूजा नहीं करेगा तबतक मृत्युलोक में मेरी पूजा प्रचलित नहीं होगी। पर चन्द्रधर है महाअभिमानी। उसे मजबूर करने के लिए मैंने उसके छः बेटे मार डाले, जिनकी विधवायें चन्द्रधर के घर को आहों से भर रही हैं। मैंने उसकी सम्पत्ति को भी समुद्र में डुबो दिया। मगर वह अपनी प्रतिज्ञा से नहीं टला। अगर उसकी पूजा के बिना मेरी पूजा मृत्युलोक में प्रचलित हो सकती, तो मैं उसकी परवा भी न करती। पर जब वह इस तरह अड़ गया है, तब मैं अपनी टेक किस तरह छोड़ सकती हूँ?"

भगवान महादेव ने कहा—"देवी, किसीकी पूजा प्राप्त करने का मार्ग अत्याचार नहीं है। हाँ, इससे तुम उसके दिल में भय भले ही उत्पन्न कर सको। पूजा तो वहाँ होती है जहाँ प्रेमातिरेक हो, आदर हो, सद्गुणों का चरमविकास हो। देवियों ने मृत्युलोक में अपनी कीर्ति को बुरी तरह कलंकित कर रक्खा है। मैंने देखा है कि तुम अत्याचार के भय से मृत्युलोक में आतङ्क जमाना चाहती हो। दुर्बल हृदय वाले कायर लोग भले ही ऊपर के दिल से तुम्हारी पूजा कर दें, परन्तु चन्द्रधर के समान चरित्रशील, सद्-गुणी पुरुष तुम्हारे सामने किस बात पर अपना सिर झुकावें? इसलिए कि तुम रूठकर कोई महामारी, हैजा या विषमज्वर उनपर भेज दोगी? पर याद रक्खो कि तपस्वी पुरुष तुम्हारे ऐसे अत्याचारों की परवा नहीं करते। तुम्हारी पूजा मृत्युलोक में शुरू

करने को मैंने चन्द्रधर के पूजा करने की शर्त इसीलिए रक्खी थी कि तुम्हारी आँखें खुल जायें। मैं अब भी तुम्हारे बीच समझौता नहीं कराना चाहता। अगर तुम्हें अब भी अपनी शक्ति आज़मानी हो तो आजमा लो। पर इस बेहुला को देखती हो ? तुम्हारी भक्त होने पर भी यह अतुल तपस्विनी है। तुम जरा देर चन्द्रधर को और सताओ और देखो कि संसार में कैसा हाहाकार मच जाता है। क्या मैं तुम्हारा पक्ष इसलिए ग्रहण करूँ कि तुम देवी हो, और इसलिए बेहुला की अवहेलना करूँ कि वह मानुषी है ? आखिर मनुष्यों में भी बुद्धि है। कोई बता सकता है कि चन्द्रधर, उसके छः बेटों, इस लक्ष्मीन्द्र, बेहुला और सनका ने क्या पाप किया है ? फिर उनपर विपत्ति के इतने पहाड़ क्यों ? क्या बेचारे ये मनुष्य तुम्हारे खिलौने हैं ? तुम्हें अतुल शक्तियाँ, अदृश्य रूप, महासिद्धियाँ क्या मैंने इसलिए दे रक्खी हैं कि तुम मनुष्यों को सताओ ? मैं देखता हूँ कि मृत्युलोक में तुमने ऐसा आतङ्क फैलाया है कि तुम्हारे मन्दिर देवालय नहीं बधालय होरहे हैं। अधम मनुष्य तुम्हारे नाम पर घोर-से-घोर पाप करते हैं। यह कैसा अन्धेर है ? माँस, मदिरा और व्यभिचार तुम्हारी उपासना में शामिल हैं। इस तरह तो तुम देवताओं को कलंकित करती हो।"

भगवान महादेव का क्रोध धीरे-धीरे बढ़ता ही जारहा था। मनसादेवी मारे डर के थर-थर काँपने लगी। सारे देवता सहम गये। इन्द्र को अपनी मूर्खता पर, जो उसने अभी बेहुला को नचाकर की थी, ऐसा पश्चात्ताप होने लगा कि वह वहाँसे चल ही दिये। आखिर बृहस्पति ने जरा आगे बढ़कर महादेव को शान्त किया। तब शंकर बोले—"मनसा, क्या यह ठीक है कि

तुम इस तरह बेवकूफियाँ करती रहो और मैं हर जगह तुम्हारी बात सम्हालता रहूँ ? देखो बेहुला छः महीने से भूखी है। मैं कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ ? मनसा ! चामुण्डा ! मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ कि पूजा अत्याचार से, मनमानी से, ऊधम से नहीं बल्कि पुण्य, सदाचार और परोपकार से होती है। पहले संसार को अपने उपकारों से भर दो और तब देखो वह कैसे आनन्द-मय अन्तःकरण से तुम्हारी पूजा करने के लिए दौड़ता है।"

मनसा ने कहा "भगवन्, मैं समझ गई, अब मुझे किसीकी पूजा की ज़रूरत नहीं। अबमें मैं अपनी सारी दैवी शक्तियाँ संसार का उपकार करने में लगाऊँगी। मैं चन्द्रधर की सारी भूलों को अभी भुलाये देती हूँ, क्योंकि उसके द्वारा मुझे यह ज्ञान मिला है। बेहुला के पति को अभी जिलाये देती हूँ। अभी इसके छहों जेठों को भी पुनः प्राण अर्पण कर देती हूँ। चन्द्रधर की सारी सम्पत्ति उसे मिल जायगी और चन्द्रधर सुखपूर्वक रहेंगे। मैंने बड़ी गलत राह पकड़ ली थी, जिसके लिए अब मुझे बड़ा पछतावा होरहा है।"

मनसादेवी के चेहरे पर, अब, सात्विक तेज झलकने लगा। बेहुला का मस्तक भी श्रद्धा से झुक गया। भगवान् शंकर भी मनसा की नम्रता और निस्पृहता से संतुष्ट होगये। इधर देवी के कृपा-कटाक्ष मात्र से लक्ष्मीन्द्र पुनः ज्यों-का-त्यों जीवित होगया। उसके छहों बड़े भाई भी इसी तरह देवताओं के सामने आकर खड़े होगये, मानों वे पुकारने पर दूसरे कमरे में से आये हों। चन्द्रधर की सारी डूबी हुई सम्पत्ति भी उसे मिल गई।

चन्द्रधर पर्वत पर शंकर के ध्यान में मग्न था। भगवान्

शंकर ने उसे ध्यानावस्था में ही यह सारा हाल सुनाकर कहा--"वत्स ! देखो, मनसा ने तुम्हारा कितना उपकार किया है। क्या अब भी तुम उसकी पूजा न करोगी ?" तबतक मनसादेवी भी वहाँ आपहुँची। वह बोली--"नहीं भगवन्, मैं इनकी पूजा नहीं चाहती। यह तो मेरे ज्ञानदाता हैं।"

मनसादेवी की वृत्ति को इतनी बदली हुई देखकर चन्द्रधर के हृदय में उसके प्रति बड़ी श्रद्धा होगई। वह उसी समय पूजा-सामग्री लेकर भगवान शंकर की पूजा करके मनसादेवी की पूजा करने लगा। मनसादेवी मना करती गई। भगवान शंकर ने कहा, "निरहंकारी परोपकारी व्यक्ति तो पूजा के ही पात्र हैं।" देवी की एक न चली और देवी मनसा को सात्त्विक रूप प्राप्त होजाने से अब तो सारा संसार उसकी पूजा करने लगा है।

बेहुला, लक्ष्मीन्द्र और उसके सभी भाइयों को लेकर घर को लौटी। उस दिन चम्पकनगरी में चन्द्रधर के यहाँ अपूर्व उत्सव हुआ।

४

भामिनी

वैशालिनी

वैशालिनी विशालदेश के राजा की लड़की थी। इसका असली नाम भामिनी था; परन्तु अपने पिता विशाल-राज के नाम से ही यह अधिक विख्यात है।

वैशालिनी के स्वयंवर के समय देश-देश के राजा एकत्र हुए थे। इस समय भारत का मुख्य राजा सूर्यवंशी करन्धम था। करन्धम के पुत्र कुमार अविक्षित का तेज और पराक्रम अतुलनीय था। वह बड़ा युद्ध-प्रिय था। उसके प्रताप से देश के सब लोग डरते थे। यह अविक्षित भी वैशालिनी के स्वयंवर में गया था।

वैशालिनी के स्वयंवर में वीरता की कोई शर्त नहीं रक्खी गई थी। जिसे कन्या पसन्द करती वही उसको वर सकता था। अविक्षित जितना वीर था उतना ही अभिमानी भी था। वह यही सोच रहा था कि यहाँ स्वयंवर में मैं चला तो आया; पर यदि वैशालिनी मुझे छोड़कर और किसीको वर लेगी तो मेरी कितनी बेइज्जती होगी। मैं इस अपमान को कैसे बरदाश्त कर सकूँगा? अपने माता-पिता को कैसे मुँह दिखाऊँगा? इसलिए वैशा-लिनी मुझे पसन्द कर लेगी तब तो ठीक है; नहीं तो उसे जबर-दस्ती ले जाऊँगा और उससे राक्षस-विवाह कर लूँगा।

स्वयंवर में आये हुए सभी राजा अविक्षित को देखकर डर गये, क्योंकि अविक्षित के कारण उन्हें कई बार अपमान का कड़वा घूँट पीना पड़ा था। अतः उन्होंने खूब सावधान रहने का

निश्चय किया और आपस में विचार करके वे सब लड़ने के लिए तैयार होगये।

इधर अविक्षित यही सोच रहा था कि वैशालिनी से किस तरह मुलाकात हो। क्योंकि उससे बातचीत करने पर ही उसके दिल की बात का कुछ पता लग सकता था। तलाश करने पर मालूम हुआ कि वैशालिनी शाम को राजमहल के पास वाले बगीचे में टहलने के लिए आती है। अविक्षित वेधड़क उस उपवन में चला गया। अन्दर जाते ही उसने देखा मानों एक देव-कन्या अपनी सखियों के साथ फूल चुन रही है और स्वयं एक फूल के साथ खेल रही है। अविक्षित कन्या के सामने जाकर खड़ा होगया और उसे आश्चर्य में डालते हुए पूछने लगा--"क्या राजकुमारी वैशालिनी आपही हैं?"

"जी हाँ; आप कौन हैं?" कन्या ने कहा।

"मैं महाराज करन्धम का पुत्र कुमार अविक्षित हूं!"

वैशालिनी ने एकबार उसे सिर से पैर तक देखा, फिर पूछा—"क्या वह महापराक्रमी योद्धा कुमार अविक्षित आप ही हैं? यहाँ आप क्यों आये हैं?"

"आपको एकबार देखने के लिए।"

"ऐसी तो कोई प्रथा नहीं है। क्या आप कल मुझे स्वयंवर-सभा में नहीं देख सकते थे?"

"जरूर देख सकता था, किन्तु उससे पहले आपसे कुछ बात-चीत कर लेना मुझे आवश्यक मालूम पड़ा। क्या मैं आपसे एक बात पूछ सकता हूँ?"

"क्या पूछना चाहते हैं?"

"कल स्वयंवर-सभा में आप किसे वरेंगी?"

वैशालिनी ने हँसकर कहा—"यह मैं आपको इस समय कैसे बता सकती हूँ ? स्वयंवर-सभा में आये हुए सभी पुरुषों को देखूँगी, उनका परिचय सुनूँगी और उसके बाद मुझे रूप, गुण, शौर्य, वीर्य आदि में जो सर्वश्रेष्ठ मालूम होगा उसे वरूँगी ।"

अविक्षित ने कहा—"शौर्य, पराक्रम और भाग्य इन तीनों बातों में करन्धम का पुत्र अविक्षित समस्त भारतवर्ष में श्रेष्ठ है।"

वैशालिनी—"अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करना कुमार अविक्षित को शोभा नहीं देता । अपनी श्रेष्ठता मनुष्य को श्रेष्ठ कामों द्वारा जाहिर करना चाहिए। स्त्रियों के सामने अपनी तारीफ बघारना वीर पुरुषों का काम नहीं है।"

"तो क्या तुम मुझे नहीं वरोगी ?"

"स्वयंवर-सभा में पधारिएगा। मैं चाहूँगी तो वहीं वर लूँगी।"

अविक्षित ने कहा—"याद रक्खो, आजतक अविक्षित ने वासना में निष्फल होकर पीछे क़दम नहीं हटाया है । मुझीको वरना। अगर नहीं वरोगी तो…"

"तो कर क्या लोगे ?"

"तो किसी भाग्यशाली पुरुष के कण्ठ में स्वयंवर-माला पहनाने के पहले ही तुम्हें ले भागूँगा।"

वैशालिनी ने गर्वपूर्वक उत्तर दिया—"ओहो, यों डर दिखाकर मुझे अपने वश में करने के लिए कुमार अविक्षित ने यहाँ आने का कष्ट किया है ! अच्छा; यदि ऐसा है, तो मेरी भी सुन लीजिए। अगर हिम्मत हो तो जबरदस्ती उड़ाकर ही ले जाइएगा। मैं अपनी इच्छापूर्वक तो आपको नहीं वरूँगी। अच्छा, नमस्कार ! अब अपने शिविर का रास्ता लीजिए।"

अविच्छित का सारा तेज खाक हो गया। "अब तो राजकन्या को हरण करके ही उससे विवाह करना पड़ेगा।" इस तरह विचार करता हुआ वह अपने शिविर पर पहुँचा और वैशालिनी को हरण करने की युक्ति खोजने लगा।

इधर पौ फटते ही मंगल-वाद्यों से सारा शहर गूँज उठा। राजा तथा राजपुत्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनकर तथा अपने-अपने आयुधों को धारण करके स्वयंवर-सभा में पहुँचे। शहर में शंख, शहनाई आदि मंगलवाद्यों का घोष बढ़ने लगा। वैशालिनी अपनी सखियों को लेकर स्वयंवर-सभा में जाने के लिए निकली। एका-एक अविच्छित सभा से उठकर बाहर गया। उसके सैनिक अपने शस्त्रास्त्रों को लेकर रास्ते में उसकी राह देखते हुए खड़े थे। ज्योंही वैशालिनी नजदीक आई, अविच्छित ने उठाकर उसे रथ में रक्खा और चलता बना! सैनिक भी अपने घोड़ों को एड़ लगाकर हवा हो गये।

सारे स्वयंवर-मण्डप में हाहाकार मच गया! "ले भागा रे ले भागा! राजकुमारी को अविच्छित उड़ाले गया! मारो, मारो; पकड़ो!" की ध्वनि से सारा आकाश गूँज उठा। सब राजा और राज-पुत्र दौड़ पड़े। उनकी सेना भी तैयार खड़ी थी। सबने अविच्छित का पीछा किया। इधर विशाल-राज की फौज भी बे-खबर नहीं थी, ज्योंहीं अविच्छित कन्या को लेकर भागा त्योंही फौज ने उसे नगर के बाहर ही रोक लिया। तबतक इन निमन्त्रित राजाओं की फौज भी आ पहुँची। अविच्छित चारों तरफ से घिर गया। उसके साथ कुछ साधारण अनुचरों का एक छोटा-सा दल-मात्र था और इधर सेना का सागर था। सचमुच

उसने बड़े ही साहस का, बल्कि लड़कपन का, काम किया था। पर वह सच्चा बहादुर था। इस शत्रु-सेना के सागर को देखकर वह जरा भी नहीं घबराया और बाण पर बाण बरसाने लगा।

बड़ी देर तक युद्ध होता रहा। अविक्षित के बाणों से कितने ही राजा और राजकुमार घायल होगये। राजाओं ने देखा कि सब मिलकर भी अविक्षित को धर्म-युद्ध में हराना मुश्किल है; तब उन्होंने ऐसे कुटिल तरीकों से काम लेना शुरू किया जो युद्ध-शास्त्र में मना थे। अन्त में अनेक शस्त्रों से घायल होकर अविक्षित रथ से ज़मीन पर गिर पड़ा और राजाओं ने दौड़कर उसे मज़बूत रस्सी से बाँध दिया। कैदी अविक्षित और वैशालिनी को लेकर सारा राज-समाज नगर को लौट आया।

तब विशाल-राज ने पुत्री से कहा, "बेटी, जो विघ्न उपस्थित हो गया था वह टल गया। अब यहाँ बैठे हुए राजाओं तथा राजकुमारों में से जिसे चाहे वर ले।" पुरोहित ने कहा—"लगन (शुभ-समय) तो बीत गया। परन्तु ये सब क्षत्रियवीर विजय होकर आये हैं। इससे बढ़कर शुभ लगन और कौनसा हो सकता है? कुमारी, इन विजयी वीरों में से जिसे चाहो उसे वर लो।"

वैशालिनी ने सिर नीचा करके कहा—"आज तो मैं किसी-को भी नहीं वरूँगी।"

कन्या की अनिच्छा देखकर राजा ने उससे अधिक आग्रह नहीं किया। उसने सभा में बैठे हुए राजाओं से जाकर कह दिया, "मेरी लड़की का चित्त आज ज़रा अस्वस्थ है, इसलिए आज

वह किसीको न वरेगी। कुछ रोज बाद शुभ दिन देखकर मैं आप सबको फिर खबर कर दूँगा, तब आप फिर कृपा कीजिएगा। उस दिन मेरी लड़की जिसे चाहेगी वर लेगी।"

सभी राजा अपने-अपने राज्य को लौट गये। उस रोज स्वयं-बर नहीं हुआ।

ये समाचार महाराज करन्धम के पास भी पहुँचे और चतुरङ्गिणी (हाथी, घोड़े, रथ और पदाति) सेना लेकर वह विदिशा पर चढ़ाई करने के लिए निकल पड़े। करन्धम ने अपने मित्र राष्ट्रों का भी बुला लिया था। वे भी अपनी-अपनी फ़ौज लेकर इस चढ़ाई में करन्धम की ओर से शामिल होगये।

विदिशा के निकट तीन दिन तक घोर युद्ध हुआ। अन्त में विशाल-राज पराजित होगया। उसने अविक्षित को क़ैद से मुक्त करके करन्धम के पास भेज दिया और सुलह की प्रार्थना की। करन्धम ने भी सुलह करके विशालराज से मित्रता करली। विशाल--राज अपने नवीन मित्र को बड़े समारोह के साथ नगर में ले गया, और वहां उसका खूब आदर--सत्कार किया।

दूसरे दिन करन्धम और अविक्षित बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि इतने में विशालराज भीतर से अपनी कन्या को हाथ पकड़कर ले आये और बोले, "महाराज, यही मेरी कन्या वैशालिनी है। मैं इसका हाथ कुमार अविक्षित को सौंपता हूँ। आप भी अपनी इस पुत्र--बधू को स्वीकार कीजिए।"

वैशालिनी ने आगे बढ़कर करन्धम के चरणों में प्रणाम किया। करन्धम ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा--"चिरंजीव हो बेटी! तेरे जैसी पतोहू के प्राप्त कर सचमुच मैं अपने

आपको कृतार्थ मानता हूँ। अविक्षित, मेरे मित्र विशालराज अपनी कन्या तुझे अर्पण कर रहे हैं।"

अविक्षित ने खड़े होकर जवाब दिया—"पिताजी! विशाल-राज! मुझे क्षमा कीजिएगा। इस राजकुमारी के देखते हुए मैं शत्रुओं के हाथ पराजित और कैदी हो गया हूँ, इसलिए इससे मैं विवाह नहीं कर सकता। पुरुष को पराक्रमपूर्वक अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए और स्त्री को भी शौर्यशाली पति के आश्रय में सुखपूर्वक रहना चाहिए। जो पुरुष शत्रु के द्वारा पराजित हो जाय नारी को उसे शत्रु के समान ही समझना चाहिए। आज तो इस लड़की में और मुझमें कोई अन्तर नहीं रहा। मैं अपने पौरुष का अभिमान करके आज इसे स्वीकार नहीं कर सकता। मैं तो इसके सामने शत्रुओं द्वारा पराजित होगया। अब इससे क्या लेकर विवाह मुँह कर सकता हूँ? महाराज, आप इस कन्या का दान ऐसे पुरुष को दीजिए, जो शत्रु-द्वारा अपमानित न हुआ हो। और जिसका चरित्र पराजय-द्वारा कलंकित नहीं हुआ है। मैं दिल से चाहता हूँ कि यह कन्या स्वयं भी ऐसे ही वर को वरे।"

करन्धम चुप हो रहे। विशाल-राज ने पूछा—"महाराज, आपकी क्या आज्ञा है?"

करन्धम ने कहा—'अविक्षित ने जो कुछ कहा उसके बाद मैं और क्या कह सकता हूँ?"

तब अपनी पुत्री की ओर मुड़कर विशाल-राज बोले—"बेटी, इन लोगों ने जो। कुछ कहा वह सब तू सुन चुकी है। अब तू अपनी पसन्दगी से किसी दूसरे वर को चुन ले। यदि तू चाहेगी

तो मैं खुद ऐसा वर तलाश कर उसके साथ तेरा विवाह कर दूँगा।"

परिस्थिति बड़ी जटिल होगई। विशालराज और करन्धम को इस बात पर बड़ा अफसोस होने लगा। यदि ऐसा ही था तो युद्ध का यह सारा झगड़ा ही क्यों किया गया? परन्तु वैशालिनी ने इस प्रसंग पर बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। उसने नीचा सिर करके कहा,--'पिताजी, यह वीर पुरुष भले ही अपनी अवज्ञा करें, अपने को अयोग्य समझें, परन्तु इनका पराक्रम मैंने अपनी आँखों देखा है। सैंकड़ों योद्धाओं के साथ इन्हें लड़ते हुए अपनी आँखों देखने पर मैं यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं हूँ कि यह हार गये हैं, या किसीसे हार सकते हैं। सच्ची बात तो ठीक इससे विपरीत है। यह अकेले थे फिर भी इनके पराक्रम से शत्रुओं ने बार-बार पराजित होनेपर अधर्म-युद्ध करके इन्हे हराया है। इसलिए इसमें तो इनके लिए जरा भी लज्जा की बात नहीं है। पहली मुलाकात में मैंने बड़े गर्व से इनका अपमान किया था। मेरे यह कहने पर ही कि स्वयंवर में मैं आपको नहीं वरूंगी, इन्होंने मेरा हरण किया था। और न केवल मेरे शरीर का बल्कि मेरे मन का भी यह हरण कर चुके हैं। इन्हींको मैंने आत्म दान किया है। इनके रूप को देख कर ही मैं पागल नहीं होगई हूँ। इन्होंने तो अपने अतुल शौर्य से मुझे अपने वश कर लिया है। इन्हें छोड़कर मैं और किसी पुरुष को नहीं वरूंगी।"

विशालराज बोले—"पुत्र अविक्षित! मेरी कन्या का कथन तुम सुन चुके। इसने जो कुछ भी कहा है वह सत्य है। मैं भी समझ चुका हूँ कि शौर्य और पराक्रम में तुमसे बढ़कर कोई

नहीं है। तुम्हारे विक्रम और शौर्य पर मेरी यह दुहिता तुमपर इतनी मुग्ध हो गई है। तुम इसको स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करो।"

करन्धम ने कहा—"बेटा, यह वैशालिनी तुमपर अनुरक्त है। इसका त्याग न करो। इसका पाणि-ग्रहण कर लो।"

अविक्षित ने गद्गद् होकर कहा—"विशालराज! इस अधम को क्षमा कीजिए। मैंने युद्ध में पराजय प्राप्त किया है, शत्रु के द्वारा अपमानित हो चुका हूँ, इसलिए मैं अपने आपको एक अबला नारी से अच्छा नहीं समझता। मैं नहीं समझता कि वीर पुरुषों में गिने जाने का मुझे कोई अधिकार है। केवल इसी कन्या की बात नहीं है, मैं तो भविष्य में और किसी भी कन्या को नहीं ब्याहूँगा।" फिर अपने पिता की ओर मुड़कर कुमार बोले—"पितृदेव, मैंने अभीतक आपको अपने इष्टदेव के समान समझा है। आजतक मैंने आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया है। आज भी मेरी श्रद्धा और भक्ति इन पितृ-चरणों में है। सिर्फ इस आज्ञा को छोड़कर आप जो चाहें आज्ञा करें, मैं अपने जीवन को अर्पण करके भी उसका पालन करने के लिए तैयार हूँ। बस मुझको आप विवाह के विषय में कुछ न कहिएगा। मैं किसी भी कन्या से विवाह नहीं करूँगा। क्षमा कीजिए। एक मात्र इस बात के लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

अब इसपर कोई क्या कहता या समझता? अत्यन्त दुखी हृदय से करन्धम अविक्षित को लेकर अपने राज्य को लौट गये।

विशाल-राज ने पुत्री से कहा—"बेटी, इसने तो तुझे स्वीकार

नहीं किया। तू अब शान्तिपूर्वक विचार कर और किसी दूसरे राजकुमार को वर ले।"

वैशालिनी बोली -"राम-राम! पिताजी, आप कैसा पाप-कर्म करने के लिए अपनी पुत्री से कह रहे हैं?"

"इसमें पाप कैसे हुआ? अविच्छित से तेरा विवाह तो हुआ ही नहीं। फिर पाप कैसे?"

"हाँ, उन्होंने तो मेरा पाणि-ग्रहण नहीं किया है। पर मैं तो अपने हृदय से उनको वर चुकी हूँ। इसलिए मैं तो अपने आपको उन्हींकी पत्नी समझती हूँ।"

"बेटी, पर उसने तो तेरा त्याग कर दिया है?"

"स्वामी यदि भ्रमवश मेरा त्याग करदें तो क्या मुझे दूसरे पुरुष का आश्रय लेना उचित है?"

"तब क्या करेगी?" विशालराज बड़े दुःख-पूर्वक बोले, "तब क्या तू इस तरह अविवाहितावस्था में ही एक विधवा की तरह समस्त सांसारिक सुख तथा भोग-विलासों को छोड़कर पीहर में अपना जीवन बितायगी?"

वैशालिनी बोली--"नहीं, पिताजी, यदि आपकी आज्ञा हो तो वन में जाकर तपस्या कर सकती हूँ। मैं अपना यह सारा जीवन तपस्या ही में बिताऊँगी और देखूँगी कि इस तपस्या के बल पर भी मुझे अगले जन्म में कुमार अविच्छित की प्राप्ति होती है या नहीं।"

लाचार हो पिता को बेटी की बात माननी पड़ी। वैशालिनी पिता के प्रासाद को छोड़कर वन में चली गई और उसने कठोर तपोमय जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया।

कुमार अविक्षित अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र था और उसके विवाह से इन्कार करने के कारण वंश के लोप होने की नौबत आपहुँची। एक दिन वीरा ने अपने पुत्र को बुलाकर कहा "बेटा, मैं किमिच्छक व्रत करना चाहती हूँ। इस व्रत के पालन में मुझे तेरी और तेरे पिता की सहायता की भी जरूरत है। तेरे पिता ने तो सहायता करने की हाँ भर ली है, यदि तू भी मंजूर करले तो मैं व्रत का आरम्भ कर दूँ।"

अविक्षित ने कहा —"माँ, मैं भी जरूर तुम्हारी सेवा करूँगा। बताओ मुझे क्या करना चाहिए ?"

वीरा ने कहा—"बेटा, जब मैं व्रत की दीक्षा ले लूँगी तब तुझे सबसे पूछना पड़ेगा कि 'बताइए, आप क्या चाहते हैं ?' और माँगनेवाला जिस चीज़ को माँगे, उसे वह देनी पड़ेगी, फिर वह कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो और तुम्हें उसके लिए चाहे कितना ही कष्ट हो। बताओ, तुम यह कर सकोगे ? जैसा बने साफ़-साफ़ कह दो। तुम्हें मंजूर हो तो मैं व्रत का आरम्भ करदूँ।"

कुमार ने कहा —"हाँ माताजी, मैं आपके वचनों का पालन करूँगा। आप अवश्य अपना व्रत आरम्भ कर दें।"

वीरा ने व्रत की दीक्षा ली। अविक्षित प्रासाद के द्वार पर जा खड़ा हुआ और ऊँची आवाज से घोषणा करके बोला—"मेरी माता ने किमिच्छक व्रत की दीक्षा ली है। जिसे जिस चीज़ की जरूरत हो माँग ले। चाहे वह चीज कितनी ही दुस्साध्य हो, मैं उसे लाकर दूँगा। इसी समय करन्धम ने स्वयं आकर कहा—"लो मैं माँगने के लिए आया हूँ। मेरी इच्छा पूरी करो। एक पौत्र का दान मुझे दो।"

अविक्षित ने कहा—'पिताजी, आपने कैसी असम्भव वस्तु माँगी है। मैंने तो यह संकल्प कर लिया है कि मैं विवाह नहीं करूँगा। ब्रह्मचारी ही रहूँगा।

करन्धम ने कहा—"तब क्या अपनी प्रतिज्ञा का भंग करेगा और अपनी माता के व्रत का भी भंग करेगा? अपनी माता को दिये हुए वचन को यदि निबाहना स्वीकार हो तो विवाह कर और मुझे एक पौत्र का मुँह दिखा।"

अविक्षित तो स्तब्ध होगया। कुछ समय बाद बोला—"पिताजी, अब यह सारा मामला मेरी समझ में आगया। मेरा विवाह करने के लिए ही माँ ने यह सब खेल रचा है। पर अब क्या हो सकता है। मैं तो लाचार हूँ। वचन से बँध गया हूँ। माता को वचन दे चुका हूँ, इसलिए उसके व्रत को निष्फल तो न होने दूँगा। आपकी इच्छा पूर्ण होगी। मैं विवाह करूँगा। पर मेरी एक प्रार्थना है।"

"क्या प्रार्थना है अविक्षित?"

"यही कि राजकुमारी वैशालिनी का मैंने बड़ी निष्ठुरतापूर्वक त्याग किया है। यदि विवाह करूँगा तो उसीके साथ। आप विदिशा के नरेश को यह सूचना भेज दें कि यदि वैशालिनी ने किसीसे विवाह न किया हो और यदि अब भी वह मुझे वरना चाहती हो तो मैं तैयार हूँ।"

करन्धम ने कहा—"कुमार, यह व्यवस्था तो मैं कर देता हूँ। मैं भी यही चाहता हूँ कि यदि वैशालिनी अभीतक अविवाहित हो तो उसीके साथ विवाह किया जाय।"

यह कह करन्धम ने विदिशा को एक दूत भेज दिया।

इधर एक दिन अविक्षित मृगया करने के लिए बहुत दूर जंगल में चला गया। एकाएक वहाँ उस घने जंगल में उसे एक स्त्री के रोने की आवाज सुनाई दी। वह जोर-जोर से पुकार रही थी, "कोई है? कोई है मुझे बचाने वाला? कोई दौड़ो, इस अबला को बचाओ।"

अविक्षित ने समझा कि कोई अबला मुसीबत में फँस गई है। उसने उत्तर में ऊँची आवाज से गरजकर कहा—"मत डरो, यह आ रहा हूँ।" और उसी दिशा में तीर की तरह लपका जिधर से आवाज आरही थी।

थोड़ी देर में फिर उसी स्त्री की आवाज सुनाई दी "अरे! मुझे बचाओ। महावीर अविक्षित की मैं धर्म-पत्नी हूँ। राक्षस मेरा हरण कर ले जा रहा है। कोई मुझे बचा सकता है? अविक्षित! कहाँ हो प्राणेश्वर, आओ दौड़ो। अपनी इस दासी की रक्षा करो"

"यह कौन है? अविक्षित की स्त्री! मैं तो ब्रह्मचारी हूँ। फिर स्त्री कैसे? यह राक्षसों की केवल माया तो नहीं? कुछ भी हो। एक अबला हृदय-विदारक शब्दों में सहायता के लिए पुकार रही है। इस समय तो मेरा यही कर्त्तव्य है कि उसे इस विपत्ति से बचालूँ।' बिजली की गति से अविक्षित दौड़ा-दौड़ा वहाँ जा पहुँचा। देखा तो एक भयंकर राक्षस एक अबला को जबर्दस्ती पकड़ कर ले जा रहा है। अबला अत्यन्त भयभीत हो रही है, उसके बाल बिखरे हुए हैं, शरीर पर का मलिन वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गया है, और वह रोती-चिल्लाती उसके पीछे-पीछे घिसटती हुई जा रही है। उसे देखते ही अविक्षित ने राक्षस को ललकार कर

ठहराया और खड्ग लेकर उसके रथ पर धावा बोल दिया। बस, दोनों के बीच भयंकर युद्ध ठन गया। युद्ध बड़ी देर तक होता रहा। अन्त में राक्षस अविक्षित के खड्ग से घायल होकर जमीन पर गिर पड़ा।

कुमार के विजयी होते ही नारी ने चरणों में प्रणाम करके कहा—"कुमार अविक्षित! मैं तुम्हारी स्त्री हूँ। केवल तपस्या के बल पर ही आज मैंने तुम्हें पाया है। अब मुझे न छोड़िए।"

चकित होकर अविक्षित दूर हट गया और बोला—"देवी, तुम अपने आपको मेरी धर्मपत्नी तो बताती हो, पर तुम हो कौन? मैं तो तुम्हें नहीं जानता। मैंने तो यह सकल्प कर लिया था कि कभी विवाह नहीं करूँगा, परन्तु माता के किमिच्छक-व्रत में सत्य-द्वारा बँध जाने के कारण इस संकल्प को मैंने छोड़ दिया है। अब तो मुझे विवाह करना ही पड़ेगा। परन्तु मैंने अपनी बेवकूफी के कारण अपनेपर अत्यन्त प्रेम करनेवाली एक राज-कन्या का त्याग कर दिया है। उसके सिवा अन्य किसी भी कन्या को मैं स्वीकार नहीं कर सकता।"

"कुमार, वह भाग्यशालिनी कन्या कौन थी?"

"विदिशापति विशालराज की दुहिता वैशालिनी।"

स्त्री का मुख-कमल एकाएक खिल गया। किन्तु साथ ही लज्जा से उसका मस्तक झुक भी गया। मन्द स्वर में वह बोली—"यह दासी ही वह भाग्यशालिनी वैशालिनी है।"

एकाएक कुमार की स्मृति भी जाग उठी। वह बोला—"वैशालिनी! हाँ, तुम्हीं वह राजकुमारी हो। मुझे स्वप्न में भी खयाल नहीं था कि इस दुर्गम वन में इस तरह तुम्हारा मिलन

होगा। वैशालिनी, तुम इस भीषण वन में अकेली कैसे आई ? यह कठोर तपस्या क्यों ?"

वैशालिनी की आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। गद्गद कण्ठ से उसने कहा "राजकुमार, सिर्फ तुम्हारे ही लिए मैं अपने हृदय से तुम्हें वर चुकी थी। पर तुम तो मेरा त्याग करके चले गये थे। तब मैंने समझ लिया कि अब संसार में मेरा कोई नहीं है। और कोई मार्ग न रह जाने के कारण पिताजी की आज्ञा प्राप्त करके मैं इस वन में चली आई। मैंने निश्चय कर लिया कि कठोर तपस्या करके इस जीवन को समाप्त कर दूँगी और अगले जन्म में तुम्हें पति-रूप में प्राप्त करके रहूँगी।"

"पर, परमात्मा तो दयालु है न ? तुमने तो मुझे इसी जन्म में प्राप्त कर लिया। तुम्हारी तपस्या सफल होगई। उस दिन तुमसे विवाह करने के लिए मुझे इसलिए संकोच हो रहा था कि मैं तुम्हारे सामने शत्रुओं-द्वारा पराजित होगया था। पर आज तुम्हारे सामने इस भयंकर शत्रु का संहार कर देने के कारण मेरा वह संकोच जाता रहा। अब मैं तुम्हें स्वीकार कर सकूँगा। चलो, हम राजधानी को लौट चलें।"

यह कह अविक्षित ने उसीवन में गान्धर्व-विधि से उसके साथ विवाह कर लिया और उसे लेकर घर गया।

करन्धम और वीरा ने बड़े हर्षपूर्वक बेटे और बहू का स्वागत किया। यथाकाल वैशालिनी के पुत्र भी हुआ। उसका नाम मरुत रक्खा गया और ससागरा पृथ्वी का अधीश्वर होकर, असंख्य याग-यज्ञ और दान-धर्म करके, वह नृप-शार्दूल राजर्षि मरुत नाम से विभूषित हुआ।

५

कार्त्तवीर्यार्जुन की पत्नी

मनोरमा

मनोरमा चन्द्रवंश के महाराज कार्त्तवीर्यार्जुन की साध्वी पत्नी थी। यह बड़ी विदुषी, पति सेवापरायण, परम बुद्धिमती और अपूर्व सुन्दरी थी। महाराजा कार्त्तवीर्य ने सातों द्वीपों और समुद्रों-सहित (सप्तद्वीपा ससागरा) पृथ्वी को जीत लिया था। उसके समान धार्मिक राजा बहुत कम हुए हैं। पर जब वह परशुराम के साथ युद्ध करने को तैयार हुआ, तो ख़बर मिलते ही उसकी पत्नी मनोरमा उसके पास पहुँची और इस सम्बन्ध में बात करने लगी। राजा ने कहा—"प्रिये! राज-धर्म का पालन करने-वाले जमदग्नि मुनि को मैंने युद्ध में मार डाला है, इससे अब उनका पुत्र परशुराम अपने भाई-बन्धुओं को लेकर नर्मदा के किनारे आ पहुँचा है, और उसने मुझे युद्ध के लिए आमन्त्रित किया है। महादेवजी से वरदान-द्वारा उसने ऐसे हथियार प्राप्त कर लिये हैं जो कभी ख़ाली नहीं जाते, और उनके बल पर उसने इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रियों से ख़ाली कर देने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए परशुराम की याद करके तो मेरे चित्त में भी क्षोभ होता है, और तमाम दिन मेरा बायाँ अङ्ग भी फड़कता रहता है। फिर पिछली रात मैंने अशुभ फलवाले भयानक स्वप्न भी देखे हैं। स्वप्नों ने तमाम रात मुझे ऐसी-ऐसी बातों में हैरान किया है कि जिनका

रात को सोते वक्त मुझे नाम को भी खयाल न था। मुझे तो पित्त या कफ का विकार भी न था, जो इन स्वप्नों को मैं उसका परिणाम ही समझूँ। ऐसे बुरे स्वप्न देखने के बाद तुरन्त ही परशुराम के साथ युद्ध करने का अवसर आया है। अतः तुम्हीं बताओ, अब मैं क्या करूँ?"

स्वामी की बात सुनकर गद्गद् स्वर से उसने कहा—"प्राणनाथ! आप मुझे अपने प्राणों से भी प्यारे हैं, इसलिए मेरी सलाह सुनो। भगवान जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने नारायण के अंश-रूप होकर जन्म धारण किया है; यही नहीं, वह बड़े बलवान और जगत् का संहार करनेवाले जगदीश्वर शंकर के शिष्य हैं। पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से खाली कर देने का उन्होंने संकल्प किया है। इसलिए मेरी तो यही सलाह है कि आप उनके साथ युद्ध करने का विचार छोड़ ही दें। पापी रावण को हरा देने से आप अपनेको बलवान् समझते हैं; पर रावण को आपने कोई अपने बल से नहीं हराया, वह तो अपने पाप की वजह से ही हारा है। क्योंकि जो मनुष्य धर्म की रक्षा नहीं करता, उसकी इस संसार में कोई रक्षा नहीं करता। ऐसे अधर्मी तो अपनेआप ही नष्ट हो जाते हैं, और जीते भी हैं तो मुर्दे के समान ही। अन्तर्यामी परमात्मा रात-दिन लोगों के शुभ-अशुभ कर्मों को देखता रहता है, यद्यपि लोग इस बात को नहीं जानते। महाराज! पुत्र, भार्या आदि रिश्तेदार और सुख-वैभव सब पानी के बुद्बुदों की भाँति क्षण-भंगुर हैं; इनका नाश अवश्यम्भावी है। समझदार आदमी इस संसार को स्वप्न में देखे हुए पदार्थ की भाँति मिथ्या मानकर सदा धर्म का विचार और भक्तिपूर्वक तपस्या करने में ही अपना

समय बिताते हैं। भगवान दत्तात्रेय मुनि का ज्ञानोपदेश क्या आप भूल गये? यदि आपको वह याद है, तो ब्राह्मण की हत्या करने का विचार आपके मन में कैसे उठा? आप सुख भोगने की इच्छा से मृगया करते हुए भूखे-प्यासे जमदग्नि मुनि के आश्रम में पहुँचे और उन्होंने तरह-तरह के मिष्टान्न खिलाकर आपका स्वागत-सत्कार किया; पर आपने क्या बदला दिया? बदले में आप उन आश्रयदाता मुनीश्वर को ही मार आये! गुरुजन, ब्राह्मण और देवताओं का अनिष्ट करनेवाले पर तो इष्टदेव भी अप्रसन्न होजाते हैं, और कुछ ही समय में उनपर मुसीबत आ जाती है।

"दत्तात्रेय मुनि के चरणारविन्द का स्मरण करो। गुरुभक्ति से लोगों की सारी विपत्तियाँ टल जाती हैं। अतः गुरुदेव की भक्ति करके उन भृगुकुलतिलक परशुराम की शरण जाओ। विप्र और देवता प्रसन्न हो जायँ, तो क्षत्रिय को कभी कोई विघ्न नहीं होता। क्षत्रिय तो ब्राह्मणों के दास ही ठहरे। यह ठीक है कि यदि क्षत्रिय किसी दूसरे क्षत्रिय की शरण जाय तो उसकी बदनामी होती और उसके क्षात्रियपन को कलंक लगता है; पर यदि वह गुरुजन, देवता या ब्राह्मण की शरण जाय, तो इससे उसकी कीर्ति बढ़ती ही है। महाराज! ब्राह्मण तो देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं। उनका भजन कीजिए। उनके प्रसन्न होने से देवता भी सन्तुष्ट होंगे। इसलिए आप जमदग्नि के पुत्र परशुराम की शरण जाइए।"

इस प्रकार उपदेश देते-देते पतिव्रता मनोरमा उनके मुख-कमल को देखती हुई बारम्बार रोने और विलाप करने लगी। कुछ देर तक तो यही दशा रही। इसके बाद फिर पति से कहने लगी, कि "महाराज! जरा ठहरें। मैं आपको थोड़ी मनचाही चीजें खिला

लूँ। आपके इस सुन्दर शरीर पर सुगन्धित चन्दन, कस्तूरी और अबीर का लेप करदूँ। थोड़ी देर के लिए सिंहासन पर तो बैठें, मैं ज़रा जी भरकर आपको देख तो लूँ। महाराज! यह तो आप जानते ही हैं कि पतिव्रता स्त्री का अपने पति पर पुत्र से भी अधिक स्नेह होता है। स्वयं नारायण भगवान भी वेदशास्त्र में यही लिख गये हैं।"

मनोरमा की यह बात सुनकर पण्डितप्रवर महाराज कार्त्तवीर्यार्जुन उसे समझाने लगे। उन्होंने कहा—"प्रिये!! मैं जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर एकाग्र-चित्त से सुनो। मैंने तुम्हारी सारी बातें सुन ली हैं। पर शोकार्त्त आदमी की बात सभा में मान्य नहीं हुआ करती। सुन्दरी! सुख-दुःख, भय-शोक, लड़ाई-झगड़ा, ये सब मनुष्यों के शुभ--अशुभ कर्मों के अनुसार ही होते हैं। यह सब काल की ही महिमा है। काल लोगों को कभी राज्य दिलाता है, और कभी मृत्यु। काल की गति के कारण ही लोग इस संसार में जन्म लेते हैं। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर जगत् का अदृष्ट दाता है, और लोगों की तपस्या आदि का फल वही देता है। उसकी आज्ञा के बिना कोई किसीका विनाश नहीं कर सकता। जिन नारायण भगवान की आज्ञा से यह संसार बना है, उन्हींकी आज्ञा से संसार के सारे पदार्थ भी उत्पन्न हुए हैं और उन्हींकी आज्ञा से यह लय भी पाता है। मनुष्य की इच्छा से कुछ नहीं होता। इसलिए निवृत्त बनो। यह मत समझो कि मैं जान-बूझकर परशुराम-रूपी अग्नि में पड़ रहा हूँ। प्रिये! इस बात को मैं जानता हूँ कि परशुराम नारायण की कृपा से उत्पन्न हुए हैं, और यह भी मैं भलीभांति जानता हूँ कि परशुराम इक्कीस बार

इस पृथ्वी को क्षत्रियों से खाली करेंगे, और कोई उन्हें इसमें रोक न सकेगा। हे सुभ्रू! परशुराम की प्रतिज्ञा कदापि निष्फल जानेवाली नहीं, और मैं उनके द्वारा जरूर पराजित होऊँगा। इन सब बातों को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। अतः तू शान्त हो जा। सारे भविष्य को जानते हुए, मैं भला व्यर्थ में परशुराम की शरण क्यों जाऊँ ? इज्जतदार आदमी के लिए तो बदनामी की अपेक्षा मृत्यु श्रेयस्कर है। इसलिए ऐसा तो हर्गिज नहीं हो सकता।"

इस प्रकार मनोरमा को समझा-बुझाकर राजा कार्त्तवीर्य रणक्षेत्र में जाने को तैयार हुआ, और बाजेवाले को रण-वाद्य बजाने का हुकम दिया। तदनुसार सब लोग लड़ाई की तैयारियों में लग गये। एक करोड़ राजा, तीन लाख खास-खास सामन्त, एक लाख अक्षौहिणी महापराक्रमी सेना और असंख्य रथ लेकर राजा लड़ाई को चल दिया। राजा को तीर-कमान लेकर तथा जिरह-बख्तर से सज्जित हो युद्ध में जाने को तैयार हुए देखकर सती मनोरमा स्तम्भित होकर खड़ी होगई।

स्वामी के मुँह से जो-कुछ सुना था, उससे मनोरमा के मन में बड़ी भारी चिन्ता पैदा हो गई थी। अमङ्गल के चिन्ह उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगे। तब उसने अपने पुत्रों, सम्बन्धियों और दास-दासियों को अपने पास बुलवाया और श्रीहरि के चरण-कमलों का ध्यान धरकर तथा संसार को असार गिनकर योग-क्रिया से शरीर के छः चक्रों को बेधकर मस्तक के ऊपरी भाग में प्राण-वायु को स्थापित किया। फिर बुद्बुदों की तरह विषयों से आसक्ति को एकदम खींच लिया और अपने चंचल चित्त को

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल में स्थापित करके, परब्रह्म को ज्ञान रज्जु से बांधकर, त्रिविध कर्मों का पूर्णतया त्याग कर दिया। इस प्रकार अपना प्राण-त्याग करके वह स्वामी से पहले ही परमधाम को जा पहुँची। परन्तु इस अवस्था में भी इस पतिव्रता की दृष्टि स्वामी की ही ओर थी और उसके दोनों हाथ प्राणोंसे प्यारे पति के कण्ठ का आलिंगन कर रहे थे।

३

पति को सुधारनेवाली

भोगवती

यह पूर्वदेश के राजा विजयराज की कन्या थी। यह बहुत सुन्दर और सद्‌गुणी थी। इसने वेद, पुराण, न्याय आदि शास्त्रों का बहुत अच्छा अध्ययन किया था। यह परोपकार, नीति, आचार-विचार और स्त्री-धर्म में बहुत ही निपुण थी। राजा शूरसेन के पुत्र नागराज के साथ इसका विवाह हुआ था। नागराज बहुत ही कुरूप और भयंकर था। साथ ही अवस्था में भी भोगवती से कुछ छोटा था। विजयराज ने नागराज को बिना देखे ही लोगों की बातों पर विश्वास करके अपनी अच्छी-भली कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया था।

जब भोगवती ससुराल पहुँची, तब उसके सास और ससुर को इस बात का साहस न हुआ कि वे ऐसी सुन्दरी बहू का अपने कुरूप पुत्र नागराज के साथ मिलाप करावें। उन लोगों ने यह प्रसिद्ध कर दिया कि नागराज कहीं बाहर गया हुआ है और इस प्रकार उन्होंने वर और वधू में मिलाप न होने दिया। भोगवती संतोष करके ससुराल में रहने लगी। वह दिन-रात पतिव्रतधर्म का पालन करके अपने सास-ससुर की सेवा में ही अपना सारा समय बिताने लगी। जब इस प्रकार बहुत दिन बीत गये और उसे अपने पति नागराज के दर्शन न हुए, तब उसके मन में इस

बात की शंका उत्पन्न हुई कि कहीं इसमें कोई भेद तो नहीं है ? वह धीरे-धीरे गुप्तरूप से इस बात की जाँच करने लगी। अन्त में उसे असली बात मालूम होगई । उसने एक दिन अपने पति से कहला भेजा कि मैं आपके दर्शन करना चाहती हूँ।

पहले तो नागराज ने भी कुछ दिनों तक आनाकानी की। पर जब भोगवती ने कोई और उपाय न देखा, तब एक दिन वह अपनी दासी को साथ लेकर रात के समय नागराज के शयनागार में जा पहुँची। अपनी पत्नी को आते देखकर नागराज पहले तो बहुत घबराया; परन्तु भोगवती ने उसके पैर पकड़कर कहा - "प्राणनाथ ! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? मुझ दासी से ऐसा कौन-सा अपराध हुआ है, जिसके कारण आपने मेरा परित्याग किया है ?"

नागराज ने इस बात का कोई उत्तर न दिया । उस रात को भोगवती वहाँसे अपने शयनागार में लौट आई और तबसे वह नित्य रात्रि के समय अपने पति के शयनागार जाती और कुछ देर तक नागराज के पैर दबाकर फिर लौट आती । नागराज उसका अनादर करता, उसे कठोर वचन कहता, और कभी-कभी धमकाता भी था; परन्तु वह किसी प्रकार न मानती, और नित्य रात के समय जाकर उसके पैर दबाती और फिर अपने शयनागार में लौट आती । इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये । अन्त में नागराज ठिकाने आगया और पति तथा पत्नी का मन एक हो गया । अब तो होते-होते इन दोनों में इतना अधिक प्रेम होगया कि दोनों में से किसीको एक-दूसरे के बिना क्षणभर भी चैन न पड़ता ।

एक दिन हँसी में नागराज ने भोगवती से पूछा—"प्रिये! तू मेरा ऐसा विकट और भद्दा रूप देखकर कभी मुझसे डरती नहीं है?"

भोगवती ने उत्तर दिया—"प्राणनाथ! स्त्री के लिए तो पति ही परमेश्वर है। तो फिर भला उसे उससे भय क्यों होने लगा? पति चाहे जैसा हो, पर उसकी सेवा करना ही स्त्री का धर्म है।"

कुछ दिनों बाद नागराज की इच्छा गोदावरी में स्नान करने की हुई। इस यात्रा में भोगवती भी उसके साथ गई। दोनों ने बहुत ही प्रसन्न होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गोदावरी में स्नान करके गरीबों को बहुत-सा धन दान दिया। कुछ तो जल-वायु बदलने के कारण और कुछ गोदावरी में स्नान करने से नागराज का स्वरूप बिलकुल ही बदल गया। उसकी कुरूपता एकदम जाती रही और उसका रूप देखने में इतना सुन्दर होगया कि जिन लोगों ने पहले उसे देखा था वे अब उसे पहचान भी नहीं सकते थे।

यात्रा समाप्त करके भोगवती के साथ नागराज अपने देश को लौट आया। उस समय नागराज के छोटे भाइयों की नीयत बिगड़ी। वे लोग आपस में ही राज्य बाँट लेना चाहते थे और नागराज को कुछ भी न देना चाहते थे, इसलिए उन लोगों ने नागराज को नगर में घुसने ही न दिया। तब नागराज अपने भाइयों के साथ लड़ने को तैयार हुआ। परन्तु भोगवती ने उसे ऐसा करने से रोका और समझाया, "प्राणनाथ! मेरी अल्पबुद्धि में तो यह आता है कि भाइयों के साथ युद्ध करना ठीक नहीं है। भाइयों से ही बल होता है और समय पड़ने पर भाई ही काम आते हैं। भाइयों से बिगाड़ करने का फल अच्छा

नहीं होता। देखो, रावण ने अपने भाई बिभीषण के साथ बिगा किया था, जिसका फल यह हुआ कि सब राक्षस मारे गये औ लङ्का नष्ट-भ्रष्ट हो गई। बाली ने भी अपने भाई सुग्रीव के सा बिगाड़ किया था, जिसका फल यह हुआ कि बाली मारा गया इसलिए भाइयों के साथ मेल रखना ही ठीक है। जब आप अके होंगे तब जो चाहेगा वह आपका संहार कर सकेगा। परन्तु ज अपने भाइयों के साथ आपका मेल होगा तब वे आपत्ति व समय आपका ही साथ देंगे और तब आपका कोई नाश नहीं कर सकेगा।"

इस प्रकार भोगवती ने अनेक प्रकार के उदाहरण आदि देकर नागराज को बहुत कुछ समझाया-बुझाया। भोगवती व परामर्श से नागराज और उसके छोटे भाइयों ने तीन दिन त बामन-चरित्र, ध्रुव-चरित्र और भरत-चरित्र आदि की कथाएं पढ़ीं, जिससे उन सबके विचार बदल गये। सब भाइयों की द्वेष-बुद्धि दूर होगई और उनमें मेल होगया। सब लोगों ने लड़ने भिड़ने का विचार छोड़ दिया और छोटे भाइयों ने बड़ी प्रसन्नता से सारा राज्य अपने बड़े भाई नागराज को सौंप दिया इस प्रकार इस बिदुषी भोगवती ने अपने क्रूर और अज्ञान पति को सरल और बिद्वान बना दिया और उसके साथ बहुत सुख तथा आनन्दपूर्वक अपना सारा जीवन बिताया।

७

कौशिक-पत्नी

पतिव्रता

कौशिक तो पापाचारी था, पर उसकी पत्नी पतिव्रता बड़ी साध्वी थी। उसके सतीत्व बल से मृत-पति भी जीवित होगया था।

कौशिक ब्राह्मण था और प्रतिष्ठान नगर में रहता था। वह कौशिक-वंश में पैदा हुआ था, इसलिए कौशिक कहलाता था। ब्राह्मण को पूर्व-जन्म के पापों के फलस्वरूप कोढ़ का रोग होगया था। पर ऐसा रोगी होने पर भी उसकी पत्नी पतिव्रता स्वामी के पैरों में तेल की मालिश करती, उसके हाथ-पाँव दाबती, उसे स्नान कराती, कपड़े पहनाती, उसका पाखाना-पेशाब भी उठाती, और उसके पास बैठकर उपदेश की मीठी-मीठी बातें करती हुई आनन्द में उसका समय बिताती थी। यह तो इस प्रकार देवता की तरह पति की पूजा करती, पर पति सदा इसका तिरस्कार ही करता रहता। इतने पर भी पतिव्रता अपने मन में कुछ भी बुरा न मानती। पति में चलने-फिरने की ताक़त नहीं थी, पर उसकी पाप-वृत्ति बड़ी प्रबल थी। एक दिन उसने अपनी पत्नी से कहा—"मैंने एक बड़ी सुन्दर वेश्या देखी है, जो राज-मार्ग के पास एक घर में रहती है। तू मुझे उस मनमोहिनी वेश्या के घर ले चल। इस समय वह वेश्या ही मेरे हृदय में रम रही है, इसलिए मुझे जल्दी

वहाँ पहुँचा। जबसे मैंने उसे देखा है, तबसे अबतक मेरा जी उसीमें अटक रहा है। वह सुन्दरी मुझे आलिंगन नहीं करेगी, तो निश्चय ही मैं अपने प्राण त्याग दूँगा। अनेक सुन्दर मनुष्य उसे पाने के लिए उत्सुक हैं, ऐसी दशा में वह मुझ जैसे रोगी को पूछेगी भी या नहीं यह मैं नहीं जानता। फिर मुझमें चलने-फिरने की भी तो ताकत नहीं है, इससे मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है।" कामातुर पति की ऐसी बातें सुनकर पतिव्रता उसकी इच्छा पूरी करने को तैयार होगई। भीख माँगकर उसने धन इकट्ठा किया और पति को कन्धे पर बिठाकर धीरे धीरे वेश्या के घर ले जाने लगी।

रात का समय था और आकाश में बादल छा रहे थे। अँधेरे में कुछ न दीखता था। इससे रास्ते में बैठे हुए मांडव्य ऋषि के, शूल में, उसके पति का पाँव लग गया। पाँव का लगना था कि ऋषि गुस्से से आग-बबूला होगये और शाप दिया कि जिसने मेरे ठोकर मारी है वह सूरज निकलने पर असह्य वेदना भुगतकर मर जायगा।

ऋषि का ऐसा कठोर शाप सुनकर पतिव्रता बड़ी निराश हुई। अन्त में उसने यह सकल्प किया कि 'अब सूर्य उदय ही न होगा।" तब इस शोकातुर ब्राह्मण-पत्नी की इच्छानुसार सूर्य निकला ही नहीं।

इसी प्रकार जब बहुत दिन हो गये, तो देवता भी डरने लगे। उन्होंने सोचा कि सूर्य के बिना पृथ्वी की रक्षा ही नहीं हो सकती, अतः जैसे भी हो सृष्टि को तो बचाना ही चाहिए। ब्रह्मा ने कहा—"तेज से तेज का और तप के द्वारा तप का नाश होता है। सती पतिव्रता के महात्म्य से ही तो सूर्य नहीं निकलता। और

सूर्य के न निकलने से तुम्हारा सबका बड़ा नुकसान हो रहा है। इसलिए जो तुम सूर्य के दर्शनों की इच्छा रखते हो, तो एकमात्र पतिव्रता अत्रिमुनि की पत्नी अनुसूया को तृप्त करो।" तब देवताओं ने आकर अनुसूया से अपना दुःख कहा। उन्होंने कहा—"पतिव्रता स्त्री का वचन मिथ्या नहीं होता। पर तुम सब कष्ट उठाकर यहाँ आये हो, तो मैं ऐसा प्रयत्न करूँगी कि जिससे सूर्य भी उदय हो और उस साध्वी पत्नी का पति भी जिन्दा रहे।" इसके बाद अनुसूया कौशिक-पत्नी के घर गईं। वहाँ अनेक प्रकार से पतिव्रता को समझाकर उन्होंने कहा—"हे कल्याणी! तू तो पति का मुख देखकर प्रसन्न होती है और पति को सब देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठ मानती है। मैंने भी तेरी ही तरह पति की सेवा-टहल करके सब तरह के फल पाये हैं और इन सिद्धियों के कारण मेरे तमाम संकट दूर हो गये हैं। अतः स्त्रियों के लिए जो बड़े से-बड़ा कर्त्तव्य है वही तू कर रही है। स्त्रियों के लिए यज्ञ या उपवास की कोई जरूरत नहीं, एकमात्र स्वामी की सेवा ही उनका तो परम-धर्म है; स्वामी ही उनकी परम-गति है। पुरुष देवता, अतिथि और पुरुषों की जो सेवा करते हैं, उन सेवाओं में पत्नी एकमात्र पति की सेवा की वजह से आधे भाग की हिस्सेदार—अर्धाङ्गिनी—कहलाती है।" इस प्रकार प्रोत्साहन मिलने से पतिव्रता कौशिक पत्नी बड़ी खुश हुई और सती अनुसूया से पूछने लगी कि पति के कल्याण के लिए अब मुझे क्या करना चाहिए? अनुसूया ने कहा—"हे साध्वी! तेरी इच्छा से दिन-रात एक-से हो गये हैं, जिससे लोगों के काम-काज रुक गये हैं। इससे संसार के नष्ट होजाने का समय आगया है। इसलिए

देवताओं ने मुझे तेरे पास प्रार्थना करने के लिए भेजा है। हे तपस्विनी! सबपर दया करके तू सूर्य को उदय होने की आज्ञा दे दे।" पतिव्रता ने कहा—"माण्डव ऋषि ने बड़े गुस्से में आकर मेरे पति को शाप दिया है कि सूर्योदय होते ही तू मर जायगा।" अनुसूया ने कहा—"तू चाहेगी तो मैं तेरे पति को फिर से जिन्दा कर दूँगी और उसे नया कलेवर प्राप्त हो जायगा। मेरे लिए तो पतिव्रता स्त्री सदैव आराधना-योग्य है; इसलिए मैं तो सदा तेरा आदर करूँगी।" इसपर पतिव्रता ने 'तथास्तु' कहा और उसके कहने के साथ ही सूर्य उदय होगया।

सूर्य के निकलने पर जगत् को तो नवचैतन्य प्राप्त हुआ, पर कौशिक का प्राणान्त होगया। ब्राह्मण के मरने पर उसकी पत्नी शोक-विह्वल हो छाती कूट-कूटकर रोने लगी। तब अनुसूया ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—"पतिव्रता! तू मत घबरा। व्याकुल मत हो। पतिव्रता स्त्री कभी विधवा नहीं होसकती। पति की सेवा से मैंने जो तपोबल पाया है, वह तुझे अभी मालूम पड़ेगा। हे भगवन! अगर कभी भी किसी पर-पुरुष पर मुझे मोह न हुआ हो, तो उस पुण्यबल से आज इस साध्वी ब्राह्मणी का पति रोग-मुक्त होकर फिर से जिन्दा होजाय और अपनी साध्वी पत्नी के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहे। अपने स्वामी को मैंने देवता से भी अधिक पूज्य माना हो, तो उस पुण्यबल से यह ब्राह्मण नीरोग हो जाय। शरीर और वाणी से मैं सदा अपने पति की आराधना में ही तत्पर रही होऊँ, तो उस पुण्य-बल से यह ब्राह्मण जी उठे।"

अनुसूया का ऐसा कहना था कि वह ब्राह्मण व्याधि मुक्त हो-

कर जी उठा और फिर से जवान बन गया। तब आकाश से फूलों की वर्षा हुई और देवताओं ने दुन्दुभी बजाई। इसके बाद अनुसूया तो चली गई, और पतिव्रता अपने तरुण स्वामी की सेवा तथा उसके साथ सुखपूर्वक धर्म-पालन में प्रवृत्त होगई ।

८

'अछूत' पतिव्रता

आहुकी

प्राचीन समय में आबू पर्वत पर आहुक नाम का एक पारधी रहता था। पशु-पक्षियों का शिकार करके वह अपना निर्वाह करता था। पर था वह बड़ा धार्मिक और परम शिव-भक्त। शिवजी की पूजा किये बिना वह पानी तक न पीता था। उसकी पत्नी का नाम आहुकी था। पति-पत्नी दोनों पर्वत के ऊपर एकान्त झोंपड़ी में आनन्द के साथ रहते थे।

एक दिन पारधी पूजा करने के लिए बाहर गया हुआ था, इतने में एक साधु आकर झोंपड़ी के आगे खड़ा होगया। उस समय शाम होगई थी। साधु ने देखा कि इस निर्जन वन की एकान्त झोंपड़ी में आहुकी के सिवा दूसरा कोई नहीं है; इसलिए सकुचाकर वह वहाँसे जाने लगा। तब आहुकी ने कहा "आप इतना संकोच क्यों करते हैं? आप मेरे पिता हैं, और मैं आपकी कन्या। इस समय यदि आप यहाँसे चले जायँगे, तो सम्भव है कि जंगली पशु आपको खा जायँ। क्योंकि इस पहाड़ पर शेर, चीते, रीछ आदि अनेक हिंसक पशु रहते हैं। अतः इस समय आप यहीं विश्राम कीजिए।"

आहुकी की बात से साधु को बड़ा आश्वासन मिला; और उसने आगे जाने का विचार छोड़कर रात वहीं काटने का निश्चय कर लिया।

थोड़ी देर बाद, रात हो जाने पर, पारधी पूजा करके लौट आया। पत्नी से साधु के आने की खबर पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। पर घर छोटा था, इसलिए उसे चिन्ता हुई कि तीन आदमी इसमें कैसे समावेंगे ? तब उसने साधु से कहा, "महाराज ! इस झोंपड़ी में तीन आदमी तो समा नहीं सकते।" यह सुनकर साधु उठकर चलने लगा। यह देख आहुकी बोल उठी—"ऐसा नहीं हो सकता। आप चले जायँगे, तो हमें पाप लगेगा। अतः आप दोनों झोंपड़ी में सोइए, मैं हथियार लेकर बाहर पहरा दूँगी; भला किस जानवर की ताक़त है कि मेरे पास आवे !" तब आहुक बोला—"भला कहीं ऐसा हो सकता है ? हाँ, यह हो सकता है कि तुम दोनों झोंपड़ी में सोओ, और मैं हथियार लेकर बाहर बैठूँ। औरतों को ऐसे जंगल में बाहर बिठाकर खुद अन्दर सोना, यह बात पति को शोभा नहीं देती।" अन्त में यही तय हुआ कि आहुकी और साधु तो झोंपड़ी में सोवें और आहुक बाहर पहरा दे।

परन्तु भगवान् की इच्छा कुछ और ही थी। इस रात वहाँ बहुतसे शेर आपहुँचे और बेचारे आहुक को फाड़कर खा गये। वह बेचारा उनसे अपने प्राण न बचा सका। प्रातःकाल जब साधु ने यह हाल देखा, तो वह सन्न रह गया। आहुकी को भी अपार शोक हुआ। वह परम पतिव्रता थी। अछूतों में फिर से विवाह करने की छूट थी; पर सती आहुकी ने अपने धार्मिक पति के वियोग के बाद अपने शरीर को क़ायम रखना ठीक न समझा। उसने चिता बनाई और पति के साथ वह भी उसमें जल गई।

पुराणों में लिखा है कि इस प्रेमी और धार्मिक दम्पती ने ही

दूसरे जन्म में नल और दमयन्ती के रूप में जन्म लिया था। अतिथि-सत्कार, देव-पूजा, उच्च पति-भक्ति आदि की आहुकी को जो शिक्षा प्राप्त हुई थी, उससे यह स्पष्ट है कि उस समय के अछूतों को धार्मिक शिक्षा देने की प्राचीन काल में कुछ-न-कुछ व्यवस्था जरूर थी। यही नहीं, धर्म-व्याध और आहुक-जैसों के उदाहरणों से यह भी मालूम पड़ता है कि धर्म-परायण एवं सदाचारी शूद्रों तथा अछूतों के प्रति प्राचीनकालीन हिन्दू भक्ति भी रखते और प्रकट करते थे। महाभारत में कहा है:—

सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर! जात-पाँत या कुल से कुछ नहीं आता-जाता। काम तो सत्य, बल, दान तप, अहिंसा और धर्म-परायणता ही आते हैं।

सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

	पुस्तक	लेखक	
१.	दिव्य-जीवन	श्री स्वेट मार्डेन	।=)
२.	जीवन-साहित्य	,, काका कालेलकर	१।)
३.	तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	॥।)
४.	भारत में व्यसन और व्यभिचार	श्री वैजनाथ महोदय	॥।=)
५.	सामाजिक कुरीतियाँ	[ज़ब्त : अप्राप्य]	॥।)
६.	भारत के स्त्री-रत्न [तीन भाग	,, शिवप्रसाद पण्डित	३)
७.	अनोखा	,, विक्टर ह्यूगो	१।=)
८.	ब्रह्मचर्य विज्ञान	,, जगन्नारायण देव शर्मा	॥।=)
९.	यूरोप का इतिहास	,, रामकिशोर शर्मा	२)
१०.	समाज विज्ञान	,, चन्द्रराज भण्डारी	१॥)
११.	खद्दर का संपत्ति-शास्त्र	,, रिचर्ड बी० ग्रेग	॥।≡)
१२	गोरों का प्रभुत्व	,, रामचन्द्र वर्मा	॥।=)
१३.	चीन की आवाज	[अप्राप्य]	।-)
१४.	द० अ० के सत्याग्रह का इतिहास	महात्मा गांधी	१।)
१५.	विजयी बारडोली	[अप्राप्य]	२)
१६.	अनीति की राह पर	महात्मा गांधी	।=)
१७.	सीता की अग्नि परीक्षा	,, काली प्रसन्न घोस	।-)

१८. कन्या-शिक्षा ,, स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री ।)
१९. कर्मयोग ,, अश्विनीकुमार दत्त ।=)
२०. कलवार की करतूत महात्मा टाल्स्टाय =)
२१. व्यावहारिक सभ्यता श्री गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' ।।)
२२. अन्धेरे में उजाला महात्मा टाल्स्टाय ।।)
२३. स्वामी जी का बलिदान [अप्राप्य] ।-)
२४. हमारे जमाने की गुलामी [जब्त : अप्राप्य] ।)
२५. स्त्री और पुरुष महात्मा टाल्स्टाय ।।)
२६. सफाई श्री गणेशदत्त शर्मा ।=)
२७. क्या करें ? महात्मा टाल्स्टाय १।।=)
२८. हाथ की कताई-बुनाई [अप्राप्य] ।।-)
२९. आत्मोपदेश ,, एपिक्टेटस ।)
३०. यथार्थ आदर्श जीवन [अप्राप्य] ।।-)
३१. जब अंग्रेज नहीं आये थे श्री स्व० दादाभाई नौरोजी ।)
३२. गुरु गोविन्दसिंह [अप्राप्य] ।।=)
३३. श्री राम चरित्र श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य १)
३४. आश्रम-हरिणी ,, वामन मल्हार जोशी ।)
३५. हिन्दी मराठी कोष ,, पुण्डलिक २)
३६. स्वाधीनता के सिद्धान्त ,, टिरेन्स मेक्स्विनी ।।)
३७. महान् मातृत्व की ओर ,, नाथूराम शुक्ल ।।।=)
३८. शिवाजी की योग्यता ,, गो० दा० तामस्कर ।=)
३९. तरंगित हृदय ,, आचार्य देवशर्मा 'अभय' ।।)

४०. हालैंड की राज्य क्रांति [नरमेध] ,, मोटले चन्द्रभाल जौहरी १।।)
४१. दुखी दुनिया ,, च० राजगोपालाचार्य ।।)
४२. जिन्दा लाश महात्मा टाल्स्टाय ।।)
४३. आत्मकथा महात्मा गांधी १।।)
४४. जब अंग्रेजी आये [जब्त : अप्राप्य] १।=)
४५. जीवन विकास ,, सदाशिव नारायणदातार १।)१।।)
४६. किसानों का बिगुल [जब्त : अप्राप्य] =)
४७. फांसी ,, विक्टर ह्यूगो ।=)
४८. अनासक्ति योग और गीता-बोध ,, महात्मा गांधी ।=)
अनासक्ति योग अजिल्द =) सजिल्द ।) गीता-बोध –)।।
४९. स्वर्ण-विहान [जब्त : अप्राप्य] ।=)
५०. मराठों का उत्थान और पतन ,, गोपालदामोदर तामसकर २।।)
५१. भाई के पत्र ,, रामनाथ सुमन १।। ,, २)
५२. स्वगत ,, हरिभाऊ उपाध्याय ।=)
५३. युगधर्म [जब्त : अप्राय] १=)
५४. स्त्री-समस्या ,, मुकुट बिहारी वर्मा १।।।) २)
५५. विदेशी कपड़े का मुकाबिला ,, मनमोहन गांधी ।।=
५६. चित्रपट ,, शान्तिप्रसाद वर्मा ।=)
५७. राष्ट्रवाणी ,, महात्मा गांधी [अप्राप्य] ।।=)
५८. इङ्गलैण्ड में महात्मा जी ,, महादेव देसाई १)
५९. रोटी का सवाल प्रिंस क्रोपटिकन १)
६०. दैवी संपद् सेठ रामगोपल मोहता ।=)

६१.	जीवन सूत्र	,, थॉमस केम्पिस	।।।)
६२.	हमारा कलंक	महात्मा गांधी	।।=)
६३.	बुदबुद	,, हरिभाऊ उपाध्याय	।।)
६४.	संघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटिक	१।।)
६५.	गांधी विचार दोहन	,, किशोरलाल मशरूवाला	।।)
६६.	एशिया की क्रांति	[जब्त : अप्राप्य]	१।।।)
६७.	हमारे राष्ट्र-निर्माता	श्री रामनाथ सुमन	२।।) ३)
६८.	स्वतन्त्रा की ओर—	,, हरिभाऊ उपाध्याय	१।।)
६९.	आगे बढ़ो	,, स्वेट मार्डेन	।।)
७०.	बुद्धवाणी	,, वियोगी हरि	।।=)
७१.	कांग्रेस का इतिहास	,, डॉ० पट्टाभि सीतारामया	२।।)
७२.	हमारे राष्ट्रपति	,, सत्यदेव विद्यालङ्कार	१)
७३.	मेरी कहानी	,, पण्डित जवाहरलाल नेहरू	४)
७४.	विश्व-इतिहास की झलक	,, ,, ,,	८)
७५.	हमारे किसानों का सवाल		।)
७६.	सन्तवाणी	श्री वियोगी हरि	।।)

आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ —

१.	गांधीवाद : समाजवाद	संपादक श्री काका कालेलकर
२.	गीता-मंथन	लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला
३.	हत्या या शान्ति ?	श्रीमती म्यूरियल लेस्टर
४.	राजनीति की भूमिका	हेराल्ड लास्की